नेशनल बुक ट्रस्ट पुस्तक

पूर्व और पश्चिम की सन्त महिलाएँ

शारदादेवी-जन्म-शताब्दी स्मृतिग्रन्थ

प्राक्कथन : विजयलक्ष्मी पण्डित
प्रस्तावना : कैनथ वॉकर
अनुवादिका : शकुन्तला आर्य

सम्पादकीय सलाहकार :
स्वामी घनानन्द
जॉन स्टीवर्ट-वैलेस,
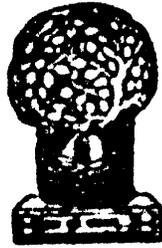
प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मन्त्रालय
भारत सरकार

आषाढ़ १८८४ (जून १९६२)

Published by arrangement with the
Ramakrishna Vedanta Centre, London

मूल्य : ३ रुपये २५ नये पैसे

WOMEN SAINTS OF EAST AND WEST

by

SWAMI GHANANANDA AND OTHERS

(Hindi)

निदेशक, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, दिल्ली-६
द्वारा प्रकाशित तथा भारत-सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद द्वारा मुद्रित

भाग १

हिन्दू धर्म की सन्त महिलाएं

प्रकाशकीय वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रन्थ श्री रामकृष्ण की धर्म-संगिनी और उनकी प्रथम शिष्या पवित्र जननी श्रीमती शारदादेवी की पवित्र स्मृति के सम्बन्ध में उनकी प्रथम जन्म-शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित किया जा रहा है। उनका जन्म २२ दिसम्बर, १८५३ में हुआ था और दिसम्बर १८५३ से दिसम्बर १९५४ तक उनकी जन्म-शताब्दी रामकृष्ण-मत के पूर्व और पश्चिम के समस्त केन्द्रों में मनायी गयी। लन्दन के रामकृष्ण-वेदान्त-केन्द्र ने एक शताब्दी-समिति का निर्माण किया, जिसने इस अवसर को मनाने के लिए १ जनवरी, १९५४ में एक जन-सभा और उसी वर्ष जून में अन्तःधर्मी महिला-सम्मेलन का आयोजन किया। इस ग्रन्थ का प्रकाशन इसी शताब्दी-समारोह का एक उपयुक्त उपसंहार है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में विभिन्न देशों और धर्मों की महान् सन्त और रहस्यवादी महिलाओं पर लिखे गये निबन्धों का संकलन है, जिन्हें हमारे विशेष निमन्त्रण पर उत्साही और श्रद्धालु लेखकों द्वारा लिखा गया है। अपने अनथक प्रयत्नों के उपरान्त भी हम सुदूरपूर्व के प्रमुख धर्मों की चीनी और जापानी सन्त महिलाओं पर निबन्ध प्राप्त करने में सफल नहीं हो सके। अपने उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए हमने लेखकों से अनुरोध किया था कि जिन सन्त महिलाओं पर वे लिख रहे हैं, वे उनके संघर्षों और जीवन की कठिनाइयों, आध्यात्मिक अनुशासन और उपलब्धियों के सम्बन्ध में यथासम्भव विवरण देने का प्रयत्न करें ताकि पाठक उनके आध्यात्मिक आदर्शों के प्रति अनुरक्त होकर उनकी आत्मा की अनन्यता की झलक पा सकें।

इस ग्रन्थ की प्रेरणा पवित्र जननी शारदादेवी का जीवन है, जिन्होंने रामकृष्ण की ही भाँति हमें सिखाया है कि सभी धर्म परमात्मा को पाने का ही मार्ग दिखलाते हैं। उनके जीवन, धर्म और उनकी शिक्षाओं के सम्बन्ध में एक लेख आपको इस पुस्तक के 'हिन्दू धर्म की सन्त महिलाएँ' वाले भाग के अन्तिम से पहले वाले अध्याय में मिलेगा।

इस ग्रन्थ में संकलित निबन्धों के लेखकों के प्रति हम आभारी हैं, जिन्होंने निःस्वार्थ भाव से अपना कार्य किया है। हम उन सबके प्रति भी अपना आभार प्रकट करते हैं जिन्होंने किसी भी रूप में इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अपना सहयोग दिया है। इस धर्म-कृति का सम्पादन करते हुए हम एक आध्यात्मिक आह्लाद का अनुभव कर रहे हैं।

हम श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित के हृदय से कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपने व्यस्त राजकीय जीवन और दायित्वों के बीच भी इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखने की कृपा की है। हम श्री कैनथ वॉकर के भी अत्यन्त कृतज्ञ हैं, जिन्होंने अल्प समय में ही शीघ्रातिशीघ्र अपनी प्रस्तावना तैयार करके भेजी है। साथ ही हम अपने सम्पादक-मण्डल के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिन्होंने निरन्तर अपनी सम्मति और सहयोग-द्वारा इस संग्रह के सम्पादन को सफल बनाया है।

रामकृष्ण-वेदान्त-केन्द्र,
लन्दन।
दिसम्बर १६५५

प्राक्कथन

दीपावली के दीपक जिस प्रकार भारतीय गगन-मण्डल को अन्धकार से मुक्त कर प्रकाश से जगमगा देते हैं, उसी प्रकार पूर्व और पश्चिम की सन्त महिलाओं की जीवनियाँ भी प्रायः भ्रमजाल और सन्देहों से भरे विश्व को आलोकित करती हैं। उनका सन्देश सृष्टि के आध्यात्मिक उत्तराधिकार के रूप में हमारी महान् सम्पदा बन चुका है जो हमें मानव-मात्र के बीच समता के अविच्छिन्न सूत्र परमात्मा में विश्वास और उसकी पूजा की उत्कण्ठा का स्मरण कराता है।

यह पूर्णतः उचित है कि पवित्र जननी की जन्म-शताब्दी को मनाने के लिए केवल महिला-सन्तों के उदाहरण ही चुने गये ह। प्रत्येक देश और इतिहास के प्रत्येक युग में स्त्री परिवार के विश्वासों की संरक्षिका रही है। आधुनिक युग हमें प्राचीन मूल्यों से कितनी ही दूर क्यों न ले आया हो, पर एक आदर्श अब भी जीवित है—वह आदर्श है एक ऐसी स्त्री का जो करोड़ों में से एक है और जो अपने ही सीमित क्षेत्र में अपने धार्मिक विश्वासों का उसी सरल, आडम्बर-रहित ढंग से नित्यप्रति पोषण करती है, जिस ढंग से वह अपने पति और सन्तान का लालन-पालन करती है। पुरुष और उसकी सन्तान के लिए धर्म प्रायः गृहस्थी की शान्त मार्ग-दर्शक नारी के रूप में ही प्रकट होता है।

पवित्र जननी स्वयं ऐसी ही स्त्री थीं और इसलिए उनके जीवन में एक सार्वभौमिक प्रभाव-शक्ति थी। एक ठेठ भारतीय गाँव की अत्यन्त निम्न परिस्थितियों में उनका जन्म हुआ। छोटी आयु में ही सन्त-प्रकृति रामकृष्ण से उनका विवाह हो गया और वे परमात्मा की खोज में लगे हुए अपने पति को उनके मार्ग में हर प्रकार का सहयोग देती हुई अपनी निःस्वार्थ सेवा-द्वारा एक आदर्श पत्नी बनीं। इस महान् अभियान में निमग्न रह कर भी वह घर-गृहस्थी के साधारण और छोटे-छोटे कार्यों को भी पूर्ण रुचि के साथ करती रहीं। पति की सहगामिनी बन कर उन्होंने भी आध्यात्मिक उन्नति के लिए संघर्ष किया और सिद्धि प्राप्त की। फिर भी भौतिक जीवन ने जब उनसे जो भी माँग की, उसकी उन्होंने उपेक्षा नहीं की। जिस प्रकार वे रामकृष्ण की हर सुख-सुविधा का ध्यान रखती हुई उनकी सेवा करती थीं, उसी प्रकार उन्होंने उनके शिष्यों की भी देखभाल की जो उनके साथ रहते थे। पति के भक्तों के साथ उनका व्यवहार ऐसा था मानो वे सब उनकी सन्तान

हों। उनका जीवन भारतीय नारी के जीवन का सार था और इसी की पूर्णता द्वारा उन्होंने आध्यात्मिक महानता उपलब्ध की।

शारदादेवी की भाँति विभिन्न देशों और युगों की ये सन्त महिलाएँ परब्रह्म की उपासना की साधना में नारी-प्रकृति के पूर्ण विकास का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस पुस्तक में नारी को उसकी अपार सामर्थ्य के साथ सेवा और भक्ति में जुटे रहने की सम्पूर्ण कोमलता के साथ उसके सौम्य गौरवमय रूप में दिखाया गया है। प्रस्तुत पुस्तक ईश्वरत्व की खोज की कथा कहती है, परन्तु विभिन्न सन्तों के अनुभवों का लेखा प्रस्तुत करते हुए यह पुस्तक मानव-प्रवृत्ति को उसके अत्युन्नत स्तर पर अपनी श्रद्धांजलि प्रस्तुत करती है। यह प्रवृत्ति ईश्वर की दी हुई भेंट नहीं है, अपितु इसकी उपलब्धि मानवीय प्रयत्नों-द्वारा उपासना और समाधि तथा आत्म-संयम और साधना के द्वारा हुई है। आत्म-साक्षात्कार ही इन सन्तों की सिद्धि है जो समस्त धर्मों का लक्ष्य है और इनके जीवन यह सिद्ध करते हैं कि आत्म-साक्षात्कार का मार्ग हमें आत्म-भाव से दूर ले जाता है। यद्यपि यह विचित्र-सा लगता है पर निज को, अपने संघर्षों और अपने दुःखों को दूसरों के संघर्षों और दुःखों में खोकर ही इस आत्म-साक्षात्कार की ओर बढ़ना आरम्भ कर सकते हैं और इसी मार्ग से हम ईश्वर के निकट पहुँच पाते हैं। इन स्त्रियों ने अपने उपदेश शब्दों में नहीं दिये। उनके सन्देश की आभा उनके अटूट विश्वास के पंखों पर उड़ती रहती है जो युग-युगों तक उनके अनुयायियों के लिए ज्ञान और स्वप्न की सृष्टि करती है।

पूर्ण सिद्धि तो बहुत कम व्यक्ति प्राप्त कर पाते हैं, पर सिद्धि के लिए उद्यम की शिक्षा तो वे सभी पा सकते हैं, जो उसके लिए प्रयत्नशील हों। यही सन्तों की शिक्षाओं का मूल्य है। कवि कबीर ने इसे इस प्रकार कहा है—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पाँय।
बलिहारी गुरु आपनी, जिन गोविन्द दियो मिलाय॥

जिन्होंने अपने जीवन-काल में भक्तों के पथ को आलोकित किया है वह शारदा देवी आत्मा की उन्नति चाहनेवाले सब लोगों की प्रेरणा बनी रहें; और उनकी स्मृति में समर्पित यह पुस्तक उनके और इन पृष्ठों में वर्णित समस्त महिलाओं के जीवन-सिद्धान्तों को एक बार फिर संसार के सम्मुख रखने के उद्देश्य को पूर्ण करे।

—विजयलक्ष्मी पंडित

प्रस्तावना

प्रस्तावना के आरम्भ में ही मैं अनुभव करता हूँ कि पूर्व और पश्चिम की सन्त महिलाओं से सम्बन्धित इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने के मैं कितना अयोग्य हूँ । मैं महिला नहीं हूँ और सन्त होने से भी उतना ही दूर हूँ जितना कि महिला होने से । मैं विद्वान् भी नहीं हूँ और अध्यात्म-ज्ञान से भी नितान्त अपरिचित हूँ । इन सब कमियों के होते हुए भी मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरे हृदय में भारत की प्राचीन संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा है । सम्भवतः इसी कारण मुझे इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखने का कार्य सौंपा गया है । मेरे मतानुसार भारतीय संस्कृति में मानवीय चिन्तन और भावना उच्चतम स्तर तक पहुँच चुकी है । धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भारत की प्राचीन उपलब्धियाँ इतनी गौरवपूर्ण रही हैं कि मेरा विश्वास है कि वर्तमान विश्व के चिन्तन के निर्माण और विश्व-शान्ति के विकास में उनका प्रमुख योगदान है । इस पुस्तक के पाठक मुझसे सहमत होंगे कि विश्व-शान्ति की स्थापना केवल एक राजनीतिक समस्या से बहुत अधिक बड़ी है । विभिन्न देशों के बीच कोई भी अनुरूपता केवल बाह्य संगठनों के माध्यम से चिरस्थायी नहीं हो सकती । विभिन्न राष्ट्रों के व्यक्तियों के मध्य पारस्परिक आदान-प्रदान और मनुष्य-समाज में बन्धुत्व की भावना तभी गहरी हो सकती है जब हम विश्व के समस्त महान् सन्तों-द्वारा घोषित सत्यों की विश्व-जनीनता के विचार को अधिक अच्छी तरह ग्रहण कर लें । जैसा कि रामकृष्ण के प्रमुख शिष्य विवेकानन्द बहुत पहले ही कह गये हैं—"प्रत्येक को एक-दूसरे की आत्मा में समा जाना चाहिए । फिर भी प्रत्येक का अपना एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व विद्यमान रहे और अपने विकास के सिद्धान्त के अनुरूप ही उसका विकास हो यह समस्त ब्रह्माण्ड अभेद और भेद का क्रीड़ा-स्थल है ।"

अतः मैं सन्त महिलाओं पर लिखी गई इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने के योग्य हूँ अथवा नहीं पर मैंने यह कार्य अपना कर्तव्य और सौभाग्य समझ कर स्वीकार किया है । कोई भी पाठक अभेद में भेद और भेद में अभेद की क्रीड़ा के अस्तित्व को समझे बिना पूर्व और पश्चिम की इन महान् सन्त महिलाओं के जीवन और उनकी शिक्षाओं के इस पुस्तक में दिये गये मूल्यों को ग्रहण नहीं कर सकता । पवित्र जननी श्री शारदादेवी ने, जिनकी स्मृति में यह पुस्तक समर्पित है, स्वयं

यद्यपि अपने शिष्यों के सम्मुख प्रत्यक्षतः वेदान्त के तत्त्व-ज्ञान का प्रत्याख्यान नहीं किया, तथापि वह ज्ञान उनकी समस्त शिक्षाओं की पृष्ठभूमि में विद्यमान है। एक व्यावहारिक स्त्री होने के नाते –– इस रूप में कि प्रत्येक स्त्री व्यावहारिक ही होती है — उन्होंने स्वयं अपने जीवन में ही मनुष्य-मात्र में समता और समस्त धर्मों में एकता की अवतारणा की है। रोग-ग्रस्त होकर जब वे मृत्यु के समीप पहुँच चुकी थीं, उस समय उनकी एक शिष्या उन्हें देखने आयी। उन्होंने मन्द स्वर में उसका मार्ग-दर्शन करते हुए उसे वह उपदेश दिया जिसकी उसे आवश्यकता थी। उन्होंने कहा—"अगर तुम मन की शान्ति चाहती हो, तो दूसरों क दोष मत खोजो। स्वयं अपने दोष देखने का अभ्यास डालो। समस्त संसार को अपना बनाना सीखो। कोई भी पराया नहीं है, मेरी बच्ची! यह समस्त संसार ही तुम्हारा अपना है।" इन थोड़े मे शब्दों में उन्होंने अपनी शिष्या को अनावश्यक अहंकार के विरुद्ध, जो हमें एक-दूसरे से विलग करता है, सावधान करते हुए मनुष्य-मात्र की समता की शिक्षा दी, वह समता जिसमें 'मेरा', 'तुम्हारा' जैसे शब्दो और परायेपन के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

रामकृष्ण ने बड़ ही स्पष्ट शब्दों में हमें बताया है कि सभी धर्मों मे सन्तत्व को प्राप्त करने के साधन समान ही है। सन्त होने का अर्थ है एक उच्चतर अवस्था और भिन्न चेतना की ओर एक दीर्घ संघर्ष और इस मार्ग की विभिन्न सीढ़ियों का विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन हमें संसार के धार्मिक साहित्य में मिलता रहे। यह सत्य है कि कुछ धार्मिक पुस्तकें सन्त-शास्त्र, धार्मिक मतवादों और तत्त्व-ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्तों से इतनी बोझिल होती हैं कि उनमें से तत्त्व की प्राप्ति एक अत्यन्त कठिन कार्य हो जाता है, तथापि तत्त्व उनमें होता ही है।

वेदान्त-दर्शन, जो सब धर्मों का सार कहा जा सकता है, मूल रूप में तीन बातों पर आधारित है। पहली, मनुष्य की वास्तविक प्रकृति ब्रह्म है। दूसरी, मनुष्य का परम लक्ष्य अपने भीतर की ज्योति को ही जगाना है। और तीसरी, महान्, मौलिक तथा धार्मिक सत्य सर्वत्र समान होते है, यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में होती है। इन तीन कार्यरूप सिद्धान्त-वाक्यों को आधार बना कर साधक तत्त्व-ज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्तों, स्वीकृत मत-मतान्तरों और वाद-विवाद के बन्धनों से मुक्त होकर सत्य और आत्म-साक्षात्कार की साधना में अपने आध्यात्मिक पथ पर चल पड़ता है। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है कि पश्चिम के बहुत से युवक धार्मिक झगड़ों, तत्त्व-ज्ञान के अहंकारी दावेदारों और धार्मिक उपदेशकों से ऊब कर भारत क प्राचीन ज्ञान की ओर झुक रहे हैं और वेदान्त के सरल किन्तु गम्भीर

ज्ञान से वह तत्त्व पाते हैं जिसकी उन्हें आवश्यकता है । इस अभियान में वे इस बात से और भी उत्तेजना एवं सन्तोष प्राप्त करते हैं कि जैसा उन्हें अपेक्षित था विज्ञान और धर्म के बीच एक बहुत बड़ी खाई है, उसके विपरीत उन्हें भौतिक विज्ञान की कुछ अत्याधुनिक खोजों के विचार वेदों में सहस्रों वर्ष पूर्व कहे गये मिलते हैं।

पूर्व और पश्चिम, दोनों एक-दूसरे को बहुत-कुछ दे सकते हैं। एक नया और अच्छा संसार बनाने के लिए हम इस योगदान को जितना निकट ला सकें, उतना ही हमारे लिए अच्छा होगा । वर्षों पूर्व विवेकानन्द ने इस स्थिति का इतना सही चित्रण किया था कि मैं फिर उन्हें उद्धृत करने के प्रलोभन से वंचित नहीं रह सकता। वे लिखते हैं—"यह बात नहीं कि हम भारतवासियों को पश्चिम से ही सब कुछ सीखना है, न पश्चिम को ही हमसे सब कुछ सीखना है; अपितु दोनों को ही अपना सब कुछ भावी सन्तानों को उस आदर्श संसार की रचना के लिए सौंप देना होगा जो युगों से हमारा स्वप्न है।" पूर्व और पश्चिम, दोनों को इस संसार के निर्माण के कार्य में अपना-अपना योगदान देना है और यही कारण है कि मैं इसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझता हूँ कि हम एक-दूसरे को अधिक से अधिक अच्छी तरह समझ सकें और यह उचित ही होगा कि पूर्व और पश्चिम के सन्तों पर यह छोटी-सी पुस्तक पाठकों के हाथ में पहुँचे ।

—कैनथ वॉकर

विषय-सूची

पृष्ठ

भाग—१

हिन्दू धर्म की सन्त महिलाएँ

भाग—४

यहूदी तथा सूफ़ी धर्म की सन्त महिलाएं

परिच्छेद १

हिन्दू स्त्रियों की आध्यात्मिक परम्परा

परिचयात्मक

१

फ्रांसीसी लेखक लुई जाकोलियो के कथनानुसार वैदिक काल के भारत में स्त्रियों का इतना आदर था कि वे एक तरह से पूज्य समझी जाती थीं। जाकोलियो ने विस्मय प्रकट करते हुए लिखा है, "यह एक सभ्यता है जो निश्चय ही हमारी सभ्यता से कहीं पुरानी है, और देखिए इसमें स्त्री को पुरुष के समकक्ष रखा गया है तथा परिवार और समाज में स्त्री और पुरुष को बराबरी का दर्जा दिया गया है।"

स्मृतिकार मनु ने, "जिनके शास्त्र का, जस्टिनियन संहिता और प्रथम बाइबिल में प्रतिपादित मूसा–नियमावली से वही सम्बन्ध है जो पिता का पुत्र से होता है", वेद की शिक्षाओं को स्वीकार किया और स्त्री-पुरुष के लिए समान अधिकारों का विधान किया। मनुस्मृति में कहा गया है, "इस मायावी जगत् के सृजन से पहले संसार के स्वामी आदिदेवता ने अपने को दो हिस्सों में बाँट लिया। एक हिस्सा पुरुष और दूसरा हिस्सा स्त्री कहलाया।" आज भी हिन्दू अपनी त्रिमूर्ति के एक देवता का अर्धनारीश्वर के रूप में पूजन करते हैं। यह और इसी तरह की अन्य कई बातों के कारण हिन्दू जन-मानस में स्त्री-पुरुष की मौलिक समानता का भाव बराबर बना रहा है। वस्तुतः इसी भावना के आधार पर हिन्दू धर्म और नीति तथा आचार-संहिता का वह विशाल भवन स्थापित किया गया जो समय के बहा ले जानेवाले प्रवाह के सामने ज्यों का त्यों खड़ा रह सका है। हिन्दुओं के धार्मिक, नैतिक और सदाचार-सम्बन्धी प्रतिमानों के अनुसार स्त्री-पुरुष को बराबर समझना और इसमें किसी भी तरह का पक्षपात न करना नितान्त आवश्यक है। ऋग्वेद में स्पष्ट और निश्चित रूप से कहा गया है कि "पति-पत्नी एक ही काया के दो बराबर-बराबर अंग हैं, और हर दृष्टि से उनमें पूर्ण समानता है, इसलिए, धार्मिक और लौकिक सभी कृत्यों में उन्हें समान रूप से हिस्सा लेना चाहिए।"[1]

[1] ऋग्वेद ५–६१–८। साथ ही देखें बृहदारण्यक उपनिषद् १–४–३

वैदिक काल में स्त्री-पुरुषों और बालक-बालिकाओं को शिक्षा और लोक-व्यवहार के क्षेत्र में समान अवसर प्रदान किये जाते थे। लड़कों की तरह लड़कियों का भी उपनयन होता था और उन्हें गायत्री तथा ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी जाती थी। संसार के और किसी धर्मग्रन्थ में स्त्रियों के लिए इतने अधिक और पुरुष के समकक्ष अधिकारों का विधान नहीं हैं, जितना कि हिन्दुओं के वेदों में।

२

उत्तर-वैदिक काल में भी स्त्रियों में शिक्षा का प्रचलन था। स्त्रियों के लिए दो प्रकार की शिक्षा-पद्धति की व्यवस्था थी और इनके अनुसार शिक्षित स्त्रियों के दो वर्ग हुआ करते थे : सद्योद्वाहा—जो विवाह होने पर अपना शिक्षा-क्रम समाप्त कर देती थीं, और ब्रह्मवादिनी—जो विवाह नहीं करती थीं और आजीवन शिक्षा लेती रहती थीं। ब्रह्मयज्ञ के युग में वैदिक गुरुओं का श्रद्धापूर्ण स्मरण किया जाता था। उनकी सूची में तीन आचार्यों के नाम भी शामिल थे—गार्गी वाचक्नवी, वडवा प्रातिथेयी और सुलभा मैत्रेयी[1]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उस युग में वेदाध्ययन और अन्य उच्चतर शिक्षा-क्रम पुरुषों की तरह स्त्रियों के लिए भी सुलभ थे। कई स्त्रियों ने वेदाध्ययन, शिक्षण, दर्शन तथा मीमांसा और शास्त्रार्थ के क्षेत्र में नाम कमाया। यही नहीं, वैदिक काल में यज्ञ सामान्यतः स्त्री-पुरुष मिल कर किया करते थे।

पूर्व-वैदिक काल में बच्चों के शिक्षण का दायित्व आम तौर पर पिता पर होता था। ब्राह्मण-उपनिषदों के काल में लड़कियों की शिक्षा-दीक्षा सामान्य रूप से घरों में पिता, भाइयों और अन्य पुरुष सम्बन्धियों द्वारा सम्पन्न होती थी। लेकिन कुछ लड़कियां परिवार के बाहर के लोगों को भी गुरु बनाती थीं और कुछ विद्यार्जन के लिए घर से बाहर 'छात्रीशालाओं' में भी रहती थीं। इस युग में भी स्त्रियाँ विद्वानों की गोष्ठियों में जाकर शास्त्रार्थ करने की पूर्वकालीन परम्परा को आगे बढ़ाती रहीं।

एसी भी स्त्रियाँ थीं जिन्होंने रामकृष्ण के मीमांसावाद में विशेष योग्यता प्राप्त की और दर्शनशास्त्र के अध्ययन को लोकप्रिय बनाने में योग दिया। इस प्रसँग में सुलभा, गार्गी और वडवा के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ स्त्रियों ने सुखी दाम्पत्य जीवन और विवाह की सम्भावना को तिलाँजलि देकर कष्टसाध्य तपस्विनी-

---

[1] आश्वलायन गृह्य-सूत्र ३—४—४

जीवन अपनाया । बौद्ध धर्म के आविर्भाव से पहले भी भारतीय समाज में भिक्षुणियाँ और संन्यासिनियाँ हुआ करती थीं, यद्यपि उतनी बड़ी संख्या में नहीं । संन्यास की भावना के प्रति लोगों की श्रद्धा धीरे-धीरे बढ़ती गयी और ऐसी मान्यता हो चली कि सामान्य गार्हस्थ्य जीवन और आध्यात्मिक चिन्तन परस्पर-विरोधी होने के कारण एक साथ नहीं निभाये जा सकते ।

प्राचीन भारत में समानता के आदर्श वातावरण में स्त्रियों के लिए ज्ञानार्जन और आध्यात्मिक उत्थान सम्भव हुआ । दृष्टव्य है, कि हिन्दू समाज में संन्यास का मार्ग अपनाकर सिद्धि प्राप्त करनेवालों में स्त्रियों और पुरुषों का अनुपात लगभग बराबर रहा है । हिन्दुओं के दाम्पत्य जीवन के आदर्शवादी प्रतिमानों के कारण ही ऐसा सम्भव हुआ । देश की आध्यात्मिक परम्परा के मानदण्ड जन-मानस में इतने गहरे पैठ चुके हैं कि हमारे यहां दाम्पत्य और गार्हस्थ्य जीवन को कभी आत्म-तुष्टि अथवा भोग का साधन नहीं माना गया, अपितु उसे आध्यात्मिक अभ्युदय का ही एक सोपान समझा गया है । विवाह की शृंगारिक और औपन्यासिक व्याख्या हिन्दू धर्म को कभी मान्य नहीं हुई । पति-पत्नी अध्यात्म-पथ के सहयात्री समझे गये हैं और उन्हें मोक्ष-प्राप्ति के लिए एक दूसरे का अनुपूरक माना गया है । विधान है कि दाम्पत्य जीवन भोग-विलास के नहीं, संयम और अनुशासन के वातावरण में सम्पन्न हो ।

परिवारों और ग्राम-समुदायों मे पले हुए सभी व्यक्तियों को ब्रह्म-निष्ठा के सँस्कार मिले क्योंकि उन्होंने बचपन से यह देखा कि हिन्दू-समाज में छोटे-बड़े सभी कृत्यों को आध्यात्मिक दिशा देने का आग्रह है । अतः आश्चर्य नहीं कि इस विशाल और प्राचीन देश में असंख्य ऐसे स्त्री-पुरुष हुए जो आध्यात्मिक विकास के अन्तिम सोपान—वानप्रस्थ आश्रम—तक पहुंच सके और सिद्धि को प्राप्त हुए हैं ।

ऋग्वेद में ऐसी अनेक स्त्रियों का उल्लेख है जिन्होंने चिरन्तन सत्य प्राप्त किया है । इन्हें सत्यसिद्धा, अध्यात्मान्वेषिणी, अनागतदर्शिनी, ब्रह्मवादिनी जैसे विशेषणों से विभूषित किया गया है । अकेले ऋगवेद में ही अनेक ऐसे प्रेरणा-दायी सूक्त हैं जिनकी रचयिता स्त्रियाँ बतायी जाती हैं । कुल मिलाकर इस वेद में सत्ताइस ब्रह्मवादिनियों का उल्लेख हुआ है । ऋग्वेद के प्रथम सर्ग के एक सौ छब्बीसवें सूक्त की रचयिता रोमशा और एक सौ उन्यासीवें सूक्त की रच-यिता लोपामुद्रा बतायी गयी हैं । इन विदुषियों के अध्यात्मान्वेषण की गहराई वास्तव में विलक्षण थी । वॉच नामक ब्रह्मवादिनी ने, जो अम्भृण ऋषि की सुपत्री थी, अपने को परम ब्रह्म से एकसात् कर लिया और इस आध्यात्मिक

अनुभव के आनन्दातिरेक में कह उठी—"मैं परम सम्राज्ञी हूँ—जो भी भोजन करता है मेरे माध्यम से करता है, जो भी देखता है, श्वास लेता है, सुनता है, सब मेरे माध्यम से करता है। मैं ही चराचर का सृजन करनेवाली हूँ, वायु की भांति समस्त जगत में प्रवाहित होती हूं। इस पृथ्वी और उस स्वर्ग से भी परे हूं मैं, ऐसी विशाल है मेरी महानता।"[1]

वैदिक ज्ञान और दर्शन का उद्घाटन तथा निरूपण करनेवाली और भी कई स्त्रियां हुई हैं। उदाहरणार्थ विश्ववारा, शाश्वती, अपाला, घोषा और अदिति। इन सबने संन्यास के उच्चतम आदर्श को अपनाया और साँसारिक ऐश्वर्य का सर्वथा त्याग किया। इन्होंने श्रद्धापूर्वक सब धार्मिक कृत्य पूरे किये, सूक्तों की रचना और उनका पठन-पाठन किया, जीवन और मृत्यु, आत्मा और परमात्मा की सूक्ष्म जटिल समस्याओं के बारे में विद्वानों से शास्त्रार्थ किया और कई अवसरों पर अपने समय के श्रेष्ठतम दार्शनिकों को वाद-विवाद में परास्त कर दिखाया।

पूर्व-वैदिक काल में भी हिन्दू स्त्रियों की आध्यात्मिक परम्परा काफी समृद्ध और सुदृढ़ हो चली थी। इसका एक उदाहरण हमें ब्रह्मवादिनी गार्गी के जीवन से मिलता है जो एक विदुषी महिला थी और जिसने महर्षि याज्ञवल्क्य को, आमन्त्रित जनता के सामने दर्शन के गूढ़ तत्त्वों के बारे में शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी थी।[2]

परम शान्ति और मोक्ष प्राप्त करने की शाश्वत समस्या पर अविवाहित ही नही विवाहित स्त्रियां भी चिन्तन-मनन किया करती थी। इसका दृष्टान्त याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी के उस समय के संवाद[3] से मिलता है जब याज्ञवल्क्य अपनी सम्पत्ति में से मैत्रेयी का हिस्सा निश्चित करके संन्यास ग्रहण करने जा रहे थे। मैत्रेयी ने उनसे कहा—"स्वामी! अगर धन-धान्य से परिपूर्ण यह सारा संसार भी मेरा होता तो क्या मैं अमर हो जाती?" याज्ञवल्क्य बोले— "नहीं, तुम्हारा जीवन वैसा ही होता जैसा कि धनी लोगों का होता है। अमरता की तो धन के माध्यम से कोई सम्भावना ही नहीं है।" मैत्रेयी ने कहा—"तो फिर मैं उसे लेकर क्या करूँ जो मुझे अमरता प्रदान नहीं कर सकता! स्वामी, मुझे तो वह मार्ग सुझाइये जिससे मैं अमरता को प्राप्त कर सकूं।" याज्ञवल्क्य बोले—"तुम मुझे पहले भी वास्तव में प्रिय रही हो। तुममें जो कुछ मुझे प्रिय रहा है वह इस

---

(1) ऋग्वेद १०–१२५

(2) बृहदारण्यक उपनिषद् ३–६

(3) बृहदारण्यक उपनिषद् २–४–३

संवाद से बढ़ गया है । प्रिये, यदि तुम वास्तव मे मोक्ष के साधन जानना चाहती हो तो सुनो मैं उनकी विवेचना करता हूँ। तुम विवेचना के अर्थ पर मनन करती जाओ । मैत्रेयी, पति प्रिय होता है तो वास्तव में वह प्रेम पति के लिए नहीं स्वयं के लिए होता है । मैत्रेयी ! पत्नी प्रिय होती है तो वास्तव में वह प्रेम पत्नी के लिए नहीं स्वयं के लिए होता है; मैत्रेयी, पुत्र प्रिय होता है तो वास्तव में वह प्रेम पुत्र के लिए नहीं स्वयं के लिए होता है; मैत्रेयी, धन-सम्पदा प्रिय होती है तो वास्तव में वह प्रेम धन-सम्पदा के लिए नहीं स्वयं के लिए होता है । यह सब प्रेम, ममता के ही रूप है · इसलिए हमें आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए—पहले गुरुजनों और धर्म-ग्रन्थों से उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके, फिर उसके विषय में चिन्तन-मनन करके और अन्त में समाधिस्थ होकर उसका ध्यान करके। जब औरों से सुनकर तथा स्वयं चिन्तन-मनन और ध्यान करके हम आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं तो हमें आत्मेतर का भी ज्ञान हो जाता है क्योंकि सभी कुछ हम में है, हमसे अलग या बाहर कुछ भी नहीं है ।"

जब दार्शनिक विचार-विमर्श हुआ करते थे तो बहुधा स्त्रियों को मध्यस्थ बनाया जाता था और वे अपने पाण्डित्य और निष्पक्ष निर्णय से सम्मान प्राप्त करती थीं । उत्तर-वैदिक काल में भी जब श्री शँकराचार्य ने विख्यात कर्मकाण्डी मण्डन मिश्र से वेदान्त-दर्शन के बारे में शास्त्रार्थ किया तो निर्णायक का पद मण्डन मिश्र की पत्नी भारती को दिया गया जो वेदविद्या में पारंगत थी । सात दिन तक शास्त्रार्थ होता रहा और भारती ने मण्डन मिश्र की पत्नी होते हुए भी निष्पक्ष भाव से निर्णय करते हुए शंकराचार्य को विजयी घोषित किया । शंकराचार्य भारती की विद्वत्ता से अत्यन्त प्रभावित हुए और इस महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ के बाद उन्होंने अपने आश्रमिक नाम के आगे 'भारती' का नाम जोड़ कर मण्डन मिश्र की पत्नी के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की।

उत्तर-वैदिक काल में शिक्षित स्त्रियों की संख्या काफी बड़ी थी । इसका एक प्रमाण यह भी है कि ऐसी स्त्रियों का, आचार्यों और गुरुओं की पत्नियों से विभेद करने के लिए उन्हें अलग-अलग संज्ञाएँ दी गयी थीं । गुरुपत्नियाँ उपाध्यायानी, आचार्यानी आदि कहलाती थीं और विदुषी स्त्री को उपाध्याया, उपाध्यायी, आचार्या, पण्डिता आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया जाता था ।

३

पुराणों और रामायण-महाभारत के काल में भी हम यह देखते हैं कि कई

स्त्रियों ने अध्यात्मवाद के क्षेत्र में महान् प्रगति की और वे योगिनियाँ बनीं। रामायण में सुमणी और शबरी नामक दो तपस्विनियों का उल्लेख है। शबरी महर्षि मातंग की शिष्या थी और उसने अपना अद्भुत आध्यात्मिक विकास किया था। शबरी ने घोर तपस्या की। वह वल्कल वस्त्र पहनती थी और जटाजूट धारण किए रहती थी। महाभारत में योगिनी सुलभा का उल्लेख है जो भिक्षुणी बनकर पर्यटन करती रही। सुलभा, महाराज जनक के दरबार में गयी और वहाँ उसने योग-साधना से प्राप्त अपनी विलक्षण शक्ति और विस्मय-जनक ज्ञान का परिचय दिया। तपस्विनी शिवा ने भी वेदों के अध्ययन में अद्भुत प्रगति की और परम ज्ञान प्राप्त किया। शाण्डिल्य की सुपुत्री ने भी ब्रह्मचर्य को आजीवन अपनाया और आध्यात्मिक मुक्ति पायी। विवाहित स्त्रियों-द्वारा संन्यास ग्रहण किये जाने के भी कतिपय उदाहरण मिलते हैं, यथा प्रभास की धर्मपत्नी ब्रह्मवादिनी बनी, उन्होंने परिभ्रमक भिक्षुणी का जीवन अपनाया और योग-साधना की।

आज भी भारत में सिद्धि-प्राप्त कई योगिनियाँ हैं। इनमें से अनेक आचार्या बनी हैं और इन्होंने आध्यात्मिक मार्ग में स्त्री-पुरुषों का दिग्दर्शन किया है। श्री रामकृष्ण के गुरुओं में भी एक ऐसी योगिनी थी। रामकृष्ण की अनेक शिष्याएँ भी थीं जिन्होंने भिक्षुणियों का जीवन अपनाया और निरन्तर दूसरों की अध्यात्म-साधना का निर्देशन किया।

जैन और बौद्ध मत के अन्तर्गत कई प्रसिद्ध भिक्षुणियाँ और तपस्विनियाँ हुयी हैं जिनकी चर्चा इस पुस्तक के अन्य खण्ड में एक पूरे परिच्छेद में की जाएगी।

स्मृति पुराण-युग (५०० ई० पू० से ६०० ईस्वी तक) एक प्रकार से ह्रास और वर्जन का युग है। इसमें स्त्रियों के लिए शिक्षा-दीक्षा लेने की सुविधाओं का सर्वथा अभाव था। अल्पायु में स्त्रियों का विवाह कर देने की प्रथा चल पड़ी थी और यह विधान कर दिया गया था कि कोई भी स्त्री अविवाहित नहीं रह सकती। स्त्रियों के लिए पूर्ण मानसिक और आध्यात्मिक विकास के अवसर उपलब्ध नहीं थे। इस युग के प्रारम्भिक चरण में ही लड़कियों का उपनयन-सँस्कार कराने का महत्त्व प्रायः समाप्त हो गया था और यह सँस्कार केवल नाममात्र का किया जाता था। उपनयन के बाद लड़कियों को वेदाध्ययन नहीं कराया जाता था। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कह डाला है कि लड़कियों का उपनयन-सँस्कार उनसे वेदमन्त्रोच्चार कराये बिना ही सम्पन्न किया जाये। समाज के अग्रणी विधायकों ने अनन्तर यह अनुभव किया कि जब लड़कियों के उपनयन का केवल

आचारानुगत महत्त्व शेष रह गया है तो क्यों न इस सँस्कार को पूर्णतया समाप्त ही कर दिया जाये, यथा याज्ञवल्क्य ने लड़कियों के लिए उपनयन का निषेध किया है और बाद के स्मृतिकारों का भी यही विधान है ।

होने को तो स्मृति पुराण के युग में भी कुछ हिन्दू तपस्विनियाँ हुईं, लेकिन धार्मिक आचार्याधिपत्य में उन्हें कोई सम्मानित पद नहीं दिया गया। वानप्रस्थी व्यक्ति संन्यास लेते समय अपनी पत्नी को साथ लेकर जा सकता था और पति-पत्नी मिल कर तपश्चर्या कर सकते थे । लेकिन इसके उदाहरण बहुत ही कम मिलते हैं । कालान्तर में यह विधान भी समाप्त कर दिया गया और आचार्यों ने कह दिया कि लौह युग में स्त्रियों के लिए वानप्रस्थ और संन्यास असम्भव तथा निषिद्ध हैं । बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों के विहारों में भ्रष्टाचार के पनपने पर तो यह विधान और भी अनुल्लंघ्य समझा जाने लगा।

४

सन् ६०० ईस्वी से लेकर १८०० ईस्वी तक के काल मे महाकाव्यों और पुराणों में प्रतिपादित धार्मिक मान्यताओं का बोलबाला रहा । वेदों, पुराणों और स्मृतियों में प्रयुक्त संस्कृत भाषा का प्रचलन धीरे-धीरे कम होता गया और ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते-होते ये सब ग्रन्थ जनसाधारण के लिए सुगम-सुबोध नहीं रहे। वैदिक काल में स्त्रियों को जो सुविधाएँ और विशेषाधिकार प्राप्त थे वे सव समाप्त हो गये । यह वही युग है जिसमें भक्ति मार्ग का प्रादुर्भाव हुआ । स्त्रियों ने बहुत उत्साह और निष्ठा से साधना का यह नया मार्ग अपनाया । इस युग की लगभग सभी सन्त हिन्दू महिलाएँ किसी न किसी भक्ति-सम्प्रदाय की सदस्या रहीं । सभी प्रान्तों में भक्ति-सम्प्रदायों का विकास हुआ और सभी प्रान्तों में अनेक महिलाएँ सन्त बनकर प्रसिद्ध हुईं । व्रत, पूजा, भजन कीर्तन, धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन और अन्य आध्यात्मिक कृत्य इन महिलाओं के नित्य नियम बने। इस युग की कई प्रमुख महिला सन्तों की प्रस्तुत पुस्तक में चर्चा की गयी है ।

शायद कुछ लोगों को इस बात से आश्चर्य हो कि भारत-जैसे विशाल देश में जहाँ इतनी बड़ी संख्या में सन्त महिलाएँ और तपस्विनियाँ हुई हैं वहाँ भिक्षुणियों की कोई भी सँस्था नहीं बनी। ऐसी सँस्था न बन पाने के अनेक कारण थे। पहला तो यह कि हमारा देश तब राष्ट्रीय ह्रास और सामाजिक उथल-पुथल के दौर से गुज़र रहा था जो फूट और मुस्लिम राज से उद्‌भूत असुविधाओं के

प्रभाव स शुरू हुआ । दूसरा कारण यह था कि हिन्दू धर्म में ऐसा कोई प्रकृष्ट और प्रभावशाली व्यक्ति नहीं हुआ जो जनसाधारण और मनीषी, सब पर समान रूप से छा जाता। श्री शंकराचार्य का व्यक्तित्व अवश्य प्रभावशाली था पर उनकी विद्वत्ता और आध्यात्मिक उत्कर्ष का प्रभाव बुद्धिजीवी और अध्यात्म-प्रवृत्त लोगों तक ही सीमित रहा । तीसरा कारण यह था कि इस युग की सभी सन्त महिलाएँ शैव, शाक्त अथवा वैष्णव, जिसमें राम और कृष्ण, गणेश और सूर्य-भक्ति के सम्प्रदाय भी शामिल हैं, मार्गों में से किसी न किसी को अपना चुकी थीं। इस प्रकार उनका विभाजन हो गया था और एकीकरण करके तपस्विनियों की कोई सँस्था बनाना असम्भव हो चला था । चौथा कारण यह था कि परिवार और समाज में स्त्रियो का स्थान कुछ ऐसा था कि उन्हें आर्थिक दृष्टि से पूरी तरह पुरुषों पर निर्भर रहना पड़ता था । स्त्रियों को व्यापारों में सम्मिलित होने की वह स्वाधीनता प्राप्त नहीं थी जो मानसिक या आध्यात्मिक, सभी तरह के विकास के लिए परम आवश्यक है । पाँचवाँ कारण यह था कि विभिन्न प्रान्तों की तपस्विनियों को न तो एक-दूसरे से मिलने के अवसर प्राप्त थे और न ही कोई ऐसी समान भाषा थी जिसके माध्यम से उनमें बौद्धिक सँसर्ग और आदान-प्रदान हो पाता। इस प्रकार मुख्यतः इन कुछ कारणों से ही बौद्ध भिक्षुणियों की सँस्था का लोप हो जाने के बाद भारत में हिन्दू भिक्षुणियों का ऐसा कोई प्रतिष्ठान नहीं बन पाया जो अपने समय के धार्मिक आचार्यों से मान्यता पा सकता। उस युग में वैयक्तिक आध्यात्मोत्कर्ष पर ही विशेष बल दिया गया और विधिवत् कोई सँस्था बनाना व्यर्थ समझा गया।

५

आधुनिक भारत में महान् राष्ट्रीय पुनरुत्थान हुआ है । नव जागृति के इस चरण का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम अर्धार्द्ध में माना जा सकता है । आधुनिक जीवन-दर्शन के प्रसार और आधुनिक शिक्षा के प्रचलन से सोयी हुई शिथिल हिन्दू सँस्कृति और धार्मिक परम्परा को स्फूर्ति प्राप्त हुई। सामाजिक नवजागरण से स्त्री-पुरुष दोनों समान रूप से लाभान्वित हुए । हिन्दू स्त्रियों की आध्यात्मिक परम्परा ने, जिसका अस्तित्व राख में दबी हुई चिनगारी के समान हो चुका था, फिर ज़ोर पकड़ा और कुछ ही पीढ़ियों बाद वह चिनगारी एक ज्वाला बन गई । इसकी प्रेरणा नवप्रादुर्भूत हिन्दू धर्म से मिली । नयी चेतना के प्रवर्तकों ने सँस्कृत-शिक्षा और प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान का फिर से प्रचार करने का यत्न किया । इस सबसे स्त्रियों को समाज में फिर ऊँचा सम्मान

प्राप्त कर सकने में सहायता मिली । शीघ्र ही स्त्रियों ने किसी सीमा तक सामाजिक स्वाधीनता प्राप्त कर ली । शिक्षा और नागरिक तथा सामाजिक व्यापारों में उन्हें पुरुषों के समान अवसर मिलने लगे ।

हिन्दू धर्म के नवोत्थान के प्रभाव से जो धार्मिक आन्दोलन शुरू हुए, वे सब स्त्रियों के पुनरुद्धार में सहायक सिद्ध हुए । स्वामी विवेकानन्द और उनके सह-मठवासियों के प्रबुद्ध और प्रेरणादायी निर्देशन में रामकृष्ण-मिशन ने भी इस क्षेत्र में काफी योग दिया । महात्मा गांधी के राष्ट्रव्यापी आन्दोलन का भी विशेष प्रभाव पड़ा । अब भारत में स्त्रियों को पहले से अधिक सामाजिक अधिकार प्राप्त हैं, और उनके लिए मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास की कहीं अधिक सुविधा है । स्त्रियों ने इस क्षेत्र में महान् प्रगति कर ली है, विशेष रूप से बंगाल, महाराष्ट्र, केरल, तमिलनाड आदि प्रदेशों में ।

महर्षि रामकृष्ण, शारदा देवी, स्वामी विवेकानन्द और रामकृष्ण-आन्दोलन की अन्य विभूतियों के जीवन और शिक्षाओं के प्रभाव से जहाँ पुरुष आदर्श जीवन और संन्यास की ओर प्रवृत्त हुए, वहाँ स्त्रियों ने भी त्याग और अध्यात्म का मार्ग अपनाया । महिला वर्ग पर रामकृष्ण-आन्दोलन का यह शुभ प्रभाव दूर-दूर तक व्याप्त हुआ, यहाँ तक कि पाश्चात्य देशों की भी कुछ स्त्रियों ने तपस्विनियों का जीवन अपनाया और भारत में स्त्रियों के उद्धार के लिए काम किया । इस प्रसंग में सिस्टर निवेदिता, सुश्री मार्गरेट नोबुल और सिस्टर क्रिस्टीन के नाम उल्लेखनीय हैं । रामकृष्ण-मिशन ने साँसारिक लिप्सा का त्याग करके मानवता की सेवा में सँलग्न हो जाने का जो आह्वान किया है, वह देश के कोने-कोने तक पहुँचा है और विभिन्न प्रदेशों की सैकड़ों स्त्रियों ने रामकृष्ण-आन्दोलन में सम्मिलित होकर सर्व-सेवा और आत्म-चिन्तन का व्रत ले लिया । हम यह आशा कर सकते हैं कि रामकृष्ण-मिशन की अधिक निष्ठावान और कर्मठ सदस्याएँ अपनी वैसी ही कोई भिक्षुणी-सँस्था बना लेंगी, जैसी लगभग ढाई हज़ार वर्ष पहले भगवान बुद्ध की अनुमति और प्रेरणा से बनी थी । माता श्री शारदा देवी और उनकी सहयोगिनियाँ, जो सब की सब श्री रामकृष्ण की शिष्याएँ हैं, अनौपचारिक रूप से और बिना किसी संगठन की सहायता से इस दिशा में कुछ प्रारम्भिक पग बढ़ा चुकी हैं । इन मनस्विनियों के जीवन और चिन्तन से पिछली दो पीढ़ियों की स्त्रियों को प्रभावकारी आध्यात्मिक प्रेरणा मिली है । हमारी यही कामना है कि आगे आनेवाली पीढ़ियों की स्त्रियों को भी यह प्रेरणा मिलती रहे और वे अपने जीवन को सुखमय और सम्पन्न बना सकें ।

परिच्छेद २

अव्वैयार

अव्वैयार की गणना प्राचीन भारत के प्रमुख साहित्यिकों में होती है। वह सदियों पूर्व की उन सन्त महिलाओं में से हैं जिनको आज भी श्रद्धापूर्वक स्मरण किया जाता है।

कई लोग यह नहीं जानते कि तमिल बहुत ही प्राचीन, बल्कि शायद संसार की प्राचीनतम भाषा है। इस भाषा का इतिहास चार हज़ार वर्ष से भी अधिक पुराना है। तमिल भाषा का कुछ ऐसा प्राचीन साहित्य भी उपलब्ध है जिसका रचना-काल ईसा से हज़ार-पांच सौ वर्ष-पूर्व माना गया है। गहन गम्भीरता, विविधता और रोचकता की दृष्टि से तमिल के इस प्राचीन साहित्य की किसी भी देश के अधिक से अधिक विकसित आधुनिक साहित्य से तुलना की जा सकती है। ईसा से हज़ार-पांच सौ वर्ष-पूर्व के तमिल साहित्य का इतना समृद्ध होना प्रमाणित करता है कि तमिल भाषा का इतिहास निश्चय ही इससे भी अधिक पुराना है। कुछ सदियों के विकास के बाद ही भाषा इतनी समृद्ध हो सकी होगी। कहा जाता है कि तमिल-भाषियों का प्रदेश दक्षिण भारत की वर्तमान सीमाओं के आगे भी फैला हुआ था। तमिल का जो प्राचीनतम साहित्य उपलब्ध है उससे यह संकेत मिलता है कि उस काल में तमिल भाषा-भाषी एक पूरा उपमहाद्वीप रहा होगा जो कालान्तर में सागर-मग्न हो गया। भूगर्भशास्त्रियों की हाल की खोजों से इस अनुमान की पुष्टि होती है। उनका कहना है कि हज़ारों वर्ष पहले भारत और अफ्रीका एक-दूसरे से मिले हुए थे और भारत की दक्षिणी सीमा कुमारी अन्तरीप से भी आगे तक फैली हुई थी। प्राचीन युग में संसार के विभिन्न भागों में कई भाषाओं का विकास हुआ, वे फूली-फलीं और समृद्ध बनीं, लेकिन कुछ सदियों के कालान्तर में इतिहास के उतार-चढ़ाव में उनका शनैः-शनैः लोप हो गया। स्वयं संस्कृत को ही ले लीजिये जो संसार की प्राचीनतम भाषाओं में से है, और जो कई आधुनिक भाषाओं की जननी मानी जाती है और जिसके उपलब्ध साहित्य की संसार के सर्वश्रेष्ठ साहित्यों में गिनती होती है। आज इस भाषा को मुट्ठी-भर पण्डितों के अलावा और कोई पढ़ता-लिखता या बोलता नहीं है। इस दृष्टि से तमिल का इतिहास सर्वथा अनूठा है। हज़ारों वर्ष-पूर्व

विकसित यह भाषा, जिसका साहित्य प्राचीन काल से ही बहुत समृद्ध और सम्पन्न रहा है, आज भी एक जीवित जन-भाषा है। तमिल के प्राचीन साहित्य में हमें आदर्श विचारधारा और श्रेष्ठ जन-जीवन की प्रतिष्ठा करनेवाली एक सम्पन्न सभ्यता और सँस्कृति के दर्शन होते हैं।

इस प्राचीन साहित्य के विकास में कई विलक्षण प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने योग दिया जिनमें अव्वैयार की बहुत ही श्रद्धापूर्वक गणना की जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अव्वैयार नाम की दो साहित्यिकाएँ हुई हैं। एक तो तिरुक्कुरल के रचयिता तिरुवल्लुवर की समकालीन थीं। तिरुक्कुरल तमिल के सर्वश्रेष्ठ नीति-ग्रन्थों में से है, और इसका रचना-काल ईसा से कुछ सदियों पूर्व माना गया है। दूसरी अव्वैयार वह हैं जिनका ईस्वी संवत् की सातवीं शताब्दी की साहित्यिकाओं में उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत निबन्ध पहली अव्वैयार के विषय में है, जो अपेक्षाकृत अधिक सिद्ध महिला थीं। शायद उनकी ख्याति से प्रभावित होकर ही सातवीं शताब्दी की लेखिका ने अपना नाम अव्वैयार रखा होगा। बताया जा चुका है कि पहली अव्वैयार का जन्म इससे कुछ सदियों-पूर्व हुआ था। तो क्या आश्चर्य जो इस लम्बे अन्तराल में तपस्विनी अव्वैयार का जीवन-चरित श्रद्धालु जनों-द्वारा प्रचारित उपाख्यानों और चमत्कार गाथाओं से आच्छादित हो गया है। लेकिन थोड़ा प्रयास करने पर हम इस आवरण को हटा कर वास्तविक अव्वैयार से साक्षात् कर सकते हैं, जो एक आदर्श महिला थी, सहृदय मनस्विनी थी, जिसने जन-साधारण से लेकर बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं सबको अपनी सहानुभूति का पात्र बनाया और जीवन-पथ में उनका निर्देशन किया।

कहा जाता है कि अव्वैयार बचपन में ही अनाथ हो गयीं। एक आदमी, जो स्वयं कवि था, उसे वह मिलीं और उसने ही उनका लालन-पालन किया। षोडशी अव्वैयार का रूप-सौन्दर्य चर्चा का विषय बना और बड़े-बड़े उसे अपनी परिणीता बनाने के लिए एक-दूसरे से होड़ लेने लगे। लेकिन अव्वैयार का मन तो पूरी तरह धार्मिक तथा साहित्यिक वृत्तियों में और जन-सेवा के आदर्श में रम चुका था। इसलिए विवाह करके गार्हस्थ्य के बन्धन में पड़ जाना उन्हें स्वीकार नहीं हुआ। जिस दम्पति ने अव्वैयार को पाला-पोसा था, उसका बराबर यही आग्रह रहा कि वह विवाह कर ले। किसी सम्पन्न परिवार से सम्बन्ध करके आर्थिक दृष्टि से लाभान्वित होने का लोभ यह दम्पति संवरण नहीं कर पाया। उसने अव्वैयार का, पास के एक प्रदेश के राजकुमार से विवाह कर देने का निश्चय कर लिया। अव्वैयार द्विविधा में पड़ गयीं। उन्होंने अपने इष्ट देवता विघ्नेश्वर की प्रतिमा के सामने

रोते हुए यह प्रार्थना की "हे भगवान्, ये लोग मेरे यौवन और रूप-माधुर्य के पीछे पड़े हुए हैं, जबकि मैं अपना सारा जीवन सरस्वती की सेवा और ज्ञान के प्रसार में लगा देना चाहती हूँ। कृपा करो विघ्नेश्वर! और मेरा यौवन और सौन्दर्य वापस ले लो ताकि मैं निश्चिन्त होकर शान्तिपूर्वक अपने अभीष्ट मार्ग पर चल सकूं।" भगवान ने अव्वैयार की प्रार्थना सुनी और पलक मारते ही अव्वैयार बहुत ही साधारण दीखनेवाली एक बुढ़िया बन गयी। अब उसके लिए विवाह-प्रस्ताव आने बन्द हो गये। इस चिन्ता से मुक्त होकर अव्वैयार ने भ्रमण-पर्यटन शुरू किया और तमिलभाषी प्रदेश के कोने-कोने में उनके नीतिवचन सुने गये। विघ्नेश्वर की कृपा से रूपमती अव्वैयार के सहसा बुढ़िया हो जाने-वाली बात तो शायद श्रद्धालु जनों के मस्तिष्क की उपज हो, लेकिन वास्तविक तथ्य का अनुमान कर पाना कठिन नहीं है। लोकविदित है कि एकनिष्ठ साधना-द्वारा ही परम ब्रह्म को प्राप्त किया जा सकता है। रूप और यौवन से प्राप्त होनेवाला सांसारिक सुख ज्ञान-साधकों के लिए त्याज्य और निषिद्ध समझा गया है। इसलिए अव्वैयार ने इस प्रकार के सुखों का त्याग किया होगा और कालान्तर में त्याग की इस गाथा ने एक चमत्कार-प्रसंग का रूप धारण कर लिया होगा।

तो अव्वैयार भ्रमण-पर्यटन करती रहीं और छोटे से छोटा तथा बड़े से बड़ा, जो भी उन्हें मिला, उसे अपनी सद्वाणी का पान कराती रहीं। एक बार उन्हें एक पति-पत्नी मिले जिनका जीवन बहुत ही कलहमय था। पत्नी कर्कशा थी और अपने पति से बहुत ही बुरा व्यवहार किया करती थी। अव्वैयार भूखी थीं, पति को उन पर दया आ गयी। वह उन्हें अपने घर ले आया। लेकिन घर पहुँच कर वह पत्नी से यह कहने का साहस नहीं बटोर पाया कि अव्वैयार को भोजन दे दो। उसने अपनी मानिनी को मनाने के लिए उसका आलिंगन किया, उसके केश सँवारे, उससे मीठी-मीठी बातें कीं और फिर यह प्रकट किया कि वह एक भूखी बुढ़िया को खाना खाने के लिए बुला लाया है। पत्नी सुनते ही आग-बबूला हो गयी और पति को कष्ट पहुँचाने लगी। यह देखकर अव्वैयार उठ खड़ी हुईं और बाहर निकल आयीं, पति माफी मांगने आया तो उन्होंने सहानुभूति व्यक्त की और कहा, "दाम्पत्य जीवन में सुख अवश्य है, किन्तु उसी दशा में जबकि मनुष्य को स्नेहमयी, सौम्य और सब तरह से उपयुक्त पत्नी मिले। लेकिन जब ऐसा नहीं होता, दाम्पत्य जीवन नरक बन जाता है। इस परिस्थिति में यही उचित है कि गार्हस्थ्य का त्याग करके संन्यास ले लिया जाये।"

इस प्रकार एक बार तमिल प्रदेश का भ्रमण करते हुए अव्वैयार की भेंट एक किसान से हुई जो अपने खेतों में काम कर रहा था। उसकी पत्नी, जो बहुत ही स्नेहमयी थी, उससे खेती-बाड़ी छोड़ कर पास के एक राजा के यहाँ जाने का अनुरोध कर रही थी। पति-पत्नी ने अव्वैयार से इस विषय में परामर्श किया। अव्वैयार बोलीं, "नदी किनारे के वृक्ष और राजा के चाकर दोनों का अस्तित्व अपूर्ण है, वह कभी भी खत्म हो सकता है। कृषि सर्वोत्तम वृत्ति है, और किसी व्यवसाय में इतनी स्वाधीनता और गरिमा नही हो सकती।"

तमिल प्रदेश के विभिन्न इलाको के नरेश अव्वैयार का बहुत आदर-सम्मान करते थे। अव्वैयार को अपने दरबार मे आमन्त्रित करने के लिए उनमें होड़ मची रहती थी। एकाध बार जब युद्ध का संकट आया तो अव्वैयार ने मध्यस्थता करके विभिन्न नरेशों में सन्धि करा दी। अव्वैयार ने कहा, "युद्ध राजाओं की महत्वाकाक्षाओं के कारण होते हैं लेकिन उनकी यातना दोनों ओर के जनसाधारण को समान रूप से भुगतनी पड़ती है।" अव्वैयार ने युद्ध की विभीषिका का बहुत ही सजीव वर्णन किया और लोगों को शान्ति का मार्ग अपनाने का उपदश दिया।

यद्यपि विदुषी अव्वैयार को उत्सुक नरेशो के आग्रहपूर्वक निमन्त्रण मिलते ही रहते थे, तथापि वह उनसे दूर ही रहती थीं। सरल, आडम्बरहीन जीवन उन्हें पसन्द था और वह हमेशा साधारण ग्रामीणजनों से घिरी रहती थी। वह जहाँ भी जातीं, गरीबों के साथ रहतीं, उनके जैसा रूखा-सूखा खातीं और मोटा-झोटा पहनती, उनके सुख-दुःख में शामिल होनीं तथा चिन्ता और व्यथा के समय उन्हें परामर्श देतीं। हर व्यक्ति उनसे स्नेह करता था, यहाँ तक कि उनका नाम ही जगत-दादी पड़ गया था। अव्वैयार बहुत ही वृद्धावस्था में मरी और आजीवन जन-जन का कल्याण करती रही।

अव्वैयार ने अनेक नीतिग्रन्थों की रचना की जिनमे मे कई आज तक पाठशालाओं में पढ़ाये जाते हैं। अव्वैयार-रचित कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं:—आत्तिचूडि, कोनरे वेन्तन, उलाका नीति, मूतुरइ नल्वलि, नन्नेरि, नीतिनेरि विलक्खम, नीति वेण्बा और अरनेरिचारम, इन ग्रन्थों में नीति-वचन या तो सूक्तों के रूप में कहे गये है या वेण्बा वर्ग की चतुष्पदियों में। अव्वैयार के 'वचन' उपदेशात्मक हैं और बच्चे-बूढ़े सभी इनसे लाभान्वित हो सकते हैं। उनके कुछ 'वचन' उदाहरण के रूप मे यहाँ दिये जा रहे हैं:

१. उत्तेजित करनेवाली बात न कहो। —आत्तिचूडि

२. दान करना अपना धर्म समझो। —आत्तिचूडि

३. करने से पहले ऊँच-नीच सोच लो। —आत्तिचूडि

४. अपनी बुद्धि पर वृथाभिमान न करो। —आत्तिचूडि

५. चावल के बीच के छिलके से चावल ही का अंकुर फूटता है, लेकिन अगर छिलका न हो तो धान उग ही नहीं सकता। इसी प्रकार महान् शक्ति और स्फूर्तिवाले मनुष्य भी उपयुक्त उपकरणों के बिना कुछ नहीं कर सकते।

—मूतुरइ

६. ताड़ का पेड़ बड़ा होता है लेकिन उसमें सुगन्ध नहीं होती, मगिला का फूल छोटा होता है किन्तु मधुर सुगन्ध से युक्त। आकार और आडम्बर से मनुष्यों की माप न करो। सागर कितना विशाल है लेकिन उसका जल स्नान करने तक के योग्य नहीं है, पास ही एक छोटा-सा झरना सबको पीने का शीतल जल देता है।

—मूतुरइ

७. कर्कश वाणी मधुर वाणी पर विजयी नहीं हो सकती। वह बाण, जो हाथियों तक को मार गिराता है, कपास के टुकड़े का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता। चट्टान लोहे की लम्बी मोटी छड़ी से नहीं टूट पाती लेकिन एक छोटा-सा अँखुआ उसे छिन्न-भिन्न कर देता है।

—नलवलि

८. चाहे कोई कितना ही सदात्मा क्यों न हो, नीच व्यक्तियों को उसमें दोष ही दीखते हैं। फलों और फूलों से लदे हुए और पराग-प्रेमी भ्रमरों-द्वारा गुंजित उद्यान में भी कौवा निबोली ही खोजता है।

—नन्नेरि

९. सिंचाई के तालाब को बाँधों की अपेक्षा होती है, सागर को नहीं। मान्यता की खोज करनेवालों पर भी यही बात लागू होती है, क्षुद्रजन संरक्षण की अपेक्षा करते हैं, महात्मा नहीं। —नन्नेरि

१०. यौवन, पानी का एक बुदबुदा है, धन-सम्पदा सागर की एक उत्ताल तरंग है और हमारी इस काया के अस्तित्व की अवधि उतनी ही है जितनी कि पानी पर लिखे हुए अक्षरों की। तो फिर क्यों आप परमात्मा की सभा में जाकर पूजा-अर्चना नहीं करते।

—नीति नेरि विलक्कम

११. न्यायप्रिय राजा अपने गुप्तचरों की सूचना से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते, गुप्त वेष में बिना किसी को साथ लिये शहर में घूमते हैं और स्वयं सचाई का पता लगाते हैं। यही नहीं वे शान्तभाव से विचार करने के बाद ही कोई कार्रवाई करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि केवल कुछ तथ्यों की सूचना के आधार पर, जल्दबाज़ी में कोई निर्णय दे डालने से न्याय बहुधा अन्याय में बदल जाता है ।

—नीति नेरि विलक्कम

१२. सच्चे मन्त्री राजा के पास जाने में और उसे विवेक और सम्मति की बात सुझाने में कभी नहीं हिचकते। वे राजा के क्रोध की तनिक भी परवाह न करके उसे सही और नेक सलाह देते हैं। मदमस्त हाथी पर महावत अंकुश रखता है, और राजा पर उसका मन्त्री।

—नीति नेरि विलक्कम

१३. माँ की मृत्यु से मनुष्य भोजन के विभिन्न स्वादों की सूक्ष्म पहचान भूल जाता है, पिता की मृत्यु से शिक्षा को क्षति पहुँचती है, भाई की मृत्यु से बाहुबल जाता रहता है, लेकिन पत्नी की मृत्यु से सब कुछ चला जाता है ।

—नीति वेण्बा

१४. सभा का रत्न पण्डित होता है, आकाश का सूर्य और घर का पुत्र।

—नीति वेण्बा

१५. जब कन्या के विवाह की बात चलती है, पिता वर में पाण्डित्य खोजता है, माँ धन-सम्पदा के बारे में पूछताछ करती है, सगे-सम्बन्धी उसके वर्ण-गोत्र के बारे में चिन्तित होते हैं, और स्वयं कन्या उसके रूप के बारे में जानना चाहती है।

—नीति वेण्बा

१६. आदर्श पुरुष दान करने में खजूर के ऊँचे वृक्ष के समान उदार होते हैं। वे लेते कम हैं और देते बहुत ज्यादा हैं। उनके बाद वे मनुष्य आते हैं जो सुपारी और कदली के वृक्षों की भाँति लेते ज्यादा हैं, देते कम हैं।

—नीति वेण्बा

१७. चन्द्र-किरणें शीतल होती हैं, चन्दन का लेप उनसे भी अधिक शीतल होता है, लेकिन सबसे अधिक शीतल होते हैं उन महात्माओं के मधुर वचन, जिन्होंने प्रेम, अध्ययन, मनन और धैर्य का मार्ग अपनाया है ।

—नीति वेण्बा

१८. ओ शीतल पर्वतों के राजा ! मनुष्य की धन-सम्पदा सब घर ही में रह जाती है। उसके रोते-बिलखते बन्धु-बान्धव उसे श्मशान में छोड़ आते हैं। अग्नि उसकी देह को राख बना देती है। हाँ, अगर वह सदाचारी रहा हो तो उसके गुण ज़रूर शेष बचे रहते हैं।

—अरनेरिचारम्

१९. बीते हुए दिनों की अंगुलियों पर गिनती हो सकती है, आगे आनेवाले दिनों का किसी के पास कोई हिसाब नहीं है। दिन बीतते जायें और हम कोई भी भला काम न करें, यह कितना बुरा है।

—अरनेरिचारम्

२०. वह मूर्ख है जो कहता है कि लहरों के शान्त होने पर ही मैं स्नान करूँगा। और वह भी जो कहता है कि मैं धनी हो जाने के बाद दान-पुण्य करूँगा। क्योंकि सम्भव है कि इस प्रकार जोड़े हुए धन से उसका कोई भला न हो, मनुष्य को अपनी सामर्थ्य के अनुसार दान-पुण्य करते रहना चाहिए। ऐसा करनेवाले को ही धन-सम्पदा फलेगी।

—अरनेरिचारम्

२१. दानी से बड़ा कोई गुणी नहीं, अपने विवेक से ज्यादा शुभचिन्तक कोई साथी नहीं, स्वाभिमानपूर्वक जीने से अच्छा कोई आचरण नहीं। जो चाहते हैं कि उनकी आत्मा पवित्र रहे, उनके लिए यही सिद्धान्त है।

—अरनेरिचारम्

२२. बहुत ज्यादा भोजन करने से इन्द्रियाँ उग्र हो जाती हैं, वासना भड़क उठती है और अन्ततः सर्वनाश हो जाता है। बुद्धिमान को चाहिए कि वह केवल इतना खाये जिससे वह जीवित रह सके और जीवन के वास्तविक आनन्द को प्राप्त कर सके।

—अरनेरिचारम्

परिच्छेद ३

कारैक्काल अम्मैयार

सन्त सुन्दर ने, जिनकी शैव मत के चार प्रमुख आचार्यों में गणना होती है, तमिलनाड के सिद्ध और विधिवत् प्रतिष्ठित शैव सन्तों की एक सूची तैयार की थी। इसमें ६० पुरुषों और तीन स्त्रियों—कारैक्काल अम्मैयार, पाण्ड्य कुल की महारानी मंगैयर्कराशियार और सन्त सुन्दर की माता इशैज्ञानियार के नाम थे —सन्त अम्मैयार का जन्म कारैक्काल में हुआ था, इसीलिए उन्हें कारैक्काल अम्मैयार कहा जाता है। अम्मैयार का जन्म किस शताब्दी में हुआ, इस बारे में कोई निश्चित सूचना तो उपलब्ध नहीं है, लेकिन इस बात के प्रमाण अवश्य हैं कि वह शैव आचार्य तिरुज्ञान सम्बन्ध के समय से पहले की थीं। आचार्य तिरुज्ञान के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से यह ज्ञात है कि वह सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए हैं। इसलिए अम्मैयार का जीवन-काल ४०० से ६०० ईसवी के बीच में कहीं रहा होगा।

कारैक्काल अम्मैयार की जीवन-गाथा के बारे में सूचना प्राप्त करने का मुख्य स्रोत तिरुतोण्डर-पुराण है। चोल सम्राट् कुलोत्तुंग द्वितीय ईसवी ११३३–११४६ के प्रधान मन्त्री सेक्किलार के लिखे हुए इस ग्रन्थ को पेरिय, अर्थात् बृहद् पुराण भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त सन्त अम्मैयार की काव्य-रचनाओं से भी उनकी मान्यताओं, आकाक्षांओं और आध्यात्मिक सिद्धियों के बारे में काफी सूचना प्राप्त होती है।

अब इस लेख में पाठकों को अम्मैयार के जीवन-चरित का परिचय देने के लिए पेरिया-पुराण में वर्णित वृत्तान्त लगभग जैसा का तैसा प्रस्तुत किया जाएगा।

कारैक्काल कई सदियों से एक महत्त्वपूर्ण और समृद्ध व्यापार-केन्द्र बना हुआ था। उस बन्दरगाह से बड़े पैमाने पर आयात-निर्यात का व्यापार हुआ करता था। वहां के धनाढ्य वणिक और व्यापारी अपने समस्त कार्य-कलाप में सत्य और निष्ठा के सिद्धान्तों का पालन किया करते थे। इस वणिक्-समुदाय के मुखिया दानदत्त के घर में अम्मैयार ने जन्म लिया। इस विलक्षण, सुन्दर और सौम्य कन्या का नाम रखा गया पुनीदवती अर्थात् (यह वही शब्द है जो संस्कृत और हिन्दी में पुनीतवती लिखा जाता है) वह जो पावन और पवित्र है।

पुनीदवती ने शैशवकाल में ही भक्ति-मार्ग अपना लिया। तुतला-तुतला कर वह भगवान् शंकर के नाम का जप करती और आह्लादित हो उठती। बड़ी होकर उन्होंने अपनी एक कविता में लिखा—

"हे सकल ब्रह्माण्ड के उज्ज्वल नीलकण्ठवाले स्वामी! जब से बोलना सीखा है, तेरे ही नाम का उच्चारण किया है, तेरे ही श्रीचरणों में अपना सर्वस्व प्रेम समर्पित किया है, कब तू प्रसादाभिमुख होकर मेरे कष्टों को हरेगा?"

पुनीदवती बड़े घर की बेटी थी और वह भी इकलौती। उसके लालन-पालन में किसी तरह की कोई कसर नहीं रहने दी गयी। वह जितनी बड़ी होती गयी, उसका रूप भी उतना ही निखरता चला गया। लेकिन वह तो रूप-सौन्दर्य, अलँकार-आभूषण, इन सबसे बिलकुल अनभिज्ञ थी। और तो और, उसके खेल भी शिव-आराधना के खेल होते थे, घर बनाने या गुड़िया का ब्याह रचाने के नहीं। शिव के भक्तों के प्रति उसकी श्रद्धा और उसका सेवा-भाव, दोनों बराबर बढ़ते चले गये।

बाल्यकाल को पार कर पुनीदवती ने कैशोर्य की पहली सीढ़ी पर कदम रखा। हिन्दू मान्यताओं के अनुसार लड़की बड़ी और सयानी हो गयी। उस पर घर से बाहर न जाने का प्रतिबन्ध लगा दिया गया। स्वजन उसके विवाह की चिन्ता करने लगे। उन दिनों एक अन्य बन्दरगाह नागपट्टिनम् में निधिपति नामक एक धनाढ्य व्यापारी रहता था। उसने अपने बेटे परमदत्त का पुनीदवती से सम्बन्ध कराने के लिए बड़े-बूढ़ों को कारैक्काल भेजा। पुनीदवती के पिता दानदत्त ने यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। कारैक्काल में बहुत धूमधाम से परमदत्त ने पुनीदवती का पाणिग्रहण किया। दानदत्त ने इकलौती बेटी को विदा करने में अपने को असमर्थ पाया और परमदत्त से घर-जमाई बन जाने का अनुरोध किया। परमदत्त कारैक्काल में ही रहने लगा। दानदत्त ने बेटी और जमाई को रहने के लिए एक महल दे दिया और जमाई को अपना अलग कारबार चलाने के लिए पर्याप्त धन-राशि भी दी।

इस प्रकार पुनीदवती के वैवाहिक जीवन का समारम्भ हुआ। शकुन सभी शुभ प्रतीत होते थे। वह अपने पति को अच्छा मानती थी, उसकी सेवा करती थी। अच्छे संस्कारोंवाली स्त्री की भाँति हर तरह से वह उसे सुखी और प्रसन्न रखने का यत्न करती थी। लेकिन भगवान् शिव के प्रति पुनीदवती की अगाध भक्ति, जो बाल्यकाल में ही प्रस्फुटित हो चुकी थी, निरन्तर बढ़ती चली गयी।

जब कभी शैव साधु-सन्त उसके द्वार पर आते, वह उनका श्रद्धा और सम्मान-पूर्वक स्वागत करती। उन्हें दान-दक्षिणा देती। साधुओं की संगत में उसकी धार्मिक वृत्ति और भी प्रखर हो गयी। परमदत्त का धर्म-कर्म में अधिक विश्वास नहीं था, लेकिन उन्होंने पुनीदवती की धार्मिक वृत्ति में कभी बाधा नहीं डाली।

एक दिन परमदत्त अपनी दुकान पर बैठे हुए थे। कुछ लोग उनसे मिलने आये और उन्होंने परमदत्त को दो बहुत ही स्वादिष्ट आम भेंट किये। परमदत्त ने नौकर के हाथ वे आम घर भिजवा दिये। पुनीदवती ने उन्हें संभाल कर रख दिया। थोड़ी देर बाद एक वृद्ध शैव साधु पुनीदवती के द्वार पर आया। वह बहुत ही थका हुआ और कई दिनों का भूखा दीख पड़ता था। पुनीदवती ने तुरन्त उस साधु को भोजन कराने की व्यवस्था की। उसने साधु को हाथ-पाँव धोने के लिए जल दिया और पातली बिछा दी। लेकिन उस समय रसोई में केवल भात पका हुआ था, कोई शाक तैयार नहीं था। तो पुनीदवती ने भात परोस दिया और पति के भेजे हुए दो आमों में से एक साधु की पातली में रख दिया। भोजन और गृहलक्ष्मी के स्वागत-सत्कार से साधु बहुत ही सन्तुष्ट हुआ। उसने पुनीदवती को धन्यवाद दिया और आशीर्वचन कह कर चला गया।

दोपहर में परमदत्त भोजन करने के लिए घर आये। आदर्श और आज्ञाकारी-पत्नी पुनीदवती ने उनके लिए भात और नाना प्रकार के सुस्वादु व्यंजन परोसे और बचा हुआ आम भी पातली में रख दिया। आम परमदत्त को इतना मीठा और अच्छा लगा कि वह तुरन्त माँग कर बैठा कि दूसरा आम भी लाओ। पुनीदवती एक क्षण किंकर्तव्य-विमूढ़ हुई बैठी रही। पति की आज्ञा का पालन करने के लिए वह उठी और वहाँ गयी जहाँ आम रखे हुए थे। उसने भगवान् शिव का स्मरण किया और कहा—"हे प्रभो! मुझे बचाइये और एक आम यहाँ लाकर रख दीजिये।" इतनी प्रार्थना करनी थी कि उसने देखा सामने एक बहुत अच्छा आम रखा हुआ है। उसने बिना कुछ कहे शान्त मन से वह आम पति की पातली में रख दिया। परमदत्त ने आम खाया और चकित-से रह गये। कहने लगे—"यह तो पहले आम से भी कहीं अधिक स्वादिष्ट है। ऐसा आम तो न कभी देखा, न कभी खाया। यह तो पिछले आम के साथवाला आम हो ही नहीं सकता। बताओ तुमने यह कहाँ पाया?"

पुनीदवती असमंजस में पड़ गयी और उसका शरीर थरथराने लगा। एक ओर भक्त होने के नाते उसका यह कर्त्तव्य था कि दैवी कृपा से जो चमत्कार हुआ है, उसका भेद किसी को न बताये। दूसरी ओर पातिव्रत्य का यह आग्रह था कि

पति की आज्ञा का पालन करे और जो सूचना उसके पति ने माँगी है, वह उसे दे। अन्त में उसने यह निश्चय किया कि पातिव्रत्य धर्म निभाना ही उसका पहला कर्त्तव्य है। अतएव उसने अपने प्रभु से क्षमा याचना करने के बाद पति को सारी घटना बता दी। परमदत्त यह वृत्तान्त सुन कर ठगे से रह गये, लेकिन अविश्वास उनके मन में घर करने लगा और वह कह बैठे—"यदि वास्तव में भगवान् शिव की तुम पर ऐसी कृपा है तो वैसा ही एक और आम प्राप्त कर दिखाओ।" 'अब पुनीदवती क्या करे? मन को स्थिर किया, कुछ दूर हट कर खड़ी हो गयी और आकाश को सम्बोधित करके बोली—"हे प्रभो! वैसा ही एक और फल भेज दो, अन्यथा तुम्हारी यह भक्तिन पति के सामने झूठी सिद्ध हो जाएगी।" कहना था कि फिर वैसा ही एक और फल उसके हाथ में आ गया। आम पति को दिया तो वह आश्चर्यचकित रह गये पर जब वह आम उनके हाथ में आकर गायब हो गया तो वह बहुत घबरा गये।

कुछ देर तक उनके मुंह से बोल नहीं फूटा। वह समझ गये कि उनकी पुनीदवती कोई साधारण स्त्री नहीं है। वह कोई देवी है जिसने मानवीय चोला धारण कर रखा है। उसे पत्नी के रूप में अपने साथ रखना ठीक नहीं। तो परमदत्त कारैक्काल छोड़ कर जाने की तैयारी करने लगे और पुनीदवती को अपनी पत्नी नहीं, कोई देवी मानने लगे।

प्राचीन तमिलगाम में कई व्यापारी अपने जहाज़ लेकर समुद्रपार के देशों में व्यापार करने जाते थे। परमदत्त ने भी कुछ व्यापारी जहाज़ बनवाये और अपना माल लेकर दूर देशों को गया। वहाँ खासा मुनाफा कमा कर वह स्वदेश लौटा, लेकिन कारैक्काल या नागपट्टिनम न जाकर वह मदुरई में उतरा जो पाण्ड्य-नरेशों की राजधानी थी। वह वहीं जाकर बस गया और उसने किसी को यह नहीं बताया कि वह कारैक्काल का है तथा पुनीदवती से उसका विवाह हो चुका है। यही नहीं, उसने मदुरई में एक कन्या से विवाह भी कर लिया और इसकी खबर कारैक्काल नहीं पहुँचने दी। अनन्तर अपनी दूसरी पत्नी से उसे एक लड़की हुई। परमदत्त हर रोज़ अपनी पहली पत्नी पुनीदवती का देवी के रूप में पूजन किया करता था। उसने अपनी कन्या का नाम श्रद्धावश पुनीदवती ही रखा। उधर पुनीदवती इस सारे इतिहास से अनभिज्ञ अपनी गृहस्थी चलाये जा रही थी और पतिव्रत धर्म का निर्वाह कर रही थी।

कोई भी बात अधिक समय तक छिपी नहीं रह सकती। तो पुनीदवती के सम्बन्धियों को अन्ततः यह पता चल ही गया कि परमदत्त ने मदुरई में दूसरा

विवाह करके नयी गृहस्थी बसा ली है । इस समाचार की पुष्टि करने के बाद पुनीदवती के सम्बन्धी पुनीदवती को एक सुन्दर पालकी में बैठा कर सुदूर बसे हुए नगर मदुरई ले गये। मदुरई पहुँच कर उन्होंने परमदत्त को पुनीदवती के ग्रागमन की सूचना दी । पहले तो परमदत्त कुछ घबराये, लेकिन फिर स्वस्थ होकर उन्होंने पुनीदवती का स्वागत किया, ग्रपनी नयी पत्नी ग्रौर कन्या का परिचय दिया ग्रौर फिर पुनीदवती को साष्टांग प्रणाम किया । परमदत्त की दूसरी पत्नी ने भी पुनीदवती के पाँव छुये । इस रहस्यमय व्यापार से पुनीदवती ग्रौर उसके सम्बन्धी ग्रतिशय चकित हुए। परमदत्त बोले—"देवी, ग्रापकी कृपा से मै यहाँ रह रहा हूँ ग्रौर मैंने ग्रपनी बच्ची का नाम ग्रापके नाम पर ही रखा है।" सम्बन्धियों ने कहा—"ग्रापने ग्रपनी पत्नी के पाँव छुये, यह लीला कुछ समझ में नही ग्रायी।" परमदत्त ने स्पष्ट ग्रौर दृढ़ स्वर में उत्तर दिया—"पुनीदवतीजी कोई साधारण स्त्री नही हैं। इनके दैवी स्वरूप का ज्ञान होने पर ही मैंने इन्हें ग्रपनी पत्नी समझना छोड़ दिया है । मै इन्हें श्रद्धा ग्रौर भक्ति का पात्र समझता हूँ ग्रौर इसी श्रद्धावश मैंने ग्रपनी लडकी का नाम इनके नाम पर रखा है। मैंने इनके श्रीचरणों में नमन किया, ग्राप भी वैसा ही करें।"

यह सुन कर सम्बन्धीगण स्तब्ध रह गए। पुनीदवती की भी विचित्र दशा हुई। उसने त्रिपुरारि महादेव का स्मरण किया ग्रौर भाव-विह्वल होकर ग्रन्तर्मन से प्रार्थना के शब्द कहे—"प्रभो! ग्राप मेरे पति का ग्राचरण देख ही रहे हैं। मै ग्रब क्या कर सकती हूँ। इस देह को, इस रूप-सौन्दर्य को मैं पति के लिए ही बनाये हुए थी। ग्राप मुझे देह-हीन, रूप-सौन्दर्यहीन करके मुक्ति दिला दीजिये। मै प्रेत-छाया बनूं ग्रौर काया के पिजरे से मुक्त होकर दिन-रात ग्रापके श्रीचरणों के ग्रनुराग में लीन रहूँ।" इस प्रकार वह भक्ति-भाव में डूबी खड़ी रही ग्रौर कैलाशपति ने प्रसादाभिमुख उसकी याचना स्वीकार कर ली । पुनीदवती की काया बदल गयी। उसकी सुन्दर देहवल्ली, जो ग्रात्मा के सौन्दर्य से ग्रौर भी प्रदीप्त हो उठी थी, सहसा कुम्हला उठी ग्रौर एक प्रेत-छायावत् कंकाल बच रहा। वह इतनी कुरूप हो गयी कि देखनेवालों को भय लगने लगा । इन्द्र ग्रादि देवताग्रों ने उस पर नन्दन वन के पुष्पों की वर्षा की ग्रौर दैवी संगीतधारा में गुंजायमान हो उठा । देव-किन्नर ग्रादि स्वर्ग के निवासी ग्राह्लादित हो उठे । इधर पुनीदवती में यह चामत्कारिक परिवर्तन होता देख सम्बन्धीजन भयभीत हो गये ग्रौर डरते-डरते प्रणाम करके वहाँ से भाग खड़े हुए।

फिर कारैक्काल ग्रम्मैयार के जीवन का एक नया ग्रध्याय शुरू हुग्रा। उन्होंने

भगवान् शिव की प्रशस्ति में काव्य-रचना आरम्भ की और अनुभव किया कि त्रिपुरारि महादेव का वरद हस्त उन पर बना हुआ है । धारणा है कि इस चरम अवस्था में उन्होंने तमिल में गीतों की रचना की। इनके दो संकलन हैं— 'अरपुदा तिरुवन्तादि' जिसमें एक सौ एक पद है और दूसरा 'तिरु इरट्टै मणिमालै, जिसमें बीस पद हैं।

पुनीदवती की देह का प्रेत-छाया में बदल जाना सांसारिक सुखों की तिलांजलि का प्रतीक बन गया। वह मोह माया पूर्णतया भूल गयीं और कैलाश पर्वत पर आसीन भगवान् शिव के दर्शन की अभिलाषा उनके मनप्राण पर हावी हो गयी । वह उत्तर दिशा में कैलाश-यात्रा के लिए चल पड़ीं। रास्ते में जो भी लोग मिलते, उन्हें देखकर डर जाते । लेकिन इससे वह जरा भी विचलित नहीं हुईं। उन्होंने कहा—"विशाल विश्व के अष्ट कोनों से एकत्रित जनता, जो चिरन्तन सत्य से अनभिज्ञ है, के सम्मुख मैं किसी भी रूप में प्रकट हूँ तो कोई अन्तर नहीं पड़ता यदि सबके दाता भगवान् शिव मुझे अपने भक्तों में मान लें।"

कारैक्काल अम्मैयार जब कैलाश पर्वत की चढ़ाई चढ़ रही थीं तो उनकी अन्तरात्मा में एक अबोध्य भावना आयी कि उन्हें इस पर्वत पर पाँवों से नहीं अपितु सिर के बल चढ़ना चाहिए। कई लेखकों के मतानुसार उन्होंने केवल इस प्रकार का जीवन-क्रम अपनाया जो सांसारिक व्यवहार और रीतियों से सर्वथा विपरीत है, किन्तु अन्य विद्वान इससे सहमत नहीं। वे इसका शाब्दिक अर्थ लगाते हैं कि विश्वेश्वर के भक्तों से सभी कुछ सम्भव है। वह अपने इष्टदेव के लिए कुछ भी कर सकते हैं। उनका मन, मस्तिष्क और शरीर आराध्य के आधिपत्य में है । सिद्धान्त अथवा तथ्य कुछ भी हों, अम्मैयार कैलाश पर्वत की चोटी पर स्थित अपने इष्टदेव के निवासस्थान पर पहुँच गयी।

अम्मैयार के इष्टदेव शिव की अभयदायिनी अर्धांगिनी उमा की दृष्टि जब इस भक्तिनी की प्रेत-छाया पर गयी तो उन्होंने अपने महेश्वर को सम्बोधित कर कहा—"स्वामिन् ! देखो, तुम्हारे प्रति इस आत्मा का कितना अलौकिक प्रेम है, जो उसकी कंकाल काया से अभिव्यक्त हो रहा है ।" महेश्वर बोले—"प्रिय ! जानती हो, यह काया जो प्रतिक्षण हमारी ओर बढ़ती आ रही है वह वस्तुतः मेरी माँ है। उसका वर्तमान उपासक रूप केवलमात्र मेरे प्रति की गयी सच्ची लगन और अनन्य भक्ति का परिणाम है जो मैंने उसकी भक्ति से विभोर होकर प्रदान किया था ।" जब अम्मैयार अपने आराध्य शिव के सम्मुख उपस्थित हुईं तो शिव ने उसे 'जननी' कहकर सम्बोधित किया। भावनाओं से कण्ठावरुद्ध

अम्मैयार शिव को 'पिता' कहकर आराध्य के चरणों से लिपट गयीं। तदुपरान्त शिव ने अपनी भक्तिन से उसकी मनोकामना जाननी चाही। अम्मैयार ने जो उत्तर दिया वह कवि सेक्किलार की आत्मविभोरक कविता मे अंकित है। उस अम्मैयार ने सर्वप्रथम अपने इष्टदेव के प्रति अनन्त, अमिट और सदाशिवम् प्रेम की याचना की और फिर इस प्रकार स्तुति की—

"मुझे जन्म लेने की यातना से मुक्ति दो, किन्तु यदि आपकी अनुकम्पा यही है कि मैं पुनः जन्म लूं तो यह वरदान दो कि आपकी सुधि सदैव बनी रहे। हे धर्मदेव ! मुझे एक वरदान और प्रदान करो कि जब आप ताण्डव नृत्य करें तो मैं आपके चरणों के निकट खड़ी उसे देख सकूं।"

इस प्रार्थना से प्रसन्न शिव ने वरदान दिया कि वह तिरुवालंगाडु स्थान पर उनके शाश्वत नृत्य को आनन्द-विभोर होकर देखेगी और उनकी स्तुति करेगी। यह आशीर्वाद पाकर अम्मैयार प्रफुल्लित हो उठीं और उनके आनन्द की सीमा न रही। वह तत्काल कैलाश से तमिलनाड लौट आयी और उन्होंने सीधे तिरुवालंगाडु की ओर कूच किया। वहाँ वह सिर के बल प्रविष्ट हुयी। तब से वह निरन्तर वही स्थित नटराज शिव के शाश्वत ताण्डव नृत्य का अवलोकन करती रहती है। उस पवित्र देव-स्थान पर पहुँचने के पश्चात् अम्मैयार ने शाश्वत नृत्य को निहार ग्यारह स्तोत्रों की दो काव्य-मालाएँ रची, जिनमें तिरुवालंगाडु में हो रहे भगवान् शंकर के विराट् नर्तक-रूप का वर्णन है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि अम्मैयार का सांसारिक पति शिक्षा, संस्कृति और आध्यात्मिक ज्ञान में उतना समुन्नत नहीं था जितनी कि उसकी पत्नी। इन दोनों की तुलना जीवन चरित्र-लेखक ने अपनी वाक्चातुरी से दी है। उसने जहां पति की उपमा यौवनमय बलिष्ठ वृषभ से दी है, वहाँ पत्नी की उपमा उस कोमल कान्त कलेवरा मयूरी से दी है जो चाहे तो अपने परों की सुन्दरता प्रदर्शित करे या न करे। ऐसी विषमता में भी अम्मैयार ने अपने पति को सदैव सम्मान प्रदान कर कर्त्तव्य-परायणा पत्नी की तरह सेवा की। स्पष्ट है कि अम्मैयार एक सुशिक्षित स्त्री थी जो उच्चकोटि के भक्ति-काव्य की रचना कर सकती थी—उसकी रचनाएँ तमिल के शैव साहित्य में सम्मिलित करने के योग्य समझी गयीं। सन्त सम्बन्ध तथा आज तक के अन्य सन्तों ने उनका सम्मान किया है। आज भी उनकी प्रतिमा शैव मन्दिरों में अन्य ६३ नायन्मार सन्तों की प्रतिमाओं के साथ पायी जाती है।

उदाहरणतः अरुपुद तिरुवन्तादि में से कुछ पद्यों के अर्थ नीचे उद्धृत किये जाते हैं :

१. मेरे इष्टदेव, जो मुण्डमाला धारण किये तथा आग की लपटें हाथ में लेकर ताण्डव नृत्य करते हैं, यदि मेरे कष्ट निवारण न करें, मुझ पर दया न दिखायें और मेरा पथ-प्रदर्शन न करें, तो भी मेरा हृदय उनके अगाध प्रेम और भक्ति से विमुख नहीं हो सकता।

२. कुछ लोगों के अनुसार भगवान् स्वर्ग में वास करते हैं, तो कुछ लोग उन्हें वैकुण्ठवासी बताते हैं; परन्तु मेरे आराध्य, जो ज्ञानेश्वर और विष-पान के कारण नीलकण्ठ हैं, मेरे हृदय-मण्डल में निवास करते हैं।

३. मेरा ही हृदय पवित्र है, मैंने ही जन्म-मरण के बन्धन तोड़े हैं और मेरी तपस्या ही चरितार्थ और फलीभूत हुई है, क्योंकि मैं अपने स्वामी त्रिलोचन की चरण सेवा में रत हूँ, जो बाघम्बर धारण किये हुए हैं और विभूति रमाते हैं।

४. मेरे महेश्वर की अनुकम्पा से ही समस्त विश्व शासित है, उनकी दया से ही प्राणी जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति पाता है। मैं उन्हीं महेश्वर की कृपा से सर्वोच्च वास्तविकता और मूल तत्त्व का अनुभव करती हूँ। अतः ससार की समस्त दुर्लभ से दुर्लभ वस्तुएँ मेरे लिए हस्ता-मलक है।

५. मेरा ध्यान एक ही ओर केन्द्रित है। मेरा एक ही अटल निश्चय है और मेरे हृदय की एक ही निधि है, वह यह कि मैं उन स्वामी की सेविका बनूं जिनके ललाट पर द्वितीया का चन्द्रमा विराजमान हैं, जिनकी जटाओं से गंगा प्रवाहित है और जिनके एक हाथ में विस्फुलिंगित अग्नि है।

६. क्या मैं उन्हें हर कहूँ, क्या मैं उन्हें ब्रह्म कहूँ या इन दोनों से परे? मैं नहीं जानती कि उनका वास्तविक स्वरूप क्या है?

७. वही जानता है, वही सिखाता है, वही ज्ञानेश्वर है और वही मौलिक सत्ता है जिसको जानना अभीष्ट है। वही प्रकाश-पुंज अग्नि है, वही पृथ्वी और आकाश है।

८. जो अज्ञानी प्राणी उनके वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते, उनका

उपहास करते हैं, वे केवल बाह्य आकार को देखते हैं जिस पर विभूति लगी है और गले में मुण्डमाला है—मानो प्रेत का आकार हो।

९. केवल पुस्तकीय ज्ञान पर आधारित ज्ञानवाले विद्वान् ही विवाद करते हैं जिनमें धार्मिक ग्रन्थों में निहित मूल सत्य के समझने की क्षमता नहीं है। चिरन्तन सत्य के खोजी सच्चे भक्त के सम्मुख भगवान् स्वयं ही उस रूप में प्रकट होते हैं जिसमें उसका भक्त उसे देखने की जिज्ञासा रखता है।

१०. मेरे परम पिता! मेरी केवल एक ही आकांक्षा और उत्कण्ठा है—क्या कभी तुम मुझे उस रहस्य से परिचित करा दोगे—वह यह कि मैं उस क्षेत्र को जान सकूं जहाँ तुम महाप्रलय की निशा में हाथ में अग्नि धारण किये ताण्डव नृत्य करते हो।

११. विराट् नृत्य में रत तुम्हारे पद-संचालन से पृथ्वी और आकाश नष्ट हो जाते हैं, तुम्हारे सिर उठाते ही स्वर्ग का चन्द्रमा फट जाता है। जब तुम्हारी सुशोभित भुजाएँ गति करती हैं तो कामदेव काँप उठता है। विशाल विश्व का रंगमंच तुम्हारे नृत्य के भार को उठा नहीं सकता।

१२. हमने मृत्यु पर विजय पायी और नरक से बचे, हमने शुभाशुभ कर्मों के बन्धन भी तोड़ डाले—यह सब तभी सम्भव हुआ जब हमने अपने अस्तित्व को पूर्णतः महेश्वर के पवित्र चरणों में रत कर दिया, उन महेश्वर के, जिन्होंने अपने तीसरे नेत्र की अग्नि से त्रिपुरासुरों के गढ़ों को ही भस्मसात् कर दिया।

परिच्छेद ४

आण्डाल

हे भक्तिन, तू श्यामा तुलसी-जनित,
अविवाहित भगवत-पत्नी, सदेह पवित्रता
और भक्ति की अवतार है !

दक्षिण-भारत के ऐतिहासिक नगर मदुरई से पचास मील दूर दक्षिण-पश्चिम दिशा में श्रीविल्लिपुत्तूर नामक एक सुन्दर नगरी है। यह नगरी प्राचीनतम सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक परम्पराओं से सुसम्पन्न और वैष्णव भक्तों की स्मृति को चिरनूतन बनाए रखती है । श्रीविल्लिपुत्तूर का शाब्दिक अर्थ है, विल्लि का नया नगर । इस नगरी का अस्तित्व दो वीर शिकारी सरदारों के शौर्य और पवित्रता पर आश्रित है। ये वीर विल्लि और कन्तन, दो सहोदर थे जिन्होंने दैवी आदेशानुसार भीषण विषैले सरीसृपों एवं हिंसक जन्तुओं के आवास-एक भयानक जंगल को-दो परम श्रेष्ठ वैष्णव सन्तों और उनके अनुयायियों के पवित्र धामों में बदल दिया। इस भौतिक क्षेत्र का यह रूपान्तर आनेवाली उस आध्यात्मिक क्रान्ति की अनिवार्य पृष्ठभूमि था जो शाश्वत पवित्रता और अनन्य प्रेम की मूर्ति सन्त आण्डाल-द्वारा लाया जानेवाला था। प्रेम और श्रद्धा की साम्राज्ञी आण्डाल हमारे इस लेख का विषय है ।

भगवान् के परम भक्त, जो सदैव आत्मा और परामात्मा के मिलन में रमे रहते हैं, उसी पावन प्रेम के प्रतीक हैं। वैष्णव मत के अनुसार ये आलवार कहलाते हैं। तमिल भाषा में आलवार का शाब्दिक अर्थ है वह प्राणी जो सृष्टिकर्त्ता के असंख्य शुभ गुणों के सागर में गहरा पैठा हो। इसी शब्द का समानान्तर स्त्रीलिंग शब्द आण्डाल है, अर्थात् वह स्त्री जो भगवद्भक्ति के सागर में गहरी पैठी हो। जहाँ आलवार शब्द ग्यारह सन्तों का बोधक है, वहाँ इसी शब्द का समानान्तर आण्डाल शब्द एक ही स्त्री का सूचक है (और वह है आण्डाल), अतः सन्त आण्डाल की आध्यात्मिक महानता स्पष्ट है। कुमारी आण्डाल की यह महानता दैदीप्यमान नक्षत्र की तरह वैवाहिक अध्यात्मवाद के आकाश में चमकती है । अनेक महान् सन्तों की तरह सन्त आण्डाल का इस भौतिक जगत् में प्रादुर्भाव और

अन्तर्धान एक रहस्यपूर्ण कहानी होते हुए भी ऐतिहासिक तथ्य के निकट अवश्य है। इतिहासकारों के अनुसार यह सन्त महिला सातवी शताब्दी में हुई। सन्त आण्डाल ने श्री विल्लिपुत्तूर के पेरियालवार को अपना सांसारिक पिता कहा है, ठीक उसी तरह जैसे सीता जनक की पुत्री कहलायी। कहा जाता है कि पेरियालवार एक दिन विष्णुप्रिया तुलसी-वाटिका में हल जोत रहे थे। अकस्मात् उनकी दृष्टि एक दिव्य सुन्दरी कन्या पर पड़ी जो नवजात शिशु से कुछ बड़ी थी और तुलसी के वृक्ष के नीचे पड़ी थी। सन्तान-रहित पेरियालवार ने इस कन्या को दैव प्रदत्त उपहार समझ कर गद्‌गद् हो उसे पुत्री-रूप मे गोद ले लिया। इस पुत्री का नाम उसने गोदा रखा जिसका अर्थ है पृथ्वी-प्रदत्ता। जिस तरह एक कंजूस धन पाने पर उसकी रक्षा मे सतर्क-सचेत रहता है, उसी तरह पेरियालवार ने इस कन्या-रत्न का लालन-पालन बड़े प्रेम और सावधानी से किया। उसकी अवस्था और योग्यता के अनुरूप उसे उपयुक्त आध्यात्मिक शिक्षा दी। प्रचलित वैष्णव प्रथाओं के अनुसार ईश्वर-प्रदत्ता पुत्री का विशुद्धीकरण संस्कार किया।

पेरियालवार अपने बाल्यकाल से ही विष्णुचित्त प्रसिद्ध हो गये थे—अर्थात् जिसका मन और आत्मा सदा विष्णु मे ही रत रहे। वह जन्मजात योगी थे। अपनी सहज और अन्त.प्रेरणात्मक उपासना-बुद्धि के फलस्वरूप उन्होंने अपने अस्तित्व और अहंभाव को मिटाकर केवल मात्र ईश्वर-स्तुति और ईश्वर को प्रसन्न करने का व्रत ले लिया था। उनकी विशेष रुचि और आनन्द इसी मे था कि वह अपनी सुन्दर पुष्प-वाटिका बनायें जिनमें से रुचिकर सुन्दर पुष्पों की माला बना कर स्थानीय इष्टदेव को पहुँचा सकें। पेरियालवार के मतानुसार मन्दिर में स्थित भगवान् की मूर्ति ही असीमित शक्तिशाली परमेश्वर की प्रतीक है। भगवान् इस सीमित रूप में केवल इसीलिए स्थित है कि उनके भक्त इस प्रतीक के द्वारा संसार मे रहते हुए भगवान के सायुज्य का आनन्द भोग सकें। कहते है कि पेरियालवार पूर्णत: निरक्षर थे, किन्तु धर्म-सम्बन्धी चिरन्तन सत्यों को इस धरातल पर फैलाने के लिए विष्णु भगवान् ने मानो अपनी अद्वितीय जादूगरी से उसे संस्कृत का पण्डित और तर्कशास्त्र का ज्ञानी बना दिया था।

एक बार भगवान् की ऐसी अनुकम्पा हुई कि पेरियालवार ने दिव्य दृष्टि पाकर अपने इष्टदेव की अलौकिक सौन्दर्यमय मूर्ति देखी। उस दिव्य दृष्टि में ऐसा अनुपम पैतृक स्नेह था कि भक्त का हृदय उस प्रेम में हिलोरें लेने लगा और तत्काल ही उसने तमिल भाषा में ऐसे स्तोत्र बनाये जिनमें भगवान् का अजर-अमर, अविनाशी रूप चित्रित हो गया। इस घटना के पश्चात उसके जीवन में एक महत्त्वपूर्ण

परिवर्तन हो गया। अब वह बालकृष्ण के लिए मातृ-स्नेह में मग्न हो गये, ठीक उसी प्रकार जैसे यशोदा मैया वृन्दावन में भगवान् कृष्ण की माँ बनीं। अब शेष जीवन भर वह आध्यात्मिक और मानसिक रूप से वृन्दावन में ही गोपाल-बालों और गोपियों के साथ रहे और कृष्ण-लीला का आनन्द लेते रहे।

इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति और आश्चर्य नहीं कि ऐसे पैतृक संस्कारों को पाकर अल्पायु में ही सन्त आण्डाल की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन हुआ हो। आण्डाल का जन्म मधुर मंजरीक तुलसी की तरह अनन्य प्रेम का ही फल था और उसका लालन-पालन भी ऐसे वातावरण में हुआ जहाँ कृष्ण के प्रति उसके भक्तों की अगाध प्रेम की सरिता प्रवाहित रहती। उसके नारी-सुलभ, कोमल हृदय ने पत्नी के भावों से विभोर हो मानो उसे कृष्ण की पत्नी ही बना दिया था। अब वह एक गोपी बन कर कृष्ण के साथ आध्यात्मिक प्रणय-सूत्र मे बँध गयी। बाल्यकाल से ही वह अपने को भावी कृष्ण-पत्नी मान कर निरन्तर अपने प्रिय के सौन्दर्य-चिन्तन और प्रेम में विभोर रहने लगी। एक दिन कृष्ण-पत्नी बनने की अपनी योग्यता की परीक्षा लेने के लिए उसने पिता-द्वारा संचित पुष्पमालाओं को धारण कर दर्पण में अपने को निहार और मालाओं को उतार कर रख दिया। इसके बाद दिन-प्रति-दिन आण्डाल यह अभिनय छिप-छिप कर करती और अबोध पिता उसकी उतारी हुई मालाओं को देवता पर चढ़ा देता। एक दिन पिता ने अकस्मात् आण्डाल को उन मालाओं को पहने देखा तो इस अश्रद्धापूर्ण कार्य के लिए उसे डाँटा और चेतावनी दी कि वह पुनः ऐसा न करे। पिता अब झिझक रहे थे कि क्या ये मालाएँ देवता के योग्य हैं? आश्चर्य की बात है कि भक्त को असमंजस में पाकर भगवान् स्वयं प्रकट हुए और प्रवचन दिया कि आण्डाल-द्वारा पवित्र प्रेम से धारण की हुई मालाएँ ही उन्हें पहनायी जायें। अगले दिन पिता ने अपनी पुत्री को भगवान् का आदेश स्पष्ट करते हुए कहा कि वह देवता पर चढ़ायी जानेवाली मालाएँ पहले स्वयं पहन लिया करे। यह जान कर कि उसकी पुत्री आदि शक्ति है, जो विशाल विश्व का संचालन करती है, उसे 'आण्डाल' नाम से सम्बोधित किया।

आण्डाल जैसे-जैसे बड़ी होती गयी उसकी बुद्धि, ज्ञान और उपासना में भी वृद्धि होती गयी। अन्ततोगत्वा उसमें अपने इष्टदेव की परिणीता बनने की अदम्य इच्छा उत्पन्न हुई। अपने प्रिय के वियोग को सह न सकने के कारण आण्डाल ने उन्हीं साधनों को अपनाया जिनको विरह-पीड़ित गोपियों ने भगवान् कृष्ण के वियोग में अपनाया था। अपनी अद्भुत कल्पना-शक्ति से आण्डाल वृन्दावन की पवित्र भूमि और यमुना की मधुर धार में रमने लगी। अपने को कृष्ण-विरह में व्यथित

गोपी कल्पित कर वह उसके विरह-गान गाती। मार्गशीर्ष के पवित्र मास में नित्य पौ फटने से पहले उठकर स्नानादि से निवृत्त होती। अपने आराध्य देव को रिझाने के लिए साज-सिंगार करती और इष्टदेव की सिद्धि के लिए भक्त-मण्डली के रूप में जुलूस बना कर सौन्दर्य और परमानन्द के केन्द्र आराध्य के मन्दिर की ओर चल देती। वहाँ वह उस अनुपम सौन्दर्य को सुषुप्तावस्था से जगाने और वरदान पाने के लिए परइ[1] बजा-बजाकर उनकी प्रशस्ति करती। भगवान् निद्रा से उठते और भक्तों की मण्डली में अपने आसन पर विराजमान होते और भक्तों की याचना सुनने को उत्सुक रहते, किन्तु इस मण्डली की नेत्री सन्त आण्डाल की याचना तो किसी सांसारिक फल और वरदान की कामना से सर्वथा रहित थी। उसकी स्तुति तो अपने आराध्य देव का प्रेमाशीष पाने और केवल मात्र उसी की उपासना में सतत रत रहने की सामर्थ्य को पाना था—वह उपासना जो केवल आराध्य की अनन्य भक्ति और उसी में समा जाने के लिए है क्योंकि वह तो अविभेद्य बन्धन में अपने इष्टदेव से बँध चुकी थी। इस दिव्य दृश्य का वर्णन उसने अपने अमर काव्य 'तिरुप्पावइ' मे किया। यह काव्य तीस छन्दों का है, जिनमे पाठक को कलात्मक उत्कर्ष, आध्यात्मिक प्रतीकवाद और धर्मनिष्ठ उन्माद का सुन्दर समुच्चय मिलता है। हर वैष्णव मन्दिर मे इस काव्य का प्रतिदिन पाठ होता है।

श्रीकृष्ण से तादात्म्य प्राप्त करने के लिए सन्त आण्डाल की आध्यात्मिक उद्विग्नता, भावोद्‌गार और नैसर्गिक भावनाएँ धीरे-धीरे तीव्र प्रणयोन्माद में परिवर्तित हो गयी थीं जिनका वर्णन उसके पवित्र उद्‌गारों के संग्रह तिरुमोलि मे विस्तृत रूप से पाया जाता है। यह पुस्तक आत्मकथात्मक है। इस रचना मे सन्त आण्डाल के प्रणय-प्रेम की विभिन्न चित्तवृत्तियों की स्पष्ट अभिव्यक्ति है: उसकी कोमल आशाएँ, भय और आशंकाएँ, उसका अनुनय-अनुरोध और कामदेव से याचना करना कि वह उसे केवल आराध्य के लिए तैयार करे, उसका आत्म-विश्वास और सफलता, उसकी दारुण व्यथा और स्वप्न में आराध्य-द्वारा उसके साथ विवाह करने पर आवेगपूर्ण आनन्द, उपभोगी का प्रेम, पूर्ण निराशा, अपने प्रियतम को ऐसे सन्देश जो पाषाण हृदय को भी पिघला दे, और प्रियतम की निर्दयता पर कोमल उपालम्भ, उसे उसके दैवी प्रियतम के सम्मुख ले

[1] परइ ढोल की तरह का एक बाजा, जिसे बजाकर देवता को निद्रा से जगाते हैं।

जाने से इन्कार करने पर अपने सम्बन्धियों के प्रति रोषावेश और अन्त में शारीरिक जलन और वेदना जिसका समाधान तथा शमन उन सब पदार्थों से लिपट जाने पर ही सम्भव था जो उसके आराध्य देव श्रीकृष्ण को सुसज्जित करते थ ।

सन्त आण्डाल के पवित्र आंध्यात्मिक प्रेम के वेगमय प्रवाह और आत्मोन्नति के होते हुए भी विवाह के उपयुक्त उसकी युवावस्था ने उसके सन्त पिता के मस्तिष्क को अपनी अमूल्य पुत्री के—जो कि सन्तानहीन माता-पिता के घर की केवलमात्र शोभा थी—योग्य सांसारिक वर ढूँढ़ने की चिन्ता और उत्सुकता से उन्मुक्त नहीं रखा । एक दिन पुत्री के विचारों को जानने के लिए पिता ने मधुर कोमल स्वर में पूछा—"प्रिय पुत्री, तुम किसे अपना वर धारण करोगी ?" युवती आण्डाल ने कठोर वाणी में उत्तर दिया, "यदि मैंने यह सुना होता कि मुझे किसी नश्वर व्यक्ति से विवाह करना है तो मैं कभी जीवित न रहती ।" इस पर पिता ने पुनः पूछा—"प्रिय पुत्री ! तो मैं क्या करूँ ?" पुत्री ने बड़े उत्साह और वीरता से उत्तर दिया—"मैं तो केवल अपने आराध्य देव के साथ विवाह करूँगी ।" तब पेरियालवार ने भगवान् के सभी स्वरूपों का क्रमशः विवरण आरम्भ किया और पुत्री की उत्कण्ठा और प्रतिक्रिया देखने लगे । पिता ने देखा कि सन्त आण्डाल श्रीरंगम् के आराध्य श्री रंगनाथन् (जो दक्षिण-भारत में कावेरी के तट पर स्थित है) को प्रधानता दे रही है । भगवान् के इस स्वरूप की भव्यता ने सन्त आण्डाल को कुमारी के स्वाभाविक संयम की परिधि को लाँघने पर विवश कर दिया । तत्पश्चात् कुमारी आण्डाल आराध्य के साथ प्रणय-बन्धन में बँधने के मधुर और सुन्दर स्वप्न देखने लगी ।

किन्तु आलवार का वात्सल्यमय हृदय इस योजना की क्रियात्मकता को सोच कर बेचैन रहता, क्योंकि दैवी शक्ति के अद्भुत चमत्कार के बिना यह सब सम्भव नहीं था । भक्त को इस स्थिति में देख कर आण्डाल के आपेक्षित वर भगवान रंगनाथन् स्वयं रात्रि में प्रकट हुए और आलवार को आदेश दिया कि वह चिन्ता को त्याग कर आण्डाल को मन्दिर में उपस्थित करे जहाँ वह उसे परिणीता के रूप में अंगीकार करेंगे । इस दैवी आदेशानुसार सन्त आलवार अपनी प्रिय पुत्री को दुलहिन के शृंगार में अपने कुछ भक्तों के साथ आराध्य के समक्ष ले गए । इस दिव्य आकर्षण-कन्द्र के अवलोकन-मात्र से सन्त आण्डाल का समस्त शरीर, आत्मा और हृदय आराध्य के प्रेम में ओत-प्रोत हो गया । वह सीधे आराध्य की उस आकर्षक प्रतिमा के निकट जाकर खड़ी हो गयी । एकत्रित जन-समूह के आश्चर्य की सीमा न रही और दुष्ट-जनों के खेद का पारावार न था जब दिव्य देवी आण्डाल की नश्वर काया अदृश्य होकर आराध्य देव में समा गयी । इस असाधारण घटना से स्तब्ध

सन्त आलवार को दैवी वाणी ने सान्त्वना दी—"ओ भक्त, अब तुम मेरे श्वसुर हो। अपने घर में स्थित आण्डाल-सहित मेरी प्रतिमा पर प्रेम से नित्य जयमाला चढ़ाओ।" इस दैवी आदेश को पाकर वह सन्त भारी मन से अपने नगर को लौट गया। प्रिय पुत्री के वियोग में अपना एकाकी जीवन उसे दूभर लगता, परन्तु उस भक्त ने अपने को पूर्णतः दैव-इच्छा पर आश्रित कर दिया। अपने निवास-स्थान को भगवद् भक्ति के स्थल में बदल श्री रंगनाथन् और देवी आण्डाल की प्रतिमाएँ स्थापित की और जीवन-पर्यन्त उनकी आराधना में रत रहा।

मानव-मंच पर दैवी गायिका आण्डाल का आध्यात्मिक नाटक इस प्रकार समाप्त हुआ। आज भी समस्त दक्षिण-भारत में, विशेषकर वैष्णव अनुयायियों के घर-घर मे इस पवित्र नाम का स्मरण श्रद्धा-भक्ति के साथ किया जाता है। यह देवी इस धरातल पर आराध्य के सम्मुख भक्त-द्वारा पूर्ण आत्म-समर्पण के सिद्धान्त को पुनर्जीवित करने के लिए अवतरित हुई। वह स्वयं परब्रह्म परमेश्वर के प्रति अनन्य भक्ति का जीवित प्रमाण थी। अपने दैवी प्रणयी हृदय के स्वाभाविक स्वामी इष्ट को देवी आण्डाल ने पहले अपने शरीर से छूकर सुगन्धित हुई पुष्प-मालाओं मे प्रेमवश किया तत्पश्चात् अपनी भक्ति के उन्माद से ओत-प्रोत अपने अमर गीतों की मालाओं से बाँधे रखा। दैवी प्रेम ही सन्त आण्डाल का आहार था। उसका भोजन, जलपान, जीवन के अन्य साधन और आनन्द सभी कुछ भगवद्भक्ति और प्रेम था। दिन-प्रति-दिन और क्षण-प्रति-क्षण इस सन्त महिला में अपने आराध्य के प्रति प्रेम और श्रद्धा-भक्ति बढ़ती और गम्भीर होती गयी और अन्ततोगत्वा उसका कोमल नश्वर शरीर उस विश्वव्योपी अमर शक्ति में समा गया जिसकी वह अभि-व्यक्ति थी। सन्त आण्डाल का काव्य उपनिषदों के सम्पूर्ण ज्ञान का प्रतिबिम्ब है और उसकी विशुद्ध पवित्रता उसमें प्रमाणित है। इन कविताओं में उस अवधि का लेशमात्र भी उल्लेख नहीं, जब इस सन्त महिला को आत्मानुभूति नहीं हुई थी। सन्त आण्डाल का काव्य उपनिषदों के पंचम तत्त्व का सार है। उसकी निष्कलंक निर्मलता और पवित्रता इस काव्य में प्रतिबिम्बित है, जिसमें आत्मानुभूति से पूर्वकृत अपराधों, त्रुटियों और कुकर्मो का संकेत माना भी नहीं जाता। इस सन्त महिला का अपने प्रणयी इष्टदेव के सम्मुख आत्म-समर्पण इतना पूर्ण था कि उसमें ईर्ष्या, मनोकामना, मानवीय दुर्बलता और अपवित्रता के लिए कोई स्थान ही नहीं रहा था। वह कृष्ण-प्रेम की प्रज्ज्वलित ज्वाला थी और उसका समस्त जीवन दैवी प्रणय के लिए आकांक्षा का प्रस्फुटन एवं पूर्ति था। प्रस्तुत काव्यानुवाद इस देवी का अपने उपास्य कृष्ण के लिए प्रेमोन्माद का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

(१) हे दीप्यमान गोकुल-निवासिनी गोपिकाओ,
अब यह पुनीत धनुष रजत दीप्त रातों में
हम सब पवित्र स्नात भाग रहीं उस ओर
जहाँ है नन्द का सजीला छोटा कुमार
यशोदा का वीर पुत्र ! सुन्दर नेत्रोंवाला
नील वर्ण, कमल नयन, शान्त तेजमय मुखाकृति
वह प्रभु नारायण ! वही है समर्थ केवल
आकुल प्राणों की चाह—आनन्द देनेवाला !

(२) हे विजयी ! सामर्थ्यवान कामदेव ! मैं तुझसे विनती करती हूँ। मेरी पीड़ा को समझो। शरीर क्षीण है, केश अस्त-व्यस्त हैं। नेत्र कान्ति-हीन हैं। एक समय आहार करती हूँ। हे देव, तुमसे केवल एक बात कहनी है। केवल मुझे जीवित रखने के लिए इतना वरदान दे दो कि मैं प्रभु कृष्ण के चरणों का स्पर्श पा सकूँ।

(३) हे कोयल ! कितने दिनों से मेरे नेत्रों ने पलकें नहीं झपकायीं। अपार वेदना के अथाह सागर में वैकुण्ठनाथ के बिना मैं नौका-विहीन हो विपत्ति-ग्रस्त हो रही हूँ। तुम तो जानती हो, प्रेमियों को पीड़ा देनेवाली विरह-वेदना को। तुम क्या गरुड़-ध्वजावाले स्वर्ण-वर्ण मेरे प्रभु को नहीं बुला दोगी ?

(४) हे सदय मेघ ! मेरी कान्ति, मेरा रूप, मेरे वलय, मन और नींद, सबने मुझे त्याग दिया है ताकि मैं नष्ट हो जाऊँ। शीतल झरनोंवाले वेंकटाचल-निवासी गोविन्द के पवित्र गुणों का गान कर क्या मैं अपने जीवन को नहीं काट सकती ?

(५) लज्जा अब व्यर्थ है। सभी जान गये हैं। मेरे जीवन की रक्षा के लिए मुझे मेरी पिछली अवस्था में ले जाने के लिए यदि शीघ्र ही कोई उपाय निकालना चाहते हो तो मुझे गोकुल ले चलो।

(६) इस संसार में नन्दगोप के निर्दयी, कठोर पुत्र के चरणों से कुचली गई हूँ। लज्जा खो बैठी हूँ। सुध-बुध खो बैठी हूँ। ताम्र-वर्ण नन्द-पुत्र के चरणों से पुनीत धरती की धूल लाकर मेरे शरीर पर मलो, तभी ही केवल मेरे प्राण, मेरे शरीर से विलग नहीं होंगे।

यह संक्षिप्त जीवनी एक बंगाली भक्त और कवि श्री देवेन्द्रनाथ सेन की श्रद्धांजलि के साथ समाप्त की जा सकती है :

भावना से मुक्त फिर भी भावना से पूर्ण हो
स्वतः निसृत झरने की भाँति तुम, हे सन्तात्मा !
हृदय के निभृत कोने से स्फटिक-सम
पावन प्रेम के भावोन्माद के साथ फूट पड़ी हो।
हे पंछी ! भक्ति के ऊँचे शिखर पर
उल्लास के पंख फैलाये
दिव्य स्वरों में तुम्हारे गीतों का पान कर
धरती-आकाश सब झूम उठे हैं।
प्रेम यह लौकिक न था
कोई नारी आत्मा लौकिक प्रेम पर
इतनी आकुल न हुई।
तुमने तो स्वयं परमात्मा को वरण किया
दृष्टि और बुद्धि से अगम्य।
रवि में रवि-रश्मि-सम तुम लीन हो गयीं, हे देवी !

परिच्छेद ५

अक्क महादेवी

ईसा की बारहवीं शताब्दी का मध्य काल, कन्नड़ प्रदेश के इतिहास का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण युग माना गया है। इसी युग में धार्मिक महापुरुषों और समाज-सुधारकों ने अपने आपको शैव मत एवं दर्शन को सतेज बनाने में व्यस्त रखा। ऐसे सुधारकों में बसवेश्वर तथा उनके सहयोगी परम अध्यात्मवादी और धर्म-प्रचारक अल्लम प्रभु प्रमुख थे। इन महानुभावों ने शैव मत तथा दर्शन को नया और अनुशासनात्मक स्वरूप दिया। इस काल के प्रकाशवान् नक्षत्रों में अक्क महादेवी का नाम अग्रगण्य है। महादेवी ने अपना जीवन 'शरण[1] सति लिंग[2] पति' (जिसमें आराधक पत्नी-रूप में अपने आराध्य शिव की अर्चना करता है) के धार्मिक सिद्धान्तों के अनुरूप ही बिताया है। 'अक्क' कन्नड़ भाषा का एक सम्मान-सूचक शब्द है जो व्यक्ति-विशेष के नाम से पहले प्रयुक्त किया जाता है। अक्क शब्द का शाब्दिक अर्थ 'बड़ी बहन' होता है। महादेवी निस्सन्देह आध्यात्मिक रूप से बहुत ऊँची भाव-भूमि पर पहुँच गयी थीं और संसार ने उनके इस महत्त्व को स्वीकार किया। वैसे जीवन में तो वे वीरशैव मतावलम्बी परिवार की सबसे छोटी सदस्या थीं। महादेवी ने भगवान् शिव की अडिग भक्ति और एकाकी उपासना को ही महत्त्व दिया। इसके हित वे राजमहलों की सुख-सम्पदा को ठुकरा, पारिवारिक बन्धनों को तोड़ प्रभु की खोज में दर-दर भटकती रहीं। आराध्य की खोज में भटकनेवाली इस वियोगिनी को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, किन्तु अन्ततोगत्वा उन्हें अपना लक्ष्य मिल ही गया।

---

[1] **वीरशैव मत के ग्रन्थों में शरण, माहेश्वर और भक्त आदि शब्द आध्यात्मिक पहुँच के परिचायक हैं। संक्षेप में भक्त का अर्थ है शिव-भक्त या शिवमतावलम्बी। माहेश्वर इससे ऊँचे होते हैं। इनकी श्रद्धा अगाध होती है। वे इस सम्बन्ध में एक विशेष शपथ भी ग्रहण करते हैं। इन सभी से बहुत ऊँचे शरणागत (शरण) होते हैं जो मनसा वाचा कर्मणा अपने आपको भगवान् शिव की सेवा में अर्पित कर देते हैं।**

[2] **'लिंग' अर्थात् शिवलिंग या शिव की मूर्ति। यह शब्द शिव का पर्यायवाची है।**

अपनी अनुभूति की कल्पनातीत अभिव्यक्ति उनकी विशेषता थी। आनेवाली पीढ़ी के लिए निजी अनुभवों पर आधारित उनकी उक्तियाँ कन्नड़ भाषा के लयात्मक गद्य मे 'वचन' के नाम से सुरक्षित है। इस प्रकार की रचनाओं का वीरशैव मतावलम्बियों-द्वारा बहुत अधिक प्रचार हुआ। यह साहित्य कन्नड़ भाषा की लोकप्रिय निधि है। कन्नड में 'वचन' लिखनेवालों की संख्या बहुत है। प्राचीन प्रशसक और आधुनिक आलोचक, दोनों ही ऐसे लेखकों मे महादेवी को अग्रगण्य मानते है। भावों की गहराई और सघन अनुभूति महादेवी के 'वचनों' की विशेषता है। इन उक्तियों[1] के आधार पर महादेवी के आध्यात्मिक जीवन और तप की एक झाँकी देखने को मिलती है।

महादेवी 'उडुतडि' नगर में रहनेवाले शैव दम्पति[2] की सन्तान थीं। कौशिक नाम का एक राजा इस नगर में राज्य करता था। महादेवी जब सयानी हुई तो उनकी सुन्दरता अद्वितीय रूप से निखरी। एक बार राजकुमार कौशिक व्यायाम-स्थल से हाथी पर चढ़ कर महल को लौट रहा था। उसकी दृष्टि अचानक अपने द्वार पर बैठी महादेवी पर पड़ी। कौशिक तत्काल ही महादेवी के अपूर्व सौन्दर्य पर आसक्त हो गया। वह अपने पर नियन्त्रण नही रख पाया। हाथी रोक दिया गया। उसके पीछे चलनेवाला जुलूस भी रुक गया। महादेवी जो अब तक अबोध-सी राजसी ठाट-बाट देख रही थीं, यह जान गयी कि राजकुमार कौशिक की नजर उन्हीं पर है। वह तुरन्त घर में घुस गयी। कौशिक का मन उसके आपे में न था। ऐसे समय उसके मन्त्रियों ने उसकी सुधि ली और जैसे-तैसे उसे राजमहल तक ले गये। लेकिन राजकुमार महादेवी पर बहुत अधिक आसक्त हो गया था। मन्त्रियों को उसके विवाह का प्रस्ताव लेकर महादेवी के पिता के पास जाने पर विवश होना पड़ा। उन्होंने कौशिक की महादेवी के प्रति आसक्ति का विशद् वर्णन किया। यही नही, उन्होने महादेवी के

---

[1] 'योगांग त्रिविधि' नामक एक पुस्तक भी अक्क महादेवी-द्वारा लिखी बतायी जाती है। इस पुस्तक में तीन पंक्तियोंवाले ६७ सरस पद हैं जिनमें सांकेतिक भाषा के प्रयोग-द्वारा आध्यात्मिक विकास की अग्रिम स्थिति दिखायी गयी है।

[2] हरिहर ने, जिनकी रचना 'महादेवी की कहानी की रूपरेखा' का संक्षिप्त रूप हमने यहां दिया है, इसमें महादेवी के माता-पिता का नाम शिवभक्त और शिवभक्ता दिया है। चामरस के अनुसार उनका नाम निर्मल और सुमती था, किन्तु निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि उनके मूल नाम यही थे।

पिता को धमकाया भी कि राजकुमार की आज्ञा न मानने पर छोटे-बड़े सभी को कठोर दण्ड मिलता है। महादेवी के माता-पिता सीधे-सादे और भीरु स्वभाव के थे। उन्होंने महादेवी से अनुरोध किया कि वह राजकुमार से विवाह कर ले और उसकी धन-सम्पदा की स्वामिनी बन जाये। परन्तु राजकुमार शैव नहीं था। किसी भवि (जो शैव न हो) से विवाह करने के प्रस्ताव को महादेवी ने बड़ी दृढ़ता से ठुकरा दिया।

बचपन से ही महादेवी 'चेन्न मल्लिकार्जुन' की उपासक थी। उनका आराध्य ही उनके हृदय का एकमात्र स्वामी था। इसलिए वह किसी संसारी पति के साथ ब्याह रचाने के पक्ष में नहीं थीं। कौन जाने शायद विवाह के लिए विवश किये जाने पर ही उन्होंने नीचे लिखे वचन[1] रचे थे—

"ओ माँ ! मेरा स्नेह समर्पित उस अनुपम को
जिसका कभी नहीं होता क्षय ।
जिसकी आकृति सुनी न देखी,
और कि जिसको नहीं मृत्यु का किंचित् भी भय ।।
"ओ माँ ! मेरा स्नेह समर्पित उस अनुपम को,
जिसका जग ने आदि, मध्य, अवसान न जाना
अंग, रंग, आकार सदा से रहा अजाना ।।
"ओ माँ ! मेरा स्नेह समर्पित उस अनुपम को
जो कि कहाता आदि अजन्मा
भय उसने किससे कब माना ।।
मेरा उस प्रियतम से स्नेह कि जिसका कोई
अब तक हमने कुल, कुटुम्ब, परिवार न जाना।
देश नहीं है ऐसा कोई जहाँ रहे वह
और नहीं सामन्त, नृपति कोई भी उसका
वह चेन्न मल्लिकार्जुन ।
सुन्दरता का महा उदधि है ।
मेरा पति वह, मेरा पति है।

---

[1]. अंग्रेजी के माध्यम से हुए इस भावानुवाद में मूल वचन का-सा लालित्य लाना कठिन कार्य है। मूल के समान तुकान्त पदावली और भावों की मौलिकता नहीं आ पायी है ।

आग लगा दो ऐसे पति को,
जिसका क्षय होगा अथवा जो
काल-कवल बन मिट जाएगा ।।"

ऐसी भावना रखनेवाली महादेवी कौशिक से विवाह कैसे कर सकती थीं, विशेष कर जब वह पूर्ण रूपेण भवि था ।

हरिहर के अनुसार कौशिक के दूतों ने लौट कर राजा से अपनी असफलता की कहानी कही । उन्होंने कहा कि महादेवी सांसारिक सुख-सम्पदा की भूखी नहीं है । वह तो अपने आराध्य शिव की आराधना मे मगन है । इसीलिए वह किसी से भी चाहे वह शिवभक्त हो अथवा भवि विवाह नहीं करेगी । इस समाचार ने कौशिक की कामाग्नि को और भी प्रज्वलित किया । उसने अपने मन्त्रियों को आदेश दिया, "जैसे भी हो समझा-बुझा कर अथवा बल-प्रयोग-द्वारा उसे (महादेवी को) लाया जाये । जो कुछ भी उसकी माँग हो, उसकी पूर्ति के लिए उसे वचन दे दो । परन्तु उसे लाना अनिवार्य है ।" राजकुमार के मन्त्री महादेवी के माता-पिता से पुनः मिले । उन्होंने घोषित किया कि राजकुमार की आज्ञा से महादेवी के माता-पिता मार डाले जाएँगे यदि वे अपनी कन्या का विवाह राजकुमार से नहीं करेंगे । मन्त्रियों ने वृद्ध दम्पत्ति को समझाया कि वे राजकुमार को अपनी कन्या सौंप कर सुख-सम्पत्ति का भोग क्यों नहीं करते । यह धमकी बूढ़े माता-पिता को डराने के लिए पर्याप्त थी । उनके पैरों से धरती खिसक गयी । उनकी आँखो से पानी बहने लगा । उन्होंने कहा "बेटी! तुम्हारा हठ हम वृद्ध दम्पत्ति को क्रूर मृत्यु दिला रहा है । तुम्हारी भक्ति भी अनोखी है । क्या तुम नहीं जानतीं कि पहले भी परम पवित्र शिव-भक्त महिलाओं को 'भवि' के साथ विवाह-बन्धन में बँधना पड़ा है ? आखिर तुम हमें इस भाँति क्रूर मृत्यु के हवाले क्यों कर रही हो ? बेटी वही करो जो अन्य लड़कियाँ करती आयी हैं । राजकुमार कौशिक को अपना पति स्वीकार कर लो ।"

यह कथन महादेवी को अप्रत्याशित लगा । यदि केवल महादेवी के निजी प्राणों की समस्या होती तो वह अन्तिम क्षणो तक अपनी बात पर डटी रहतीं, परन्तु उन्हें अपने माता-पिता के प्राणों की रक्षा करना अनिवार्य लगा । शिव-भक्त माता-पिता की रक्षा के लिए उन्होंने वह निश्चय किया जो शायद वह अपने लिए कभी न करतीं । उन्हें एक पुराने सन्त की कहावत याद आयी, "हमें किसी भी मूल्य पर शिव-भक्त की रक्षा करनी चाहिए । किसी भी बिपत्ति और यातना को सह कर शरणागत की रक्षा करनी चाहिए ।" इस प्रकार

अपने दृढ़ निश्चय पर आरूढ़ महादेवी ने एक महत्तम त्याग—विवाह की स्वीकृति के रूप में—किया। उन्होंने अपने माता-पिता को शान्त किया और राजकुमार के मन्त्रियों से कहा, "मुझे विवाह का प्रस्ताव स्वीकार है, किन्तु मेरी कुछ शर्तें हैं। मैं अपनी रुचि के अनुसार शिव-भक्ति में लीन रहूँगी; अपनी इच्छा के अनुसार 'माहेश्वरों' का सत्संग करूँगी; मैं अपनी इच्छानुसार अपने गुरु की सेवा करूँगी; मैं अपनी मर्जी से ही तुम्हारे राजकुमार के साथ रहूँगी और मैं इन शर्तों को तोड़ने का अपराध केवल तीन बार ही क्षमा करूँगी।" मन्त्री यह बात प्रसन्नतापूर्वक मान गये।" यही नहीं उन्होने इन शर्तों को एक कागज़ पर लिख भी लिया। कौशिक ने जब यह सुना तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने महादेवी के माता-पिता को बहुत-सी सम्पत्ति दी तथा उत्सुकता से विवाह के शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा करने लगा।

वह दिन भी आया जब विवाह के निमित्त सुन्दर और बहुमूल्य वस्त्र पहना कर महादेवी के अंग-प्रत्यंग रत्न-जड़ित आभूषणों से सजाये जाने लगे, किन्तु महादेवी के हृदय में दुःख और पश्चाताप छाया हुआ था। उस समय महादेवी की वही दशा थी जो बलिदान के लिए सजा-धजा कर ले जाये जानेवाले पशु की होती है। उनकी यह वेदना और भी तीव्र थी क्योंकि वह स्वयं ही उक्त बलिदान के लिए तैयार हुई थीं। इस प्रकार एक विवश वधू को अत्यधिक उत्सुक वर के हाथों निश्चित समय और स्थान पर हुए विवाह के बाद सौंप दिया गया। अब महादेवी कौशिक के राजमहलों में रहने के लिए विवश थी।

उन्हें केवल एक बात का सन्तोष था कि वह सब कुछ लुट जाने की परिस्थिति में रह कर भी कुछ बचा सकी थीं। वह नित्यप्रति अधिक से अधिक समय भगवान् की आराधना में बिताती थी। वे अपने हाथों में शिवलिंग रखतीं और अत्यधिक तन्मयता से उसको देखती रहतीं। वे पूजन के उपरान्त शिवलिंग को हृदय से लगातीं और चेन्न मल्लिकार्जुन की भक्ति से ओतप्रोत गीत गाती। वे सदा यही प्रार्थना करतीं कि हे प्रभु! उस रस्सी को काट दे जिसने उसे एक 'भवि' के बन्धन में बाँध रखा है। इसके उपरान्त वे 'शरणों' को भोजन करातीं, उनके साथ सत्संग करतीं तथा गूढ़ आध्यात्मिक अनुभवों की अभिव्यक्ति करनेवाले पद (वचन) गातीं। परन्तु ऐसी आनन्ददायक स्थिति अधिक समय तक नहीं रहने पाती थी। सूर्यास्त के साथ ही इस पृथ्वी पर तथा उनकी अध्यात्मवादी प्रवृत्तियों पर अन्धेरा छा जाता। उन्हें राजकुमार कौशिक बुला भेजता। बहुत ही विवश होकर वे प्रभु-भक्तों को विदा करती तथा क्रोध और घृणा दर्शानेवाला ताजा पद गातीं जिसमें उनकी विचित्र दशा का उल्लेख होता था। एक ओर तो संसार की साधारण जिन्दगी

थी और दूसरी ओर थी प्रभु-भक्ति। वह इधर से उधर आने-जाने के लिए विवश थीं। वे अपने गहने उतार फेंकतीं और एक मटमैली-सी साड़ी पहिन कर बड़े ही दुःखी हृदय से वधू के कक्ष में जाती जहाँ बैठा कौशिक उनकी उत्सुकता से प्रतीक्षा करता रहता था।

राजकुमार कौशिक महादेवी पर इस तरह आसक्त था कि उसे इस प्रकार की उपेक्षा भी अच्छी लगती थी। महादेवी का कौशिक से मिलन उसी प्रकार का था जैसे पारस मणि से लोहे की किसी मूर्ति का स्पर्श हो जाए और लोहा स्वर्णसम कान्तिवान् हो उठे। अक्क महादेवी का एक वचन, जिसमें प्रभु की प्राप्ति के लिए उनकी आकुलता बहुत स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती है, इस प्रकार है --

मेरे प्रभु ! सुनिए यदि रुचि हो
किन्तु अरुचि हो तो मत सुनना
मुझे नहीं सन्तोष मिलेगा, बिन
तेरी गुण-गरिमा गाये ।।

मेरे प्रभु ! स्वीकार करो यदि रुचि हो अर्चन
अथवा दो ठुकरा यह मेरी सादर पूजा
किन्तु नहीं सन्तोष मिलेगा
मुझे बिना कर पूजा पाये ।।

मेरे प्रभु ! दो स्नेह-दान
यदि रुचि हो, अथवा त्यागो मुझको
किन्तु नहीं सन्तोष मुझे बिन
तुझको युगल पाश में बाँधे ।।

मेरे प्रभु ! देखो तुम मुझको,
यदि रुचिकर हो मुझे देखना
किन्तु नहीं सन्तोष मुझे बिन
तुम्हें निहारे नयना साधे ।।

मेरे स्वामी ओ ! चेन्न मल्लिकार्जुन
मैं हूँ तेरी भक्त पुजारिन
यह सब कह सुन कर ही मुझको
मिलना है आनन्द अनधिक ।।

जहाँ महादेवी का प्रभु के प्रति आध्यात्मिक लगाव था, वहाँ कौशिक का उनके प्रति सांसारिक। कौशिक ने भी अपनी रुचि की वस्तु के प्रति इसी प्रकार की अभिव्यक्ति की होगी।

महादेवी इस बेमेल बन्धन को किस प्रकार सहती रही होंगी। कवि कहता है कि महादेवी की दशा उसी प्रकार हो गयी थी जैसे अशुभ स्वप्न में किसी व्यक्ति की हो जाये। दैहिक कष्ट की निष्क्रिय साक्षी के रूप में उनकी आत्मा थी। उनके वीतरागत्व की यह विचित्र स्थिति थी।

इस प्रकार कुछ समय बीता। एक दिन कुछ माहेश्वर बहुत दूर से राजमहल में आये और महादेवी को खबर करायी। महादेवी उस समय आराम कर रही थीं। कौशिक ने नौकर को यह कह कर लौटा दिया कि कोई-सा भी दिन खाली नहीं जाता जब इस प्रकार के भक्तगण न आयें। कम से कम एक दिन तो महादेवी को आराम से रहने दो। यह सुन कर महादेवी जाग गयीं। वह भक्त के अपमान पर कौशिक से बहुत क्रुद्ध हुईं तथा जो कुछ हुआ था, उस पर पश्चात्ताप कर रोने लगीं। यह कौशिक का पहला अपराध था जिसे पश्चात्ताप करने पर महादेवी ने क्षमा कर दिया। इसके तुरन्त बाद ही कौशिक ने दूसरा अपराध किया। एक दिन प्रातः जब महादेवी विधि-विधान से पवित्र होकर प्रभु की भक्ति में लीन थीं, कौशिक कामोत्तेजित होकर उनके महल में आ गया। उसने महादेवी को नज़र भरकर देखा। वह उनकी अत्यधिक सुन्दर काया को देख कर मस्त हो गया। उसे होश न रहा और दौड़ कर उसने महादेवी को अपनी भुजाओं में बाँध लिया। महादेवी के आध्यात्मिक चिन्तन और सम्पर्क-स्थापन में विघ्न पड़ा। उन्होंने घूम कर देखा तो कौशिक दिखायी दिया। उन्हें असह्य पीड़ा हुई। उन्हें लगा मानो उन्हें किसी ने छुरा भोंक दिया हो। उन्होंने अत्यधिक निराशा और क्रोध में कटु वचन कहे। उसे जो कि 'भवि' था शिव-आराधना में डूबी हुई महादेवी को छूने का क्या अधिकार था? खैर, यह कौशिक का दूसरा अपराध था।

कहा जाता है कि एक अन्य अवसर पर जब महादेवी अपने पति के साथ एकान्त में थीं, उनके गुरु जी राजमहल में पधारे। वह उस समय उचित वेश-भूषा में न थीं, किन्तु वह तुरन्त अपने गुरु के चरणों में लोट जाना चाहती थीं। कौशिक को बड़ी शर्म आयी। क्रोधित होकर उसने महादेवी के शेष वस्त्र भी खींच लिये। उसने कहा—"छोड़ो, छोड़ो, तुम्हारे समान परम भक्त और तपस्विनी को वस्त्रों की क्या आवश्यकता है।"

यह घटना उनके सम्बन्ध-विच्छेद का कारण बनी।[1] तीन अपराध पूरे हो गये। महादेवी के प्रति अत्यधिक आसक्ति और अपने बन्धन में रखने की बलवती इच्छा तथा यथोचित प्रयत्नों के उपरान्त भी कौशिक-द्वारा विवाह के नियमों का तीन बार उल्लघन हुआ। वह महादेवी और माहेश्वरों के बीच बाधक बना। उसने महादेवी की शिव-आराधना मे विघ्न डाला और गुरु के चरण-स्पर्श करने के लिए आतुर महादेवी को अपमानित किया। इस प्रकार महादेवी को अपनी चिर इच्छित स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी। वह केवल अपनी हथेली में शिव लिंग लेकर कौशिक के महल से विदा हुईं। सम्बन्धियों का मोह अथवा दुःख की अनुभूति अब उनके लिए भूली कहानी बन गयी थी। नयी-नयी मिली स्वतन्त्रता से वह बहुत अधिक प्रसन्न

---

[1] चामरस के 'प्रभुलिंगलीले' में कुछ और ही कहा गया है। चामरस के अनुसार जब महादेवी को यह पता चला कि कौशिक उनसे विवाह करना चाहता है तो उन्होंने यह शर्त रखी कि राजकुमार उनका प्रेम-पात्र बनने के पूर्व स्वयं उनके सामने आकर शपथ ले कि वह उनके बन्धनों को ध्यान में रखेगा। जब कौशिक ने इस प्रकार की शपथ ले ली तो महादेवी ने उसकी भेंट स्वीकार कर ली और वह उसके महल में चली गयीं। वहाँ महादेवी ने यह यत्न किया कि कौशिक भक्त बन जाये पर कौशिक अपना मत त्यागने को तैयार नहीं था। इस पर महादेवी ने उसे उत्तर दिया कि वह कौशिक के साथ नहीं रहेंगी। इस प्रकार महादेवी ने कौशिक के चंगुल से छुटकारा प्राप्त किया और अपने गहने आदि उतार कर कौशिक को दे राजमहल से चली गयीं। कौशिक इस व्यवहार से स्तब्ध रह गया। उसने सोचा, महादेवी का विवेक जाता रहा है, इससे महादेवी के प्रति उसकी वासनात्मक प्रवृत्ति का अन्त हो गया और उन्हें बलपूर्वक रोकने का विचार त्याग दिया।

महादेवी ने कौशिक के साथ वैवाहिक जीवन कुछ दिनों तक व्यतीत किया या नहीं, इस प्रश्न पर कई बार घोर विवाद हो चुका है। सभी बातों को ध्यान में रख कर कई विचारकों का मत है कि हरिहर की कविता में व्यक्त विचार, जो सबसे पूर्व के और स्वाभाविक हैं, अधिक मान्य हैं। हमें यह बात ध्यान में रख लेनी चाहिए कि माता-पिता के प्राणों की रक्षा के लिए कौशिक के साथ विवश होकर विवाह कर लेने से महादेवी की आध्यात्मिक उन्नति पर बट्टा नहीं लगता। हरिहर ने उनके आत्मबलिदान की कहानी इतने अच्छे ढंग से लोगों को समझायी है जिससे उनका चरित्र दुगुना चमक उठा है।

थीं। उन्होंने अपने माता-पिता और गुरु से विदा ली और अकेले ही अपने नगर से रवाना हो गयीं, त्याग की साक्षात् प्रतिमूर्ति बन कर।

हरिहर के अनुसार महादेवी ने सीधे परमप्रिय चेन्न मल्लिकार्जुन के निवास-वाले पवित्र पर्वत श्रीशैल की राह ली। बड़ी कठिन यात्रा समाप्त कर वह अपनी यात्रा के लक्ष्य पर पहुँच गयीं। वहां वह एकान्त में बैठ प्रभु की आराधना में लग गयीं। वह कभी गुफा मे बैठतीं तो कभी किसी जलधारा के किनारे। कभी किसी निकुंज मे मिलतीं तो कभी फूलोंवाले बाग में। हर समय वह भगवान शिव की आराधना में मग्न रहतीं, लेकिन उनके पिछले जीवन की परछाईं यहाँ भी उनका पीछा करती रही। उनके माता-पिता यहाँ आये। अपनी सुकुमार बेटी को इस प्रकार कठोर तपस्या में रत देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। महादेवी पर उनके समझाने-बुझाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। महादेवी ने कहा, "वह कम से कम एक 'भवि' के बन्धन से मुक्त हैं और अब शिव-भक्ति कर रही है।" आश्चर्य मे डूबे माता-पिता दृढ़-संकल्पा महादेवी को छोड़ कर चले आये किन्तु महादेवी को मिलनेवाले सांसारिक प्रलोभन अभी पूरे नहीं हुए थे। अब प्रेम-दीवाना कौशिक नये रूप में महादेवी के पास आया। उसने सोचा कि यदि वह शैवमतावलम्बियों-सा वेश बना कर जायेगा तो महादेवी उससे प्रेम करने लगेगी। इसलिए वह पवित्र रुद्राक्ष की माला पहन, भस्म लगा, महादेवी के चरणों मे गिर गया और उसने प्रार्थना की कि वह अब भक्त हो गया है, इसलिए, महादेवी को उसे क्षमा कर देना चाहिए। यह अनहोनी घटना देखकर, हरिहर कहते हैं, कि महादेवी ने अपना यह प्रसिद्ध पद (वचन)[1] कहा—

प्रभु ! तेरी माया घर है आय;
मैंने यत्न किये बहु त्यागूँ।
पुनि-पुनि यह लिपटाय ॥
योगिन बनी वियोगिन के हित
पूजक हेतु पुजारिन।
धर्म-ध्वजा सन्तन की बन गयी
नैसर्गिक मन-भावन ॥
ऊँचे पर्वत पर चढ़ बैठी,
तहँ माया चलि आयी।

[1]. यह छायानुवाद हरिहर-द्वारा प्रस्तुत 'वचन' का अनुवाद मात्र है।

निर्जन वन में रहूँ अकेली ।
माया पहुँची धाई ।।
छोड चली घर-वार सनेही ।
जगत न छोड़े साथ ।।
प्रभु चेन्नमल्लिकार्जुन,
द्रवहु दया कर नाथ ।
माया अब मोहि ,रही डराय ।।

महादेवी ने निस्सन्देह माया को जीत लिया था। वे सांसारिक मोह-माया से बहुत ऊँची थीं। उन्होंने कौशिक का वासनामय दुराग्रह ठुकरा दिया कि भक्त वेश में रह कर भी वह महादेवी को प्राप्त नही कर सकता। कौशिक ने अन्तिम शस्त्र से काम लिया। वह बहुमूल्य वस्तुएं भेंट मे अर्पित कर शैव भक्तगणो से बोला कि उसकी पत्नी ने केवल इसीलिए उसे त्यागा था कि वह 'भवि' है। अब वह भक्त है। अतः उसका अनुरोध मान कर भक्तगण महादेवी को अपने घर लौट जाने के लिए बाध्य करें। माहेश्वरों ने उसकी इस प्रार्थना को उचित मान कर महादेवी को बुला भेजा। जब दूत महादेवी के पास पहुँचे तो उन्होंने देखा कि वे ध्यान-मग्न अवस्था में बैठी है। उनकी हिम्मत न हुई कि वे महादेवी से कुछ कहें। अतः वे लौट आये। माहेश्वर स्वयं वहां गए और महादेवी को देखते ही उन्होंने महादेवी की आध्यात्मिक महत्ता को स्वीकार कर लिया। उन्होने कौशिक से कहा कि वह लौट जाये, क्योंकि महादेवी के निर्मल हृदय में उसके लिए कोई स्थान नहीं है।

कुछ दिनों बाद सांसारिक जीवन से महादवी का मन ऊब गया। उन्होंने शिव से प्रार्थना की कि वह उन्हें 'भवि'-सम्पर्क-प्राप्त तन से छुटकारा दिला दें। उनकी यह प्रार्थना स्वीकार हो गई और महादेवी दैविक काया लेकर कैलाश पहुँची।[1]

---

[1] कौशिक के बन्धन से मुक्त होकर महादेवी-द्वारा की गयी आध्यात्मिक उन्नति के बारे में हरिहर कुछ नहीं कहते। वे वीरशैव मत के सुधारक बसवेश्वर से हुई महादेवी की भेंट के बारे में भी कुछ नहीं कहते। इसलिए 'प्रभुलिंगलीले' और 'शून्य सम्पादन' से सहायता मिलती है। इनके आधार पर अक्क महादेवी सर्वप्रथम कल्याण, जो कि बसवेश्वर का निवास-स्थान था, गयीं। यह स्थान अल्लम प्रभु का प्रमुख केन्द्र था और यहीं से वीरशैव मत का आन्दोलन चल रहा था। कल्याण से महादेवी श्रीशैल गयीं। श्रीशैल जाने के पूर्व उन्हें कुछ समय अन्यत्र भी बिताना पड़ा, यह तथ्य महादेवी के वचनों से स्पष्ट होता है।

महादेवी की जीवनी कष्टों की गाथा है। उनकी आत्मा की पुकार को सुने बिना संसार ने उन्हें भयानक स्थिति में रहने की सज़ा भुगतने को विवश किया। अपने दृढ़-विश्वास, असाधारण साहस के बल पर ही महादेवी ने अपने बन्धन काटे। कठोर यातनाओं को भोग कर भी उन्होंने संसार को नहीं कोसा। यही नहीं, संसार के विरोधों और कोलाहल ने उन्हे बहुमूल्य शिक्षा प्रदान की। इसके फलस्वरूप महादेवी को पूर्णरूपेण दत्तचित्त होकर विचार करने का अभ्यास हो गया। उनका यह वचन देखिए—

भवन बनाया पर्वत पर तो वन-पशु से डर जाना क्या रे ?
सागर के तट वास किया तो, लहर देख घबराना क्या रे !
बीच बजार अटरिया तेरी, शोर हुआ कुम्हलाना क्या रे !
बुरा, बुराई का क्यों माने, इज्जत पर इतराना क्या रे !
सुन चेन्न मल्लिकार्जुन, जग की बातों पर झुँझलाना क्या रे !
निर्मल रख तन मन अपने को, पोछे का पछताना क्या रे !

आध्यात्मिक ज्ञान मे दिशा-दर्शन प्राप्त करने के लिए महादेवी कल्याण गयी। वहा बड़े-बड़े ज्ञानी व्यक्तियों को आश्चर्य हुआ कि महादेवी ने आध्यात्मिक क्षेत्र में काफी प्रगति कर ली है। कल्याण में रहनेवाले अध्यात्मवादियों के पास महादेवी को सिखाने के लिए कोई विशेष बात नही थी। बसवेश्वर तो इस अल्प आयु की सन्त महिला की आध्यात्मिक सिद्धि से विशेषरूपेण प्रभावित हुए थे। औरों की अपेक्षा इन्ही से महादेवी अपने आराध्य प्रियतम चेन्न मल्लिकार्जुन की प्राप्ति के लिए उपाय जानने आयी थी। उन्होंने तथा अन्य वयोवृद्ध व्यक्तियों ने महादेवी को आशीर्वाद दिया कि उनके हृदय में प्रभु का स्नेह दिन-प्रति-दिन बढ़ता ही रहे और वे परम पद को प्राप्त करें। यह दृश्य विदा का-सा दृश्य था। ऐसा प्रतीत होता था मानो सन्तों ने महादेवी का पाणिग्रहण संस्कार परम प्रभु से कर दिया हो और महादेवी अपने पति के निवास श्रीशैल को जा रही हों। विदा लेते समय महादेवी ने सन्त-समुदाय को आश्वस्त किया कि वे अपने आध्यात्मिक मन्दिर को आंच न आने देंगी—

करुणासागर गुरु ने जन्म दिया है मुझको
और अनेकों शरणागत हैं पालन करते
कृपा दृष्टि की वृष्टि कर रहे
भाव भरा दे क्षीर और घृत,

ज्ञान ध्यान का,
परम अर्थ की मधुराई वह
मुझे खिलाते ।[1]
यह त्रिगुणी अमृत दे तुमने
मुझे जिलाया ।
बड़ा बनाया ।।
ब्याह दिया फिर योग्य कन्त से ।
आज उपस्थित हुए विदाई-हित तुम सब जो ।
भेज रहे हो मुझे प्राण-वल्लभ के घर को ।
सुनो कि है विश्वास अडिग यह
प्रियतम की सेवा मैं प्रतिपल
हे बसवण
भली-भांति मैं नित्य करूँगी ।
यह मेरा सौभाग्य कि ब्याही हूं मैं
औ' पति, प्रिय चेन्न मल्लिकार्जुन ।
सदा सुरक्षित बना रहेगा ।
आंच नहीं आएगी उस पर
लेकर यह विश्वास
लौट जायें सब गुरुजन,
जिनको मैं, करती प्रणाम
हो कर नत-मस्तक !)

अपने प्रियतम के दर्शन की लालसा से महादेवी आध्यात्मिक वधू के रूप में श्रीशैल पर अकेली ही गयीं। उनके आध्यात्मिक प्रेम की तड़पन व्यक्त करनेवाले 'वचन' कन्नड़ भाषा के ललित गीतों में माने जाते हैं। मिलन की उत्कट इच्छा से अभिभूत वधू प्रभु के प्रति कहती है—

आओ प्रियतम !
लगा भाल पर सुरभित चन्दन

---

[1] 'भाव' शब्द के कई अर्थ हैं। यहाँ इसका अर्थ सम्भवत: अवचेतनावस्था में सूक्ष्म रूप 'लिंग' का ध्यान ही है। परमार्थ का प्रयोग अत्यधिक आध्यात्मिक महत्त्व का द्योतक है ।

वस्त्र पहन कर सुन्दर अनुपम
आभूषण से सजे-सजाये ।
तेरा आना जीवनदायी,
इसीलिए मैं पन्थ निहारूँ
उत्सुक होकर नैन बिछाये ।।
आओ प्रियतम !
ओ चेन्न मल्लिकार्जुन ।

लौकिक प्रेम-गाथा की नायिका के समान महादेवी को भी हम आध्यात्मिक प्रेमी के वियोग में तड़पते देखते हैं । परम्परागत शैली मे यद्यपि भाव की दृष्टि से परम्परा का कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी महादेवी का निम्नलिखित वचन देखिए—

मेरा बोझिल मन आकुल है,
प्राण ! सुनो तो,
मन्द समीरण प्रियतम लगती मुझको ज्वाला !
प्राण ! भास्कर-सा तपता है तन वियोग में
ऊँचे नभ में चमक रहा जो चाँद निराला !
चुंगी-चौकीदार सरीखी भटक रही मैं
सुनो सहेली !
जाओ उन्हें मना कर लाओ व्याकुल हूँ मैं
आज अकेली !
प्रिय चेन्न मल्लिकार्जुन
रूठ गया है प्रियतम मेरा !!

प्रेम-तत्त्व की प्रबलता बढ़ी तो सुधि-बुधि खो गयी। महादेवी ने बहुत समय पहले यह जान लिया कि प्रभु सर्वव्यापी है। इसीलिए उन्होंने प्रार्थना की कि वह कण-कण में दिखायी दें—

यह वन निर्जन रूप तुम्हारा
सुन्दर वृक्ष खड़े जो वन में
छाया तेरी—
वृक्षों के ऊपर औ, नीचे,
घूम रहे पशु-पक्षी तेरे !

आ प्यारा मुखड़ा दिखला जा
सकल विश्व में व्याप्त
हृदय-पति प्रियतम मेरे
ओ चेन्न मल्लिकार्जुन !

विशद कल्पना पर आधारित इस प्रार्थना के उपरान्त महादेवी ने अपनी उन्मत्त आंखों से दिखायी देनेवाले सभी पदार्थों की आराधना की—

ओ शुक ! टें टें करनेवाले
तुम्हें मिले वे ?
सहज सुरीली कोयल ! बोलो
तुम्हें मिले वे ?
मधु के हेतु भटकती माखी !
तुम्हें मिले वे ?
सरवर तट के हंस बताओ
तुम्हें मिले वे ?
गिरि की गुफा नृत्य-गृह जिसका मोर !
बताओ, तुम्हें मिले वे ?
अरे बताओ, मुझे बताओ !
वह चेन्न मल्लिकार्जुन है
छिपा कहाँ पर ?

अन्त में कठोर तपस्या के उपरान्त महादेवी को महत्तम स्वरूप के दर्शन प्राप्त हुए। नीचे लिखा हुआ 'वचन' जो कि स्वरूप की भावना को दर्शाता है, इसकी साक्षी देता है—

पाये उस प्रभुवर के दर्शन,
मैंने छविपति के सुवेश में !
घुंघराले थे केश मनोहर
माथे पर मणियों का सुन्दर
मुकुट सुसज्जित,
और थी अधरों पर प्रिय मुस्कान रसीली
चमक रहे थे मोती जैसे दन्त—
पंक्ति में !

चौदह भुवन करें आलोकित जिसके ज्योति-नयन
अति सुन्दर !
पाकर उसका दर्श आज ये लोचन
मुक्त हुए तृष्णा से ।
पाये उस महान् के दर्शन,
जिसे महा मानव भजता है
केवल, पति-सम !
उस महान् गुरु,
प्रभु चेन्न मल्लिकार्जुन
को देखा है
आदि शक्ति के सहित,
सुरक्षित हूँ मैं इससे !

यह थी परमेश्वर की उसके भव्य रूप में झाँकी, परन्तु महादेवी तो इससे भी ऊँची उठ गयी थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने उस निराकार से आध्यात्मिक तादात्म्य स्थापित कर लिया था। उस ज्ञान-गिरा-गोतीत की छवि की महादेवी ने अपने इस सुप्रसिद्ध 'वचन' में अभिव्यक्ति की और इसी के साथ हम यह अध्याय समाप्त करते हैं—

मैंने उसे कहा कब है वह 'लिंग' रूप में
अथवा यह भी वह अभिन्न उससे रहता है,
लेकिन फिर भी एक रूप मैं नहीं मानती
नहीं चाहती उसकी समता करो 'लिंग' से
मैंने उसे कहा कब है वह नहीं अजन्मा
किन्तु नहीं है जन्म, न मैंने माना पल भर भी
मैंने नहीं कहा—यह 'तुम हो अथवा मैं हूँ'
वह चेन्न मल्लिकार्जुन लिंग-रूप लख
मुझे नहीं कुछ भी कहना है !

परिच्छेद ६

लल्लेश्वरी अथवा कश्मीर की लाल दीदी

लल्लेश्वरी जिन्हें लल्ल योगीश्वरी, लाल दीदी अथवा लाल देद भी कहा जाता है, ईसा की १४वीं शताब्दी के कश्मीर की रहस्यवादी कवयित्री थीं । यह अत्यन्त लोकप्रिय थीं और आज भी इनका नाम कश्मीर के घर-घर में सुपरिचित है । अपने देशवासियों की उच्चाकांक्षाओं की मूर्ति यह कवयित्री तत्कालीन कश्मीर में प्रचलित भावात्मक शैव मत की सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता थीं । शैव मत वेदान्त के अद्वैत-दर्शन को अपनाता है, जिसका सार वाक्य है—'अहं ब्रह्मास्मि' । अद्वैत-दर्शन के अनुसार मानवात्मा तत्वत: परमात्मा का ही अभेद अंश है और सृष्टि के परिवर्तनशील विधान में वही एकमात्र सत्य है । वही इस चराचर में परिव्याप्त है । जगत् का आश्रय रूप है और उससे परे भी है । इसीलिए वह सर्व-व्यापक और अनुभवातीत है । यही लल्लेश्वरी के उपदेशों का मूल विषय है । विविध दृष्टान्तों-द्वारा वह इस विचारधारा को अपने पदों में अभिव्यक्त करती हैं । उन्होंने एक आचार्य की भांति किसी मत अथवा सिद्धान्त का विवेचन नहीं किया अथवा किसी दर्शन का प्रतिपादन नहीं किया, अपितु अपनी निजी रहस्यवादी अनुभूतियों की गहराई से अपने विचारों की शिक्षा दी है और सब कुछ अनेक हृदय की पूर्णता से मुखर हो उठता है, वाणी में जीवनदायिनी शक्ति फूँक उठती है और शब्द समय के पंखों पर युगों की उड़ानें भरने लगते हैं । सर रिचर्ड कार्नेक टैम्पल ने अपनी पुस्तक 'द वर्ड्स ऑफ लल्ल द प्रोफेटेस' में पण्डित आनन्द कौल का एक उद्धरण प्रस्तुत किया है । पण्डित आनन्द कौल कहते हैं—"लाल वाखि अथवा लाल वाणी—कश्मीरवासियों के कानों के साथ उनके हृदय के तारों को छू लेती है और प्रत्येक उपयुक्त अवसर पर वार्तालाप में उसके पद नीति-वाक्यों की भाँति उद्धृत किये जाते हैं । लाल की वाणियों ने राष्ट्रीय मस्तिष्क को चेतना प्रदान की और राष्ट्रीय भावात्मकता की स्थापना की है ।" लेखक (सर टैम्पल) आगे कहता है—"इन कविताओं में अवश्य ही उपलब्धि-योग्य कुछ ऐसा है जिसने उन लोगों के मन पर ऐसा गहरा प्रभाव डाला है जिन्हें सम्बोधित कर ये कविताएँ लिखी गयी हैं ।"

लाल की जीवन-गाथा चमत्कारों और उपाख्यानों से आवृत्त है । सर रिचर्ड

टैम्पल की उपर्युक्त पुस्तक के अतिरिक्त 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी' ने प्राचीन कश्मीर की इस रहस्यवादी कवयित्री के सम्बन्ध में 'लल्ल वाक्यानि अथवा लाल देद (अथवा लल्ल) की वाणी' नाम से एक प्रबन्ध प्रकाशित किया है जिसका सम्पादन और अनुवाद सर जॉर्ज ग्रियर्सन और डॉ० लियोनल बार्नेट ने किया है। पण्डित आनन्द कौल ने 'लल्ल योगीश्वरी : जीवनी और वाणी' शीर्षक से एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है, जिसका आधार मुख्यतः लोक-गीत और लोक-परम्परा है। इस अल्प सामग्री के अतिरिक्त लल्ल के सुप्रतिष्ठित व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अन्य कोई साहित्य उपलब्ध नही है। इस न्यूनता के होते हुए भी लल्ल का जलाया हुआ दीपक शताब्दियों से प्रकाश प्रसारित कर रहा है और पीढ़ियों से उनकी वाणी लोक-मानस में श्रद्धा के साथ सुरक्षित रखी गयी है। अनेक आर्ष प्रयोग एवं प्राचीन शब्द, जिनका महत्त्व आज लुप्त हो चुका है, उसकी वाणियों में आज भी सुरक्षित हैं। यद्यपि यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि निरन्तर पुनरावृत्ति से उसकी भाषा के स्वरूप मे कुछ न कुछ परिवर्तन आ ही चुका होगा। इतिहासज्ञ और जीवनी-लेखक इन बातों से उलझन में पड जाते हैं, पर जन-मानस इन रूखे तथ्यों को अधिक महत्त्व नहीं देता। बहन निवेदिता के शब्दों मे प्रकट इस सत्य को, वह अपनी सहज प्रेरणा से ही ग्रहण कर लेता है—जब वह कहती है—"अन्ततः ये पौराणिक गाथाएँ क्या हैं? केवल मानवता की रत्न-पेटियाँ, जिनके माध्यम से प्रत्येक पीढी के मनुष्य के स्वप्न, प्रेम और उच्छ्वासों के रत्न आनेवाली पीढ़ियों के लिए अनश्वर और अमर कोष बन जाते है।"[1]

अतः यह उपयुक्त ही होगा कि हम पण्डित कौल-द्वारा प्रस्तुत सामग्री के आधार पर लल्ल के जीवन की एक झाँकी प्रस्तुत करें। हम यह निश्चयपूर्वक स्वीकार कर सकत है कि लल्ल का जीवन-काल १४वी शताब्दी ही था। फारस के सुविख्यात सूफी सन्त सैयद अली हमदानी १३७९-८० से १३८५-८६ तक कश्मीर की यात्रा पर रहे और वे लल्ल के समकालीन थे। इस सम्बन्ध में इस ओर ध्यान देना रुचिकर हो सकता है कि १४वीं और १६वीं शताब्दी के बीच भारत में अनेक सुविख्यात कवि, सन्त, धार्मिक उपदेष्टा और रहस्यवादी उत्पन्न हुए जिन्होंने जन-जीवन और विचारधारा पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला। ये अपने समय के जन-नेता थे और आज तक भी उनका प्रभाव जन-मानस पर विद्यमान है। १५वीं शताब्दी में उत्पन्न रामानन्द इस परम्परा में सर्वप्रथम थे और उनके पश्चात् उत्तर में तुलसीदास,

---

[1]. द वैब ऑफ इण्डियन लाइफ

मीराबाई, नानक और कबीर, बंगाल में चैतन्य, चण्डीदास और विद्यापति तथा दक्षिण मे वल्लभाचार्य हुए। लल्ल इन सबमें पूर्ववर्ती थी। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उनका प्रभाव कश्मीर से बाहर भी व्याप्त था अथवा नहीं ?

लल्ल का जन्म कश्मीर से चार मील दूर दक्षिण दिशा मे पाद्रेठन के एक कश्मीरी पण्डित परिवार में हुआ था। उनके जन्म के सम्बन्ध में एक अद्भुत आख्यान प्रचलित है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने पूर्व-जन्म मे भी वह कश्मीर में एक स्त्री के रूप मे पैदा हुई थी और पाद्रेठन के ही किसी पुरुष से उनका विवाह हुआ था। इस पुरुष से, उस जन्म मे, उन्हें एक पुत्र पैदा हुआ। पुत्र-जन्मोत्सव के ग्यारह दिन पश्चात् जब कुल-पुरोहित सिद्ध श्रीकण्ठ जात-संस्कार कराने आये तो उन्होंने उससे पूछा—"इस नवजात बालक का मुझसे क्या सम्बन्ध है ?" "कैसा विचित्र प्रश्न है !" पुरोहित ने उत्तर दिया—"क्यों, यह तुम्हारा पुत्र है।" "नही", माँ ने कहा और जब पुरोहित ने जिज्ञासा प्रकट की कि यह तुम्हारा कौन है तो उन्होंने कहा कि थोड़ी देर मे उनकी (स्त्री) मृत्यु हो जाएगी और वह अमुक गाँव मे एक बछेड़ी के रूप में जन्म लेंगी जिसके शरीर पर अमुक चिह्न होंगे और तब वह उनके प्रश्न का उत्तर दे सकेगी। थोडी देर बाद स्त्री की मृत्यु हो गयी और पुरोहित निश्चित समय और निश्चित स्थान पर बछेड़ी से फिर अपने प्रश्न का उत्तर पूछने गया। उसे बछेड़ी मिल गयी पर उस बछेड़ी ने भी उससे वही बात कही। बछेड़ी की शीघ्र ही मृत्यु होनेवाली थी और उसका अगला जन्म पिल्ले के रूप मे था। तब पुरोहित पिल्ले के पास गया। पिल्ले ने भी वही उत्तर दिया और तत्काल मर गया। पुरोहित इस भाग-दौड से तंग आ गया और उसने अपनी खोज छोड़ दी। इस प्रकार एक के पश्चात् एक निरन्तर छः पशु-योनियों में जन्म लेने के पश्चात् उस स्त्री ने लल्ल के रूप में जन्म लिया और उसका विवाह उसी पुरुष से हुआ, जिसने उसके पिछले मनुष्य-जन्म में उसी के गर्भ से जन्म लिया था। विवाह-संस्कार करानेवाला वही पुरोहित था और लल्ल ने विवाह के अवसर पर यह भेद बतला दिया। इस समय लल्ल की आयु १२ वर्ष की थी और वह बालक पूर्ण युवा हो चुका था।

इस आश्चर्यजनक उपाख्यान के पीछे एक शिक्षा छिपी है। सर्वप्रथम इस कथा के द्वारा यह संकेत मिलता है कि लल्ल को अपने पूर्व-जन्मों का ज्ञान था जो केवल एक आत्म-ज्ञानी के लिए ही सम्भव है। इस कथा की एक दार्शनिक पृष्ठभूमि भी है जो हिन्दू-धर्म के अनुकूल है, साथ ही वह उस जीवन-पथ का भी समर्थन करती है जिसे लल्ल ने स्वयं अपने जीवन में अपनाया। यह कथा यह बतलाने का प्रयास करती है कि जीवन एक है और मनुष्य और पशु-योनि एक-दूसरे से

उससे अधिक निकटता से सम्बन्धित है जितना कि अहंकारी मनुष्य स्वीकार करता है। चिन्तकों ने इस दार्शनिक सत्य का सदैव व्याख्यान किया है। फिर जिस प्रकार जीवन गतिशील है, उसे देखते हुए इस प्रवाह में सांसारिक नाते भी स्थायी नहीं हैं। जीवन लाल तपे हुए लोहे पर पड़ी जल की बूंद के समान क्षणिक है और माता-पिता, पुत्र, भाई, पत्नी आदि समस्त सम्बन्धियों का मिलन पानी पीने के लिए कुण्ड पर इकट्ठे पशुओं के झुण्ड के समान है अथवा नदी में बहते हुए लकड़ी के टुकड़ों का बहाव के फलस्वरूप एक स्थान पर एकत्रित होने के समान है।[1] ऐसी कथाओं को तर्कशील मस्तिष्क-द्वारा बौद्धिक अवहेलना का विषय बनाने की अपेक्षा प्रस्तुत लेखक को यह उचित और उपयुक्त ही प्रतीत होता है कि लल्ल-जैसी आध्यात्मिक उन्नति के शिखर तक पहुँची हुई स्त्री का जन्म, जीवन के गहन और ध्रुव मूल्यों के चित्रों-द्वारा घोषित किया जाय, भले ही वे किसी पौराणिक आख्यान का रूप ल अवतरित हों।

लोक-मान्यता के अनुसार लल्ल और उसका पति कभी स्त्री और पुरुष के रूप में साथ नहीं रहे। उसके पूर्व-जन्म के पति और इस जन्म के श्वसुर ने दूसरा विवाह कर लिया और घर की नयी स्वामिनी इस पत्नी के कठोर व्यवहार ने उसके जीवन को घोर दुःखदायी और कठोर बना दिया। लल्ल धैर्य और आज्ञापरता की आदर्श थीं। उनका व्यवहार परिवार की पुत्रवधू की शोभा के अनुकूल ही विनम्र था। अब भी कश्मीर की बूढ़ी दादियाँ उन कथाओं और आख्यायिकाओं को सुनाते नहीं अघाती जिनमें बताया गया है कि किस प्रकार लल्ल ने अपने भाग्य के सामने शान्त भाव से समर्पण किया और कभी शिकायत नहीं की।

यह ठीक प्रकार से ज्ञात नहीं कि परमात्मा की खोज उसने कब आरम्भ की। लेकिन हम कल्पना कर सकते हैं कि यह उनकी जन्मजात प्रवृत्ति रही होगी। विवाह और घरेलू जीवन के प्रति जो कुछ झुकाव उनके मन में रहा भी होगा, वह उनकी सौतली सास के क्रूर व्यवहार और पति की उपेक्षा से आरम्भ में वहीं दब गया होगा। एक बार जब उनके श्वसुर ने देखा कि लल्ल को अपर्याप्त भोजन दिया जा रहा है, थाली में गोल पत्थर के ऊपर चावल की केवल एक हल्की-सी परत थी तो उसने हस्तक्षेप करना चाहा, पर परिणाम यह हुआ कि सौतेली सास का शासन उन पर और भी कठोर हो गया।

कहा जाता है कि वह घर में बारह वर्ष रहीं। अगर उनका विवाह बारह वर्ष की अवस्था में हुआ था तो उस समय वह युवती ही रही होंगी, जब उन्होंने धर्म

---

[1] अध्यात्म रामायण २, ४—२०, २३

के प्रति अपने अनुराग और श्वसुरालय के क्रूर व्यवहार के कारण घर छोड़ा था, और सेद वायु नामक एक प्रसिद्ध शैव सन्त की शिष्या बन गयीं। कुछ सूत्रों के अनुसार यह शैव सन्त सेद या सिद्ध श्रीकण्ठ ही थे जो उनके कुल-पुरोहित और उनके पूर्व जन्मों से परिचित थे। वह पाम्पुर गाँव में निवास करते थे और कश्मीर मे आधुनिक शैव मत के संस्थापक वसुगुप्त की शिष्य-परम्परा के अधिकारी माने जाते थे। कहते है, लल्ल अपने गुरु से आगे बढ गयी और तर्क तथा प्रतिवाद मे प्राय. उन्हे पराजित करने लगी। पर उनके उपदेशों का परिणाम यह हुआ कि वह प्राचीन वैदिक युग की प्रसिद्ध ब्रह्मवादिनी गार्गी की भाँति शैव-योगिनी बन गयी और अर्द्ध-नग्न अवस्था मे देश भर मे घूमने लगी तथा वस्त्रों की परम्परागत मर्यादा को उन्होंने तिलांजलि दे दी। इसके परिणामस्वरूप वह जिस उपहास की पात्र बनीं, उससे भी वह परिचित थी, पर सासारिक आलोचना-प्रत्यालोचना ने किसी भी प्रकार उनके मानसिक सन्तुलन को अस्थिर नहीं किया। श्री कौल इस सम्बन्ध मे एक घटना का वर्णन करते है। एक दिन सदैव की भाँति बच्चों ने जब उनका उपहास किया तो एक वस्त्र-व्यापारी ने उन्हे डपट दिया। लल्ल ने व्यापारी से कुछ कपड़ा माँगा जो उन्होंने दो बराबर के टुकडो में बाँट कर एक-एक टुकड़ा दोनों कन्धों पर डाल लिया और वहाँ से चल पड़ी। मार्ग में जो भी उनका आदर अथवा निरादर करता, तदनुसार वह कपडे के दोनों टुकड़ों में गाँठें लगाती गयी। शाम को लौटते हुए वह उसी व्यापारी के पास फिर गयीं और उससे दोनों टुकड़ों का वजन करने के लिए कहा। जैसा कि स्वाभाविक दोनों टुकड़ों का वजन बराबर निकला। तब लल्ल ने उससे कहा कि प्रशंसा या निन्दा एक-दूसरे को सन्तुलित करते है और दोनों को समान दार्शनिक भाव से ग्रहण करना चाहिए।

इसके पश्चात् वह अपने दैवी मतवालेपन में नाचती-गाती देश भर में भ्रमण करने लगीं। उनकी महानता की असंख्य कथाएँ जो उनके बारे में घर-घर में कही जाती है, उस प्रेम की परिचायक है जो कश्मीरवासियों के हृदय में उनके लिए घर कर चुकी है। कहा जाता है कि उनका देहान्त काफी बडी अवस्था में श्रीनगर से पच्चीस मील दक्षिण-पूर्व की ओर बृजविहार नामक स्थान पर ठीक जुमा मस्जिद के बाहर हुआ। जब उन्होंने देह-त्यागा तो उनकी आत्मा 'प्रकाश की एक किरण की भाँति आकाश मे लहरी और विलुप्त हो गयी' (कौल)।

'लल्ल वाक्यानि' पुरानी कश्मीरी की रचना है जो भाषा के रूप में उसके अपने समय से भी अधिक पुरानी है। भारत में शिक्षित-वर्ग की भाषा 'संस्कृत' के साथ-साथ एक जन-भाषा भी सदैव विद्यमान रही और इस प्रकार कश्मीर की

भी अपनी एक बोली थी। इसकी लिपि देवनागरी का ही अपभ्रंश है और संस्कृत-वर्ण-माला के उच्चारण ने उपदेशीय प्रभाव से अपनी पृथक् विशिष्टता प्राप्त कर ली है। कश्मीरी साहित्य अत्यन्त सीमित है और लल्ल की वाणियाँ इस साहित्य का केवल महत्त्वपूर्ण भाग ही नहीं है, अपितु उनकी तुलना किसी भी भाषा के दार्शनिक और भक्ति-साहित्य से की जा सकती है।

लल्ल अपना उपदेश अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के व्याख्यान से आरम्भ करती हैं। वह कहती है :—

> आवेशाकुल, नेत्रों में प्यास भरे—
> खोजती हूँ दिन रात चहुँ ओर हेरती।
> किया है साक्षात्कार मैंने सत्य का, बुद्ध का—
> अपने ही भीतर, नेत्र सफल हुए।

लल्ल की वाणियाँ अनेक स्थानों पर गहन रहस्यमयी हो जाती हैं और योगिनी होने के नाते योग की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग भी उनके पदों में प्रचुर मात्रा में मिलता है। उनका कथन है कि ब्रह्म की प्राप्ति केवल योग के अभ्यास से सम्भव नहीं, किन्तु इस अभ्यास से साधक को जगत के मिथ्यात्व का बोध हो जाता है। तब यह इससे मुक्ति पाने का उपाय खोजता है। अभ्यास की शक्ति से दृश्य-जगत का बोध नष्ट हो जाने पर साधक ब्रह्म से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में ससीम व्यक्तित्व की चेतना अन्तिम परम तत्त्व में समा जाती है। इस अवस्था का वर्णन लल्ल इस प्रकार करती हैं :—

> वहाँ न शासन है ब्रह्म पर शिव का
> न ही आधिपत्य है शिव-पत्नी शक्ति का।
> केवल कुछ स्वप्न-सा है वहाँ
> मायामय पक्ष का अनुसन्धान ॥

बाह्य जगत् को केवल एक भ्रम मानते हुए वह अपनी नग्नावस्था के औचित्य का समर्थन इन शब्दों में करती है—

> हे लल्ल ! तुम नृत्य करो वायु के वस्त्र पहन,
> हे लल्ल ! गाओ तुम आकाश का वस्त्र पहन,
> वायु-आकाश—इनसे श्रेष्ठतर अलंकार क्या ?
> 'वस्त्र' कहती परम्परा पर उसमें वह पवित्रता कहाँ ?

लल्ल के मतानुसार यद्यपि शरीर की आवश्यकताएँ पूरी होनी चाहिए, पर मन केवल आत्म-भाव से ही सन्तुष्ट रहे। इच्छाओं की तुलना वह महाजन से करती है और कहती है कि इच्छाओं का दास यम के पाश से नही बच सकता। वह सन्तुष्ट आत्मा धन्य है जिसे इच्छारूपी महाजन ऋण देने से इन्कार कर देता है—

केवल वही आनन्दमय और शान्तिमान् है
मिथ्या आकांक्षाओं से मुक्त, जो उठता है,
जहाँ इच्छाओं का कठोर ऋण समाप्त हो जाता है
जहाँ कोई ऋण शेष नही, न कोई ऋणदाता है ।।

एक सच्चे दार्शनिक की भाँति वह गौण सिद्धियों का तिरस्कार करती हैं जो ईश्वर की खोज मे लगे साधक के मार्ग में प्रलोभन बन कर आती है। वह पूछती है—

योगी ! अग्नि को शीतल करो, धारा को रोक दो
नभ में पद-चरण करो, स्वप्नों की माया रचो
बैल से ही दूध दुहो, ये सब प्रयत्न क्यों ?
मदारी के इन हल्के खेलों की सिद्धि क्यों ?

निम्न पंक्तियों में ब्रह्म की सर्वव्यापकता का चित्रण उपनिषदों की भावना के कितने निकट पहुँच गया है—

तुम हो स्वर्ग और तुम हो पृथ्वी
तुम्ही हो दिन और रात और पवन
तुम स्वयं हो जीव और आत्मा
तुम ही हो फूलों की भेंट ।।

लल्ल का अद्वैत-दर्शन उनके लिए अनुग्रह के सिद्धान्त पर विश्वास करने में बाधक नही होता और न वह परमात्मा की भक्ति से रहित शुद्ध ज्ञान-पक्ष की ही अनुगामिनी थी। शुद्ध भावनाओं के साथ वह गाती है : "उनके आराध्य-मन्दिर के द्वार बन्द हैं। अडोला लगी हुई है। वह उस द्वार की ओर टकटकी लगाये उसके खुलने की प्रतीक्षा मे साधना-रत है। द्वार के उस पार उनकी दृष्टि मे परे जो तत्त्व है, उसे पाने की चाह निरन्तर बढ़ रही है। उनके नेत्र अमिट प्यास-भरे उस ओर एकटक देख रहे है।"

यद्यपि मनुष्य को परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए यथासाध्य प्रयत्नशील होना ही चाहिए पर अन्ततः परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त होने पर ही वह उस तत्त्व तक पहुँच पाता है। इसलिए वह कहती है—

अब भी वह द्वार पर खड़ी थी,
टकटकी बाँधे बाट जोहती थी जिसकी,
लो, द्वार खोला उसने—
उसे देखा लल्ल ने अपने ही भीतर।
और जला दी अपवित्रता मन की,
ज्वलित हो सिद्ध बन चुकी थी वह :
इच्छाओं से मुक्त उसका हृदय परिपूर्ण था,
झुकी वह, वहीं पर, झुके हुए घुटनों पर ।।

उसकी आत्मा निरन्तर परमात्मा के साथ अभिन्नता का अनुभव कर उसमें एक रूप होकर रहती है । कविता की शब्दावली में वह गाती है—

हे मेरे रूप—जो तुम हो वह मैं हूँ,
हे मेरे रूप—जो मैं हूँ, वह तुम हो,
एकत्व हम दोनों का मिटेगा नहीं कभी,
क्यों और कैसे ? ये प्रश्न है व्यर्थ सभी ।।

अपनी कुछ सुप्रसिद्ध वाणियों मे वह भौतिक पदार्थों की अस्थिरता पर बल देती हुई कहती है—

एक क्षण के लिए खिलता है फूल,
हरे-भरे पेड़ पर उज्ज्वल और कान्तिमान् ।
एक क्षण के लिए बहती है शीत वायु,
काँटों की नंगी झाड़ियो को चीरती ।

फल की कामना के बिना केवल कर्त्तव्य की भावना से कर्म करो और ईश्वर को अर्पित कर दो—यही गीता का प्रसिद्ध सिद्धान्त है । लल्ल अपने गीतों में उसी सत्य का उपदेश देती है—

जो भी किया है शृंगार मैंने,
जो भी किया है विचार मैंने,
वह थी पूजा मेरी देह में स्थित ।
वह थी पूजा मेरे मन में स्थित ।

कपास के पौधे के बरेलू रूपक-द्वारा लल्ल परमात्मा की खोज में संलग्न जीव की कठिनाइयों का वर्णन करती हैं। कपास पहले धुनिए-द्वारा धुनी जाती है, फिर काती जाती है और तब जुलाहे की खड्डी के ताने पर चढ़ायी जाती है। जब कपड़ा तैयार हो जाता है तो धोबी-द्वारा धुलने के लिए कूटा जाता है। अन्त में वस्त्र बनाने के लिए दर्जी उसे काटता है। यहाँ प्रत्येक रूपक की पृथक्-पृथक् व्याख्या कठिन है, पर कपास से वस्त्र तक की विभिन्न श्रेणियाँ ज्ञान-प्राप्ति की विभिन्न अवस्थाओं का बोध कराती हैं। वह कहती है—

"सबसे पहले मैं एक रुई की पौनी के रूप में जीवन के पथ पर छोड़ दी गयी। फिर धुनिए के द्वार की खटखटाहट सुनी और धुनिए की हाथों की चोटें सहीं।

"फिर एक कातनेवाली ने मुझे चर्खे के तकुए पर काता और तब मैं खड्डी पर चढ़ा दी गयी। वहाँ मैंने जुलाहे के हाथों की चोटें सहीं।

"अब मैं वस्त्र के रूप में आ चुकी हूँ। धोबी ने मुझे धुलाई के पत्थर पर जी भर कर पटका। राख, हड्डी और मिट्टी से मुझे स्वच्छ किया और फिर मुझे साबुन मल-मल कर उज्ज्वल किया।

"फिर दर्जी ने अपनी कैंची से काट-छाँट की। मुझे टुकड़ों में काटा और पहनावे के वस्त्र का रूप दिया। जैसे कि आत्मा मुक्त हो गयी हो, इस प्रकार मैंने आत्म-बोध प्राप्त किया और मुक्ति पायी।

"पृथ्वी पर आत्मा की गति अत्यन्त कठिन है, जब तक कि वह अपनी यात्रा का अन्त नहीं पा लेती। हर जन्म में जीवन का पथ कठिन है, जब तक कि तुम अपने मित्र का हाथ नहीं ले लेते।"

जन्म-मरण के आवागमन के चक्र से छुटकारा पाने के लिए आत्मा की पुकार निम्न पद में वर्णित है और प्रत्येक हृदय में प्रतिध्वनित हो उठती है—

मेरी पीठ से खाण्ड का बोझ उतारो :
इसकी गाँठें मेरे कन्धों को अपनी रगड़ से घायल कर रही हैं।
मेरे सारे दिन का काम नष्ट हो गया है!
उफ! इससे पहले कि मैं गिर पड़ूँ, मैं इसे कैसे सहन कर सकती हूँ।
गुरु की खोज में मैंने सुना व्याख्यान
उस समय का जिसने फफोलों की भाँति मुझे घायल कर दिया है।

जिनसे इतना मोह था, उन स्वप्नों को खोने की पीड़ा—
इससे पहले कि हम पृथक् हो जायें, मैं कैसे इसे सहन कर सकती हूँ ।
मेरी चेतना का समूह खो गया है,
चरवाहे की पुकारों से दूर पहुंच गया है ।
उससे पहले कि मुक्ति का पहाड़ पार किया जा सके ;
इससे पहले कि मैं गिर पड़ूँ, मैं इसे कैसे सहन कर सकती हूँ ।

अन्तरतम के मनन और चिन्तन से,
मैंने आत्म-बोध की सुन्दर ज्योति पायी,
और इसी से मुझे पूर्ण सत्य प्राप्त हुआ
कि आत्मा परमात्मा में लीन हो जाएगी ।

हे नारायण, तुम्हीं सम्पूर्ण हो,
सर्वात्माओं में मैं केवल तुम्हें देखती हूँ ।
हे नारायण, अपना खेल जो तुम दिखाते हो,
मेरे लिए केवल तुम्हारी माया है ।

'अहं ब्रह्मास्मि' का पाठ पढ़ते हुए
मैंने सीखा है, हे नारायण, तुम इससे दूर हो,
मैंने उस स्वप्न का रहस्य जान लिया है
जहाँ हम दोनों एक रूप हो विचरते हैं ।।

उपर्युक्त पद मे सांसारिक सुख और आनन्द के भार की तुलना खाण्ड की उस गठरी के साथ की गयी है जिसकी गाँठ ढीली पड़ गयी है और उसकी रगड़ से उसके कन्धे छिल रहे हैं । संसार एक स्वप्न है और यह सृष्टि ईश्वर की क्रीड़ा है ।

हम किसी भी पथ का अनुगमन करें, किसी भी मत को अपनायें पर जब तक मनुष्य ईश्वर की चेतना को प्राप्त न कर सके, तब तक वह दुःख और सन्ताप का भागी बनता है । विश्वास और शक्ति का अभाव जीवन के लक्ष्य को पहाड़-सा बोझिल बना देता है और साधक को निराश कर देता है । सिद्धि के जिस सुख का चित्रण लल्ल ने गीत के अन्त में किया है, उसकी अनुभूति हममें से अधिकांश को दुर्लभ है । पर जिस भ्रम में हमें इतना मोह है, उसके खो जाने के दुःख का अनुभव हम प्रायः करते हैं । फफोलों की भाँति जला देनेवाले सत्य के आघात को भी हम प्रायः अनुभव करते हैं । इस पथ पर बढ़ते हुए जिनके कदम लड़खड़ा रहे हैं, जिनके स्वप्न धुंधले पड़ गये हैं, जिनका लक्ष्य अभी उनसे बहुत दूर है, उन सब

लोगों के लिए लल्ल की वाणियाँ महान् आशा के सन्देश-स्रोत हैं। उनकी पुकार देश के शिक्षित वर्ग के लिए नहीं थी। लोकप्रिय पदों के माध्यम से उन्होंने जन-साधारण तक अपना धर्म का सन्देश पहुँचाया है। आधुनिक युग में सर रिचर्ड टैम्पल को लल्ल के गीतों-द्वारा ही न केवल शैव मत अपितु समस्त भारतीय दार्शनिक चिन्तन-धारा के अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। अपनी पुस्तक में लल्ल के प्रति श्रद्धा-समर्पण करते हुए वह कहते हैं—

> हे लल्ल, यद्यपि तुम केवल एक भक्त हो,
> अपने युग और समाज के सत्य की पुत्री,
> मुझ पराये देश और वंश के पुत्र को,
> तुम्हारे गीतों ने अपना दास बना लिया है।

यह मुखर प्रशंसा इस उक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हृदय से हृदय बोलता है। लल्ल की वाणी देश-काल की सीमा में बँधी नहीं। यह वाणी सदा-सर्वदा फलती-फूलती रहेगी क्योंकि उसके गीतों की पुकार आज भी उतनी ही नवीन और सरल है जितनी वह उस समय थी, जब आज से छः सौ वर्ष पूर्व वह सर्वप्रथम उमड़ी थी।

परिच्छेद ७

मीराबाई

उत्तर-भारत में मीराबाई का नाम प्रत्येक परिवार में एक कुल-देवी की भाँति लिया जाता है। यह तथ्य सर्वमान्य है कि कवयित्री मीराबाई की गणना भारत के सर्वश्रेष्ठ सन्त कवियों में की जाती है। इस सन्त कवयित्री की जीवन-गाथा का इतिहास एक रहस्य ही बना हुआ है। मीराबाई की जन्म-तिथि, विवाह, मृत्यु और पति के नाम के विषय में इतिहासकारों के विभिन्न मत हैं। इस सत्य से सभी सहमत हैं कि मीराबाई मेड़ता के राठौर-परिवार की राजकन्या थीं। हाल ही में विभिन्न विद्वानों ने मीराबाई के जीवन-सम्बन्धी विभिन्न गाथाओं को एक ही कड़ी में पिरोने का प्रयास किया है।

उपरिलिखित वृत्तान्त के अनुसार मीराबाई का जन्म १५०४ ईस्वी में राजस्थान के मेड़ता जिला के चौकरी गाँव में हुआ था। मीरा के पिता रत्नसिंह जोधपुर के संस्थापक राव जोधाजी राठौर के वंशज राव दुराजी के द्वितीय पुत्र थे। मीरा की माता उसे दस वर्ष की अवस्था में ही छोड़ कर स्वर्ग सिधार गयीं। तत्पश्चात् मीरा अपने नाना के पास मेड़ता आ गयी।

जब दुराजी को १५१५ ईस्वी में मृत्यु ने ग्रास बना लिया, तब उनका ज्येष्ठ पुत्र विक्रम देव उनका उत्तराधिकारी बना। विक्रम देव ने अपनी भतीजी का विवाह चित्तौड़ के राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार भोजराज से कर दिया। उस विवाह से मीराबाई का सामाजिक स्तर बहुत ऊँचा हो गया, क्योंकि चित्तौड़ का शासक तत्कालीन हिन्दू राज्यों का नेता माना जाता था। किन्तु विधि की बिडम्बना ऐसी हुई कि १५२६ ईस्वी तक मीरा के पिता, पति और श्वसुर सभी उससे सदा के लिए मुँह मोड़ गये।

यदि मीरा की स्थिति में कोई अन्य राजकुमारी होती तो जीवन-पर्यन्त या तो शोक-सागर में बहती रहती अथवा दुर्भाग्य को कोसती हुई परम्परा के अनुसार स्वयं सती हो जाती। किन्तु मीरा ने तो अपनी जीवन-नैया का चप्पू विश्व-नियन्ता अपने इष्टदेव को अर्पित कर दिया था। उसके लिए ये सब आपदाएँ साधारण थीं। कहा जाता है कि मीरा ने सौराष्ट्र के द्वारका नामक स्थान पर १५५० ईस्वी में अपनी इहलीला समाप्त की।

इससे पूर्व कि हम सन्त कवयित्री मीराबाई के आध्यात्मिक और धार्मिक अनुभवों का विश्लेषण करें, यह अधिक उपयुक्त होगा कि हम तात्कालिक सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का विवेचन और सिंहावलोकन भी करें जिनका मीरा के आध्यात्मिक जीवन पर गहन प्रभाव पड़ा ।

मीरा के जन्म के समय भारत में राजनीतिक उथल-पुथल सर्वव्याप्त थी । अफगान राज्य प्रायः नष्ट हो चुका था और मुसलमान सामन्त ध्वस्त राज्य की नन्ही-नन्ही रियासतों को पाने के लिए परस्पर लड़ते-झगड़ते रहते थे । राजपूत राजा उत्तर-भारत में एक सुदृढ़ राज्य बनाने और अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए लालायित एवं प्रयत्नशील थे । दुर्भाग्यवश एकता और संगठन के अभाव में राजागण लड़ते-भिड़ते रहे । इस प्रकार इन विषम राजनीतिक परिस्थितियों से पूरा-पूरा लाभ उठा कर मुगल साम्राज्य का संस्थापक बाबर अपने सपनों को क्रियान्वित करने में संलग्न था । इस समय मानवता और प्रेम की भावना तो प्रायः लुप्त हो चुकी थी ।

राजनीतिक उन्नति के लिए राजपूतों में रक्त-रंजित अन्तर्द्वन्द्व, राजपूतों और पड़ोसी सामन्तों के मध्य निरन्तर युद्ध तथा मीरा के निजी परिवार के स्वजनों की मृत्यु ने मीरा के मस्तिष्क और हृदय पर गहरा प्रभाव डाला । अपनी अल्पावस्था में ही मीरा ने मानवीय अन्तर्दृष्टि से संसार की अस्थिरता का अनुभव कर लिया था । मानव की मानव के प्रति घृणा, कर्तव्य, प्रेम और शान्ति की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा के लिए बलिदान, और मनुष्य का अत्यन्त हेय समझा जाना यह सब उसकी कोमल भावनाओं को ठेस पहुँचा रहे थे । इन विषम परिस्थितियों में वह अनुभव करती कि वह पराये और अपरिचितों से घिरी है । उसका हृदय सच्चे प्रेम और शान्तिमय संरक्षण के लिए उद्विग्न था और यह संरक्षण उसे वैष्णव उपासकों के सत्संग से प्राप्त हुआ ।

अफगानों के प्रारम्भिक राज्य-काल में हिन्दुओं पर घोर अत्याचार हुए और उन्हें अपमानित किया गया । इस कारण हिन्दुओं का दृष्टिकोण भी बड़ा संकीर्ण हो गया था । अपनी संस्कृति तथा धर्म को विदेशी प्रभाव एवं सत्ता से सुरक्षित रखने के लिए हिन्दुओं ने अनेक अन्धविश्वासों और ऐसे रीति-रिवाजों का आश्रय लेना आरम्भ किया जो वस्तुतः उनके मूल धर्म और सामाजिक परम्पराओं के सर्वथा प्रतिकूल थे । उनके सामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवन में निष्क्रियता आ गयी थी, किन्तु विदेशी शासन में हर प्रकार के अपमान और असुविधाओं के होते हुए भी हिन्दुओं की आध्यात्मिक सजीवता और प्रभाव की जड़ें न काटी जा

सकी । हिन्दू प्रतिभा यद्यपि गतिरुद्ध होकर सीमित हो चुकी थी तथापि उसे पुनर्जीवित करने और उन्नत करने की प्रेरणा भी अधिकाधिक हो गयी थी । रामानन्द, चैतन्य, वल्लभाचार्य, कबीर, नानक-जैसे सन्तों एवं श्रेष्ठ सुधारकों ने हिन्दू जनता को यह स्मरण कराया कि हिन्दू धर्म और संस्कृति अभी निष्प्राण और निस्सार नहीं हुई है । इन महात्माओं ने जनता को आत्मा और परमात्मा की एकरूपता का उपदेश देते हुए बताया कि सर्वशक्तिमान प्रभु दयालु है, दीन-दुखियों का सहायक है, निराश्रयों का आश्रय है । वह समय-समय पर धरती पर अवतार लेकर पापियों का नाश और धर्म-परायण सज्जन मनुष्यों की रक्षा करता है । केवल प्रेम और भक्ति से ही आत्मा और परमात्मा का मेल सम्भव है । इन सन्तों ने यह बताया कि जाति-पाँति और मत-मतान्तरों से ऊँचे उठ कर प्रेम और मानव-जीवन की प्रतिष्ठा करना विश्वेश्वर के साथ तादात्म्य पाने की प्रथम सीढ़ी है । वैष्णव सन्तों की इस शिक्षा ने हिन्दुओं में मुसलमानों या दलित जातियों और अछूतों के प्रति प्रेम की भावना उत्पन्न की । परिणामस्वरूप वह चेष्टा करने लगे कि इनसे मैत्री की भावना पैदा की जाये ।

वैष्णव मतानुयायियों और शिक्षकों में मीराबाई को मनोवांछित फल की प्राप्ति हुई । वह उस भगवान् में लवलीन हो गयी जो केवल दया और प्रेम का रूप है । इसी भगवान् को उसने प्रेम के रूप में देखा । भगवान् कृष्ण को अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है, किन्तु मीरा के इष्टदेव तो गिरिधर नागर थे । उसका अपने आराध्य के प्रति इतना प्रगाढ़ प्रेम था कि वह अपना सारा समय उसी की प्रशंसा के गीत गाने और उसकी उपासना मे बिताने लगी । जब उसकी माता ने उसे व्यावहारिक और स्वस्थ-सांसारिक जीवन-यापन करने और राजकुल तथा मर्यादा के अनुकूल रहने को कहा तो मीरा ने उत्तर दिया—

"हे माँ ! स्वप्न में गिरधर गोपाल ने मुझे ब्याहा है । मैंने लाल और पीली चुनरी पहनी थी । मेरे हाथों में सुन्दर मेंहदी रची थी । यह ग्वाला जो यमुना-तट पर मधुर बाँसुरी बजाता है, बाल्यकाल से मेरा प्रियतम इष्टदेव है । यह प्रेम कदापि भुलाया नहीं जा सकता ।"

युवराज भोजराज से विवाह होने के बाद मीरा की अपने इष्टदेव के प्रति आस्था बढ़ती ही रही, कम नहीं हुई । वह प्रायः अपना अधिकांश समय अपने भगवान् की अर्चना में व्यतीत करती । धार्मिक गोष्ठियों का भी आयोजन होता ।

मीरा की इन क्रियाओं से उसके श्वसुर और अन्य सम्बन्धी अप्रसन्न रहते। उसे यह आदेश दिया गया कि वह इन कार्यों को तिलाजलि दे, राज-परिवारों की परम्परानुसार जीवन बिताये, किन्तु मीरा के कान पर जूं तक न रेंगी। अब तो राणा ने मीरा की चेष्टाओं पर प्रतिबन्ध लगाना प्रारम्भ कर दिया। मीरा ने अपने शब्दों मे इसका इस प्रकार वर्णन किया है —

"इस परिवार के सभी प्रियजन मेरी साधु-सगति पर आपत्ति करते है और मेरी उपासना में विघ्न डालते हैं। शैशवावस्था में ही मीरा ने गिरधर गोपाल को अपना परम मित्र बना लिया था। यह सम्बन्ध शाश्वत है। यह कभी टूटेगा नही, अपितु और भी दृढ़ होगा।"

जब विधि की विडम्बना ने सन्त मीरा को विधवा बना दिया तो उसके श्वसुर राणा सागा ने इस अवसर से लाभ उठा कर मीरा को सती होने का आदेश दिया, किन्तु हमारी सन्त मीरा तो विश्वात्मा की सर्वव्यापी और अनुपम शक्ति मे, जिससे उसका वास्तविक पाणिग्रहण हो चुका था, तल्लीन थी। उसने निम्नलिखित उत्तर दिया—

"हे राणा! मीरा हरि-रंग मे रंग चुकी है। मै तो अब गिरिधर के ही गुण गाऊँगी। मेरा हृदय तो उसी के प्रेम मे ओत-प्रोत है। अब मेरा आपसे ज्येष्ठ पुत्र-वधू का सम्बन्ध नही रहा। अब आप राजा है और मै आपकी प्रजा।"

राणा सांगा की मृत्यु के बाद राजकुमार रत्नसिंह शासक बना, किन्तु वह भी शीघ्र ही अकाल काल का ग्रास बन गया। अब युवराज विक्रमादित्य चित्तौड़ का राजा घोषित हुआ। उसने राजा बनते ही मीरा को आदेश दिया कि वह साधु-सन्तों की संगति छोड़ दे तथा अपने इष्ट कृष्ण के समक्ष नृत्य करना और गाना बन्द कर दे। राणा के कड़े नियन्त्रण में मीरा से रंग-महल में रह कर उपासना करना कठिन हो गया, अतः अब वह सार्वजनिक मन्दिर मे जाकर आराधना करती। मीरा आध्यात्मिक हर्षोन्माद मे अपने को पूर्णतः भूल, आराध्य के साथ तादात्म्य अनुभव करती। इसी उन्मादावस्था मे वह भगवान् की प्रतिमा के सम्मुख नाचती और गाती हुई प्रायः समाधि की अवस्था में पहुँच जाती। धीरे-धीरे मेवाड़-निवासी सन्त राजकुमारी की प्रतिष्ठा करने लगे। मीरा की ख्याति दूर-दूर तक फैलने लगी। बड़े-बड़े विद्वान्, मनीषी, सन्त उसके दर्शनार्थ आते और अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते, किन्तु इससे राणा, उसके राजकुमार भाई और निकट के सम्बन्धी अपने क्रोध पर काबू न पा सके क्योकि उनमें रक्त-रंजित युद्धों, पारस्परिक विरोधों और क्षणिक शान्ति के अतिरिक्त कुछ अन्य सोचने की सामर्थ्य ही नहीं थी।

राणा ने मीरा को अगणित यातनाएं दीं। उसे एक कमरे में बन्द कर दिया गया; काँटों की सेज पर सुलाया गया और उपहारस्वरूप एक विषैले सर्प को एक सुन्दर पिटारी में भेजा गया; विष पिलाया गया। साराश यह कि संसार की कोई भी यातना ऐसी नहीं थी जिसे मीरा ने सहन न किया हो। मीरा में भक्ति और आध्यात्मिक बल इतना था कि जो भी स्त्री-पुरुष मीरा को कष्ट देने के लिए भेजे जाते, वे उसी के रंग में रंग जाते। मीरा ने राणा-द्वारा दी गयी यातनाओं का वर्णन अनेक पदों में किया है, जैसे—

मीरा मगन भई हरि के गुण गाय।
साँप पिटारा राणा भेज्यो, मीरा हाथ दियो जाय।
न्हाय धोय जब देखण लागी, सालिगराम गयी पाय।।
जहर का प्याला राणा भेज्या, दीजो मीरा जाय।
न्हाय धोय जब पीवण लागी, हरि अमृत दियो बनाय।।
सूल-सेज राणा ने भेजी, दीज्यो मीरा सुलाय।
साँझ भयी मीरा सोवण लागी, मानो फूल बिछाय।।
मीरा के प्रभु सदा सहायी, राखे विघन हटाय।
भजन-भाव में मस्त डोलती, गिरिधर पे बलि जाय।।

भगवान् ने मीरा की रक्षा की। वह सब आपदाओं से बच गयी। किन्तु मीरा अब प्रसन्न नहीं थी। उसे वह शान्ति और एकाग्रता नहीं प्राप्त होती थी जो अनन्य ईश्वर-भक्ति के लिए अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त वर्षों से कष्ट सहते-सहते वह तंग आ चुकी थी। अतः उसने निश्चय कर लिया कि वह अब चित्तौड छोड कर अपने चाचा के राज्य मेड़ता चली जाएगी। जाने से पहले मीरा ने अपने निश्चय को स्पष्टतः राणा के सब परिवारवालों को बता दिया—

"यदि राणा मुझसे रुष्ट है तो वह मेरा कोई अनिष्ट नहीं कर सकते। मैं तो सदैव गोविन्द के गुण गाऊँगी, वही मेरा सच्चा मित्र है। यदि राणा मुझ से क्रुद्ध है तो उसकी प्रजा मुझे आश्रय देगी, किन्तु यदि स्वयं हरि रुष्ट हो गये तो मुझे कौन आश्रय देगा? मैं सांसारिक परम्पराओं की तनिक परवाह नहीं करती। अब तो मैं अपनी स्वतन्त्रता की पताका फहराऊँगी। वही मेरे परम मित्र है, इष्टदेव का पावन नाम ही मेरी जीवन-नैया खेने में सहायता करेगा और मैं इस मायावी संसार-सागर को पार कर लूँगी। मैंने तो सर्वशक्तिशाली गिरिधर गोपाल की शरण ली है और सदैव उसी के चरणों से लिपटी रहूँगी।"

तत्पश्चात् मीरा मेड़ता चली गयी। उसके चाचा ने उसे भक्ति और उपासना का जीवन व्यतीत करने की पूर्ण सुविधाएँ जुटा दी, किन्तु उसके चाचा के राजनीतिक दुर्भाग्य ने मीरा को राजस्थान छोड़ने को विवश कर दिया। राजपूताना छोड़ने पर मीरा ने मथुरा-वृन्दावन तथा अनेक तीर्थ-स्थानों की यात्रा की। तीर्थयात्रा से लौट कर वह सौराष्ट्र की द्वारका-नगरी में सदैव के लिए रहने लगी। यहीं उसने कृष्ण-मन्दिर में अपना शेष जीवन व्यतीत किया और यहीं प्रभु के चरणों मे निर्वाण प्राप्त किया।

एक सधे हुए वैष्णव योगी की भाँति मीराबाई ने सम्पूर्ण हृदय और आत्मा से अपने इष्टदेव की आराधना की। वह अपने को कृष्ण-प्रेम में मतवाली वृन्दावन की गोपिका समझती थी। उसने कभी भी सांसारिक सुख और ऐश्वर्य की कामना नहीं की। उसका केवल एक ही लक्ष्य था कि वह अपने प्राणप्रिय को प्रसन्न कर सके जिसे वह अपना तन-मन समर्पित कर चुकी थी। उसकी आत्मा परब्रह्म से तादात्म्य पाने के लिये सदैव तड़पती रहती। परिणामस्वरूप उसका सारा काव्य अपने आराध्य के प्रेम और प्रशंसा से ओत-प्रोत है। इसमें उस विरह के दुःख का वर्णन भी है जो प्रियतम से बिछुड़े रहने पर विरहणी प्रियतमा को होता है। कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—

छोड़ मत जाज्यो जी महाराज !
मैं अबला बल नाम गुसाईं
तुम्हीं मेरे सिरताज
मैं गुणहीन गुण नाम गुसाईं
तुम समरथ महाराज
थारी होयके किणरे जाऊँ
तुमहीं हिवडोरा साज
मीरा के प्रभु और न कोई
राखो अब के लाज !

और—

हरि बिन क्यूँ जीऊँ री माई
हरि कारन बौरी भई
जस काठहि घुन खाई
ओषध मूल न संचरे
मोहि लागो बौराई।

और—

तुमरे कारण सब सुख छोड्या, अब मोहि क्यों तरसाओ हो।
बिरह-विथा लागी उर अन्तर, मो तुम आप बुझाओ हो।
अब छोड़त नही बणे प्रभु जी, हँस करि तुरत बुलाओ हो।
मीरा दासी जनम-जनम की, अंग मे अंग लाओ हो।

हे इष्टदेव ! आराध्य मीरा जन्म-जन्म मे तुम्हारी दासी रही है, अब उसे अपने मे समा लो।

अन्ततोगत्वा मीरा की विरह-वेदना का अन्त आ गया क्योंकि अब वह अपने प्रियतम से दूर नहीं रही। अब वह उस शान्ति और आनन्द को प्राप्त कर चुकी थी जो सच्चे उपासक और योगी को अपने इष्टदेव के साथ एकात्म होने में होता है।

तत्पश्चात् मीरा के प्रियतम की प्रशंसा और आराधना मे गाने की गति नितान्त विभिन्न थी। उदाहरणत :—

मै तो गिरधर के रंग राती।
जिनके पिया परदेश बसत है, लिख-लिख भेजें पाती।
मोरे पिया मोरे हिये बसत हैं, गूंज करें दिन राती।

जब सन्त मीरा ने अपने आराध्य से तादात्म्य प्राप्त कर लिया और उसकी ख्याति समस्त देश में फैल गयी तो उसके परिवारवाल तथा सगे-सम्बन्धी उसे घेरे रहने लगे। इस परिवर्तित स्थिति का वर्णन वह निम्नलिखित शब्दों में करती है—

मै अपणै सैयाँ संग साँची
अब काहे की लाज सजनी, परगट ह्वै नाची।
दिवस भूख न चैन कबहूँ, नीद निसि नासी।
बेधि वार पार ह्वै गो ग्यान ग्रह ग्रासी।
कुल-कुटम्बी आन बैठे, मनहुँ मधु-माखी।
दासी मीरा लाल गिरधर, मिले जग हासी।

मीरा ने काव्य-रचना मुख्यतः अपनी मातृ-भाषा मारवाड़ी हिन्दी मे ही की, किन्तु उसके पदों में गुजराती एवं पंजाबी शब्दों का भी पुट है। कृत्रिमता, छल-कपट-विहीन सरल शैली में लिखा मीरा का काव्य भक्ति-भावना से ओत-प्रोत है। जिस सरलता और सुगमता से मीरा ने अपने पवित्र विचारों और दैवी प्रेम को व्यक्त किया, वह उसके काव्य को चार चाँद लगा देते हैं। अन्य कोई भी कवि इस सुविधा से अपने इष्टदेव के अलौकिक प्रेम को व्यक्त नहीं कर सकता।

हरि मेरे जीवन प्रान-अधार ।
और आसरो नाही तुम बिन, तीनों लोक मंझार ।
आप बिना मोहि कछु न सुहावै, देख्यो सब संसार ।
मीरा कहे मैं दासि रावरी, न दीज्यो मती बिसार ।

सन्त मीरा जन्मजात कवयित्री थी। उसने अपनी इस प्रतिभा से अपने प्रिय आराध्य की भक्ति और उपासना में ही सुन्दर काव्य-रचना की। निम्नलिखित कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिनमें विश्वात्मा से बिछुड़ी हुई सन्त कवयित्री मीराबाई की आत्मा की विरह-वेदना आत्मा को उद्वेलित कर देनेवाले शब्दों में वर्णित है—

हे री, मैं तो दरद दिवानी
मेरो दरद न जाणै कोय ।
घायल की गति घायल जाणै
जो कोई घायल होय ।
जौहरि की गति जौहरि जाणै
की जिन जौहरि होय ।
सूली उपर सेज हमारी
सोवण किस विध होय ।
गगन मंडल पर सेज पिया की
किस विध मिलणा होय ।
दरद की मारी वन-बन डोलूं
वैद मिल्यो नहि कोय ।
मीरा की प्रभु पीर मिटैगी
जब वैद सँवलिया होय ।

मीरा अपने इष्टदेव का सरल, सुन्दर किन्तु प्रभावपूर्ण शब्द में वर्णन करती हुई कहती है—

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई ।
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई ।
तात-मात-भ्रात बन्धु, आपनो न कोई ।
छाड़ि दई कुल की कानि, कहा करिहै कोई ।
सन्तन-ढिग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई ।

चूनरी को कीन्हे टूक ओढ़ लीनी लोई ।
मोती-मूंगे उतार बनमाला पोई ।
अंसुवन-जल सींचि-सींचि प्रेम-वेलि बोई ।
अब तो बेलि फैल गयी जानत सब कोई ।
दूध की मथनिया बड़े प्रेम से बिलोई ।
माखन जब काढ़ि लियो, छाछ पिये कोई ।
भगति देखि राजी होई, जगत देखि रोई ।
दासी मीरा लाल गिरधर तारो अब मोई ।

मीरा के गिरिधर गोपाल तो परम शाश्वत 'सुन्दरतम' नटराज कृष्ण हैं जो सत्य-परायण भक्त-जनों की सदैव रक्षा करते है और उन पर सुख की वर्षा करते हैं।

सन्त मीरा अपने प्रियतम को सरल और प्रभावपूर्ण शब्दों से श्रद्धांजलि भेंट करती हैं—

बसो मोरे नैनन में नन्दलाल ।
मोहनी मूरति साँवरि सूरति, नैना बने बिसाल ।
अधर-सुधारस मुरली राजति, उर बैजन्ती माल ।
छुद्र घण्टिका कटि-तट सोभित, नूपुर सबद रसाल ।
मीरा प्रभु सन्तन सुखदायी, भगत-बछल गोपाल ।।

मीरा के काव्य में केवल दो-चार सौ पद उपलब्ध हैं जो विभिन्न रागों में गाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कहा जाता है कि उसने गीत-गोविन्द और राग-गोविन्द की व्याख्या भी लिखी है, किन्तु उनमें से एक भी उपलब्ध नही है ।

भारतीय कवि और कवयित्रियों में जितनी ख्याति सन्त मीरा को मिली है, उतनी अन्य किसी को भी सुलभ नहीं हुई । मीरा के पद सबसे अधिक लोक-प्रिय हैं। राजा और रंक सभी समभाव से इसे गाते रहे है। आज भी सबसे अधिक इन्हीं पदों को गाया जाता है ।

यह थी सन्त कवयित्री राजकुमारी मीराबाई जिसने संसार की सब सुख-सम्पदा और राजकीय ऐश्वर्य त्याग कर अपने आराध्य की स्तुति में उसके गुणों की व्याख्या की है। उसने अपना समस्त जीवन अपने इष्ट की आराधना और उपासना में लगा दिया । मीरा वस्तुतः भारत की एक श्रेष्ठ सन्त महिला हुई है जो युग-युगान्तरों तक आदर और सम्मान की पात्री रहेगी। उसकी पुनीत स्मृति में सभी श्रद्धा के फूल चढ़ाते रहेंगे ।

परिच्छेद ८

महाराष्ट्र की सन्त महिलाएँ

मराठी कविता के संकलन 'नवनीत' में महाराष्ट्र की केवल तीन महिलाओं का वर्णन आता है। जनाबाई, राजाई और गोणाई। जनाबाई प्रसिद्ध सन्त नामदेव की शिष्या थीं। महीपति मराठी पुस्तक 'भक्त-विजय' में इन तीन महिलाओं की जीवनी का विस्तृत वर्णन है। किन्तु आधुनिक पाठक इस विवरण की ऐतिहासिक यथार्थता पर शंका करते हैं।

जनाबाई पण्ढरपुर की विख्यात सन्त महिला थीं और उनके इष्टदेव पवित्र विट्ठल प्रभु थे। जनाबाई का जन्म गोदावरी नदी के तट पर स्थित गंगाखेड़ा गाँव में हुआ। जनाबाई के पिता दामाजी भी विट्ठल प्रभु के भक्त और शूद्र जाति के थे। दामाजी अपने इष्टदेव के अनन्य भक्त थे और प्रति वर्ष पण्ढरपुर तीर्थ-यात्रा के लिए आया करते थे। जनाबाई की माता का नाम करुण्ड था। जनाबाई के पिता उसे पाँच-छः वर्ष की बाल्यावस्था में ही गुरु नामदेव के पिता के घर ले गये और वह आजन्म वहाँ गृह-सेविका बनकर काम करती रही। इसीलिए वह अपने को 'दासी जानी' कहकर सम्बोधित करती है, अर्थात् सेविका जानी! गुरु नामदेव के पिता दामाशेटी जाति के दर्जी थे। विट्ठल स्वामी में उनकी भी अनन्य भक्ति थी और वह प्रति वर्ष तीर्थ-यात्रा में दासी जनाबाई को भी ले जाते थे। जनाबाई ने अनेक चमत्कार दिखाये। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि निरक्षर होते हुए भी जनाबाई ने विट्ठल प्रभु की उपासना में अनेक कविताओं की रचना की। जनाबाई अपने काव्य में कहती हैं :

"भगवान् की दृष्टि में तो मनुष्य की अन्तर्भावनाओं का मूल्य है और वह भक्त की आन्तरिक पुकार सुन और एकान्तिक भक्ति से आकृष्ट हो स्वर्ग छोड़ कर भी उसके पास आने को तत्पर रहते हैं। भगवान् स्वयं पुण्डलीक के सम्मुख प्रकट हुए। पुण्डलीक ने उनके बैठने के लिए एक ईंट फेंकी, परन्तु वह वहाँ बैठे नहीं अपितु खड़े ही रहे? भगवान् सर्व सुखों के सागर हैं। जिन पर वह कृपा करते हैं, समस्त संसार उस पर दया करता है (राम भये जिहि दाहिने, सभी दाहिने ताहि)। ऐसे लोग किसी फल की कामना नहीं करते। भगवान के भक्तों पर जो अत्याचार

होते हैं, उनको स्वयं भगवान् सहन करते हैं। वे सदा उसके पास रहते हैं, कभी पृथक् नहीं होते और प्रत्येक संकट और दुरावस्था में उसकी रक्षा करते है।"

भगवान् की दृष्टि में जाति-पाँति व रूप-रंग का कोई भेद नहीं :

"जाति दोष कुल नाम गिनत नहि
रंक होय के गनै।"

चोखा मेला जाति-वहिष्कृत थे, किन्तु वह परम भक्त थे। अतः भगवान् स्वयं उनके सेवक बने और उनके साथ भोजन किया। जानी हर्षातिरेक मे कहती है— "इस भक्त ने भगवान् को भी अपनी ही तरह जाति-च्युत बना दिया है।"

अनुमान किया जाता है कि जानी ने तीन सौ पद लिखे है, किन्तु श्री अजगाँवकर के मतानुसार इनमें से केवल पच्चीस पद ही उसकी अपनी रचना हैं। जानी केवल अन्धभक्त नहीं थी, अपितु वह जीव, ब्रह्म और माया के रहस्यमय सम्बन्ध को भली भाँति समझती थी।

राजाई और गोणाई का उल्लेख अजगांवकर की पुस्तक में सन्तों के रूप मे नहीं है। किन्तु इनकी रचनाओं का वर्णन 'नवनीत' में पाया जाता है। राजाई नामदेव की स्त्री थी और गोणाई उनकी माता। नामदेव के कारण ही वे सन्त कहलायी। नामदेव को जीवन में भगवद्भक्ति के अतिरिक्त और किसी बात में रुचि या रस नहीं था। पण्ढरपुर के विट्ठल प्रभु के वह अयन्य भक्त थे। कुछ फुटकर अतुकान्त पद रजाई और गोणाई की रचनायें मानी जाती है किन्तु उपलब्ध नहीं हैं। नामदेव पारिवारिक और सांसारिक कार्यों की उपेक्षा करते थे, इस पर स्वभावतः राजाई ने उन्हें ऐसा करने से रोकने की यथाशक्ति चेष्टा की। नामदेव ने समस्त भारत का भ्रमण किया था और वह पंजाब तक आये थे। बचपन में नामदेव बड़े उद्दण्ड थे, किन्तु बड़े होने पर जब वह पण्ढरपुर के मन्दिर में सन्त ज्ञानेश्वर के सम्पर्क में आये तो उनके जीवन में बहुत सुधार हुआ।

ज्ञानेश्वर पहले महान् सन्त हुए हैं जिनसे सन्तों की एक परम्परा महाराष्ट्र में चली। सन्त ज्ञानेश्वर ने 'ज्ञानेश्वरी' नामक भगवद्गीता की एक टीका १२६० ईस्वी में लिखी। 'ज्ञानेश्वरी' टीका के पूर्व भी मराठी साहित्य में महानुभाव-साहित्य पर्याप्त मात्रा में पाया जाता था। महानुभाव-सम्प्रदाय एक गुप्त संगठन था जो कुछ विशेष कारणों से बहुत फैल नहीं पाया।

अजगाँवकर के अनुसार प्रथम मराठी सन्त महिला महदाईसा उपनाम महादम्बा थी जो १२१३ ईस्वी के लभभग हुई। यह सन्त महिला महानुभाव-सम्प्रदाय की थी और इस सम्प्रदाय के संस्थापक चक्रधर की शिष्या थी जो अपनी तान्त्रिक शक्ति के

लिए प्रसिद्ध थे। महदाईसा को साधारण प्रचलित मराठी भाषा जाननेवाले के लिए समझना कठिन है, परन्तु इसकी व्याख्या और टीका उपलब्ध है। अतः उसे समझना सुगम हो गया है।

महदाईसा के पश्चात् सन्त महिलाओं में मुक्ताबाई का नाम आता है। मुक्ताबाई सन्त ज्ञानेश्वर की बहन थी। वह एक विदुषी महिला थी। उन्होंने पर्याप्त संख्या में कविताएँ लिखी। निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपान और मुक्ताबाई महान् मराठी सन्त हुए हैं। मुक्ताबाई ज्ञानेश्वर की सबसे छोटी बहन थी। मुक्ताबाई वेदान्त से पूर्ण परिचित थी तथा उनकी रचनाएँ वेदान्तिक वाद-विवाद से परिपूर्ण हैं। ऐसा लगता है कि इस सन्त महिला ने यौगिक परम्परा का पूर्ण अध्ययन किया था और ज्ञानेश्वर की तरह मच्छिन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गहिनानाथ और ज्येष्ठ भाई निवृत्तिनाथ की परम्परा में इसका शिष्यत्व पाया जाता है। इन तीनों भाइयों और मुक्ताबाई का जीवनकाल स्वल्प था किन्तु महान् घटनाओं से परिपूर्ण।

पैठण के निकटवर्ती आपेगाँव स्थान पर एक त्र्यम्बक पन्त नामक व्यक्ति रहता था जो अपनी युवावस्था में प्रसिद्ध सैनिक रहा परन्तु बाद में सन्त गोरखनाथ के पथ का अनुयायी बन गया। त्र्यम्बक पन्त का पुत्र गोविन्द था और पुत्र-वधू नीराबाई। इन्हीं माता-पिता से पुत्ररत्न विट्ठल का जन्म हुआ था। बालक विट्ठल की रुचि शैशवकाल से ही सादगी, भक्ति और तपस्या के जीवन की ओर थी। एक बार इन्होंने तीर्थ-यात्रा की और वह पूना के निकटवर्ती स्थान आलन्दी पहुँचे। वहाँ इनका परिणय सिद्ध पन्त की पुत्री रुक्मिणी से हुआ। विवाह के उपरान्त भी वह सदा भगवत्-चिन्तन में रहते। स्वभावतः रुक्मिणी के लिए यह चिन्ता का विषय बन गया कि किस तरह उनकी रुचि सांसारिक जीवन में लगायी जाये। एक दिन अकस्मात् विट्ठल पन्त आलन्दी छोड़ काशी (वाराणसी) चले गये और महान् सन्त रामानन्द के चरणों में उपस्थित हुए। इन्होंने स्वामी रामानन्द को बताया कि न तो वह विवाहित हैं और न उनके कोई सन्तान ही है, अतः सन्त रामानन्द ने इन्हें संन्यासी जीवन की ओर प्रवृत्त किया और इनका नाम चैतन्याश्रम रखा।

कुछ समय बाद यात्रियों-द्वारा रुक्मिणी को सारा वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो वह विचलित नहीं हुई, अपितु आशा और प्रार्थना के सहारे जीवन व्यतीत करती रही। बारह या तेरह वर्षों के बाद एक बार स्वामी रामानन्द तीर्थ-यात्रा करते हुए आलन्दी पहुँचे। रुक्मिणी की भेंट उनसे मन्दिर में हुई तो उसकी शोक-गाथा सुन कर तथा उसके पति-द्वारा संन्यास लिए जाने का हाल जान कर उन्हें अत्यधिक दुःख हुआ। काशी लौटने पर सन्त रामानन्द ने चैतन्य से अनुरोध किया कि वह आलन्दी जाकर

पारिवारिक जीवन व्यतीत करे। पत्नी और सन्तान के रहते हुए संन्यास की दीक्षा लेना अनुचित है, विशेषकर जबकि चैतन्य ने असत्य भाषण कर संन्यास लिया है। गुरु का आदेश पा चैतन्याश्रम आलन्दी लौट आये किन्तु पारसी ब्राह्मण यह सहन न कर सके कि जिस व्यक्ति ने संन्यास ग्रहण कर लिया हो वह पुनः गृहस्थाश्रम का जीवन व्यतीत करे। अतः विट्ठल, उनकी पत्नी और उनके परिवार का, जिसमें अब उनके तीन पुत्र निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान और पुत्री मुक्ताबाई थे, सामाजिक बहिष्कार कर दिया गया। पुरोहितों और ब्राह्मणों के आदेशानुसार विट्ठल और उनकी पत्नी ने अपनी सन्तान को आलन्दी में छोड़ प्रयाग की ओर प्रस्थान किया और गंगा तथा यमुना के पवित्र संगम में डूब कर मर गये। ब्राह्मणों के मतानुसार विट्ठल के महा पापों का यही प्रायश्चित्त था।

अब निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान और मुक्ताबाई संसार में निराश्रय तथा अनाथ ही नहीं, अपितु जाति-बहिष्कृत भी थे। उस समय निवृत्ति की आयु दस वर्ष, ज्ञानदेव की आठ, सोपान की छः और मुक्ताबाई की चार वर्ष की थी। समय के साथ-साथ ज्ञानदेव की महान् विद्वत्ता, प्रतिभा और अद्भुत शक्ति के कारण ब्राह्मणों ने समाहित होकर इन लोगों को आलन्दी रहने की अनुमति तो दे दी, परन्तु अभी तक ये ब्राह्मण सम्प्रदाय से बहिष्कृत ही रखे गये। कोई भी श्रेष्ठ और कुलीन आलन्दी-निवासी उनसे मिलने और विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने को तत्पर न था। अतः ये सब अहमदनगर जिले के निवासे नामक स्थान पर जा बसे। कहा जाता है कि निवृत्ति ने गोहिनानाथ से नाथ-पन्थ के रहस्यवाद की दीक्षा ले ली और ज्ञानदेव को भी इसी पन्थ का अनुयायी बनाया। सोपान और मुक्ताबाई ज्ञानदेव की निरन्तर सँगति में रहने से सन्तावस्था को प्राप्त हुए। १२९६ ईस्वी तक मुक्ताबाई ने असख्य कविताओं की रचना की। उस समय उसकी आयु केवल २१ वर्ष की थी। ज्ञानदेव परमात्मा में लीन होकर जीवित ही समाधिस्थ हो गये। आज भी भक्तजन आलन्दी में उनके समाधि-स्थान पर तीर्थ-यात्रा के लिए जाते हैं।

मुक्ताबाई का काव्य यह प्रमाणित करता है कि वह वेदान्त के सिद्धान्तों से पूर्ण परिचित थीं। सन्त मुक्ताबाई के कथनानुसार "वही सच्चा सन्त कहला सकता है जो दया और क्षमा का भण्डार है और जिसके हृदय में लिप्सा तथा अहंकार का लेश-मात्र भी नहीं है। ऐसी महान् आत्माएँ ही सच्ची त्याग-मूर्तियाँ हैं।' मुक्ताबाई ने शिक्षा दी है कि ऐसे लोग ही इहलोक और परलोक दोनों में सुख पाते है, "जिनका हृदय पवित्र है, उनसे भगवान् दूर नहीं।" वह अपनी एक कविता में लिखती हैं—
"परमेश्वर हाट और बाजार में धन से नहीं मिलता। उसे पाने का अधिकार

तो सच्चे और सदाचारी जीवन को ही है। ईश्वर-प्राप्ति किसी शिक्षा से उपलब्ध नहीं होती, अपितु मनुष्य स्वयं उसे प्राप्त करता है।"

मुक्ताबाई ने १२९७ ईस्वी में वेरूला के पास माणगाँव मे निर्वाण प्राप्त किया।

श्री अजगाँवकर ने जिस दूसरी सन्त महिला का वर्णन किया है वह है जानी, जिसका उल्लेख पहले जनाबाई के नाम से किया जा चुका है। यह महिला विट्ठल प्रभु की उपासिका थीं। इसके पश्चात् सोयराबाई का उल्लेख आता है। ये भक्त चोखा-मेला की धर्म-पत्नी थी जो अन्त्यजों मे परिगणित हैं। यह महिला भक्ति-भाव से ओत-प्रोत थी और पति के पद-चिह्नों पर चलते हुए सन्त बनी। गद्य-काव्य के रूप मे प्रचुर भक्ति-साहित्य का निर्माण इन्होने किया है। चोखामेला उन महान् हरिजन सन्तों में से है जिनका सम्मान आज तक है। यद्यपि सन्त सोयराबाई ने अनेक कविताओं की रचना की किन्तु अब केवल उनकी ६२ कविताएँ ही ज्ञात है। उनकी शिक्षा है "दोष केवल काया में लगता है आत्मा तो सदैव ज्ञान मे निर्मल रहती है। मानव-काया तो पैदा ही गन्दी होती है फिर कोई इसे निर्मल कैसे कह सकता है, किन्तु काया की यह मलिनता काया तक ही सीमित रहती है। आत्मा को यह कलुषता स्पर्श नहीं करती। महर चोखामेला की धर्मपत्नी माहरी का यही कथन है।

वह नियमित रूप से प्रति वर्ष तीर्थ-यात्रा के लिए पण्ढरपुर जाती थी। क्रूर धर्मान्ध ब्राह्मण वर्ग ने इस दम्पति को अनेकों कष्ट दिये, किन्तु इन भक्तों की निष्ठा और मनःशान्ति मे कोई अन्तर नही आया और अन्ततोगत्वा ये उनके अत्याचारों पर विजयी हुए। चोखामेला के समाधि स्थल मंगलवेडा मे उनकी पुण्य स्मृति मे पक्की समाधि बनायी गयी है।

चोखामेला की छोटी बहन निर्मला दूसरी प्रसिद्ध सन्त मानी जाती है। सोयरा और निर्मला की ख्याति विशेषकर इस कारण भी हुई कि वे सन्त चोखामेला से सम्बन्धित हैं। माहर जाति मे उत्पन्न होनेवाले चोखामेला आदि व्यक्ति भी तत्कालीन समाज में इतने प्रसिद्ध सन्त माने जा सकते है, इससे स्पष्ट है कि उस समय भी जनता मे सहिष्णुता एवं उदारता की कमी नही थी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है सन्त चोखामेला सांगली के निकट मंगलवेडा स्थान पर पैदा हुए जहाँ उनकी समाधि आज भी स्थित है।

दूसरी सन्त महिला कान्होपात्रा एक नर्तकी की पुत्री थीं। इनका सौन्दर्य अलौकिक था। लोग चाहते थे कि वह तत्कालीन मुगल सम्राट् के रनिवास में स्थान प्राप्त करे किन्तु इस देवी को यह पसन्द नही था और अपने को असहायावस्था मे पाकर वह पण्ढरपुर चली गयी। वहाँ उसे यह जानने की उत्कण्ठा हुई कि क्या

विठोबा प्रभु, जो दयालु प्रभु माने जाते हैं, उसे अपनी उपासिका के रूप में स्वीकार करेंगे ? उसे बताया गया कि विठोबा भगवान् उसे सहर्ष ग्रहण कर लेंगे क्योंकि वह तो दयालु तथा अनाथों पर कृपालु प्रभु हैं। वह तो दीन और अनाथों के स्वामी और रक्षक हैं ही। अब वह मन्दिर सर्वसाधारण के लिए खोल दिया गया है जहाँ अन्त्यज आदि सभी वर्ग के लोग जा सकते हैं। यह सब जान लेने पर सन्त कान्होपात्रा अपने जन्म-स्थान मंगलवेडा को छोड़ कर पण्ढरपुर विठोबा मन्दिर में चली गयीं। कहा जाता है कि वहाँ पर तत्कालीन मुगल सम्राट् के सन्देशवाहक उसे सम्राट् के रनिवास में चलने के लिए बाध्य करने लगे। उसने सन्देशवाहकों से प्रार्थना की कि उसे पहले इष्टदेव के दर्शन करने की अनुमति दी जाये। इतना कहकर यह सन्त महिला विठोबा प्रभु की मूर्ति का आलिंगन करके वहीं निष्प्राण और भूमिसात् हो गयी।

प्रमाबाई नामक सन्त महिला विधवा थी। वह कवयित्री के रूप में अधिक प्रसिद्ध है, किन्तु उन्होंने मुख्यतः भक्ति रस की कविताएँ लिखी हैं। इस महिला के जीवन के सम्बन्ध में बहुत कम ज्ञात है, किन्तु उसकी कविताएं उपलब्ध हैं।

बहिणाबाई एक और सन्त महिला प्रसिद्ध हैं। उनका जन्म सत्रहवीं शताब्दी के तीसरे दशक में हुआ और मृत्यु १७०० ईस्वी में।

सन्त बहिणाबाई के पश्चात्, जिसका पर्याप्त साहित्य अब भी उपलब्ध है, एक दूसरी सन्त महिला हुई जिनका नाम वेणाबाई था। यह महिला सत्रहवीं शताब्दी के महान् सन्त समर्थ गुरु रामदास की शिष्या थी। वेणाबाई वेणा स्वामी रामदासी के नाम से भी प्रसिद्ध है। इनका गुरु रामदास के प्रति ऐसा अनुराग और ऐसी निष्ठा थी कि उसके कारण इन्हें अपने मातृकुल में अनेक यातनाएँ सहनी पड़ीं, क्योंकि इन्होंने इन दोनों परिवारों को गुरु रामदास की भक्ति के कारण छोड़ दिया था। अनुमानतः यह १६२० ईस्वी में पैदा हुई थीं। रामदासी साहित्य के अनुसन्धान-विशेषज्ञ श्री श्रीकृष्ण देव ने इस सन्त महिला के बारे में उल्लेख किया है। निःसन्देह यह देवी समर्थ गुरु रामदास की अनन्य उपासिका थीं क्योंकि रामदासजी स्वयं एक उच्चकोटि के सन्त थे। उन्होंने दासबोध तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों की रचना की है।

एक और सन्त महिला रामदास सम्प्रदाय की बयाबाई उपनाम बयाबाई रामदासी हुई हैं। यह महिला ८४ वर्ष की अवस्था तक जीवित रहीं। यह बड़ी प्रख्यात थीं। इनका एक शिष्य गिरधर था। इनको उर्दू और मराठी, दोनों भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान था। इन्होंने प्रभु की भक्ति और उनकी प्रशंसा में बहुत-सी उर्दू कविताएँ लिखीं। इनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में कोई विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं हैं।

परिच्छेद ६

बहिणा बाई

समय की विशद यवनिका उठी और विश्व-मंच पर लगभग तीन शताब्दी पूर्व सन् १६२८ में बहिणा बाई का जीवन-चरित्र प्रकाश में आया। सुप्रसिद्ध एलोरा की गुफाओं वाले क्षेत्र वेरूल के निकट देवगांव से यह जीवन-कथा आरम्भ होती है। यह स्थान देवताओं की नगरी कहलाता है। शिव नदी पास ही बहती है। स्नान के लिए यह स्थान अन्य पवित्र तीर्थ-स्थानों के समान ही महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए इसे लक्ष तीर्थ के नाम से पुकारा गया है। महर्षि अगस्त्य ने वरदान दिया था कि इस तीर्थ पर आकर स्नान-पूजन आदि करने वाले भक्तगण अपनी मनो-वांछित सिद्धि प्राप्त करेंगे।

इसी देवगांव में आऊजी कुलकर्णी नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह सीधा-सादा किन्तु भाग्यशाली व्यक्ति था। उसकी पत्नी जानकी बाई एक सद्गृहिणी थी। इस दम्पति के कोई सन्तान न थी। सन्तान-प्राप्ति के लिए ब्राह्मण-दम्पति ने लक्ष तीर्थ पर पूजन किया।

इसके फलस्वरूप आऊजी को तीन बार स्वप्न दिखाई दिया। स्वप्न में उन्होंने देखा कि एक पूज्य ब्राह्मण उन्हें दो पुत्र और एक पुत्री का आशीर्वाद दे रहा है। एक साल में ही अर्थात् सन् १६२८ में उनको एक कन्या-रत्न प्राप्त हुआ। कन्या का नाम बहिणा रखा गया।

हिन्दू रीति-रिवाजों के अनुसार कुल-पुरोहित विश्वेश्वर ने कन्या की जन्म-कुण्डली बनाई और भविष्यवाणी की, कि वह बहुत भाग्यवान होगी।

बहिणा अभी केवल चार वर्ष की ही थी कि उसकी सगाई कुलकर्णी-परिवार से सम्बन्धित गंगाधर पाठक नामक ३० वर्षीय व्यक्ति से कर दी गई। गंगाधर पाठक शिवपुर में रहते थे।

चार वर्ष शान्तिपूर्वक बीत गए, किन्तु कालान्तर, बहिणा के पिता पारि-वारिक सम्पत्ति के झगड़े में फंस गए और इसके फलस्वरूप परिवार को गरीबी तथा पारिवारिक कलह के कुपरिणाम भुगतने पड़े। गंगाधर उनकी सहायता के लिए आए। उन्होंने सोच-विचार कर यही निर्णय दिया कि ब्राह्मण दम्पत्ति के लिए गांव छोड़ कर अन्यत्र चले जाने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है। आखिरकार

एक दिन रात के समय आऊजी परिवार ने देवगांव छोड़ दिया। उन्होंने रास्ते में बड़ी कठिनाइयां सहीं। यहां तक कि उन्हें भिक्षा भी माँगनी पड़ी। कहा भी तो गया है—सचाई का मार्ग सहज-सुगम नहीं होता। अपनी यात्रा में इस परिवार ने कई तीर्थ-स्थानों के दर्शन किए और पवित्र नदियों में स्नान किया। जब कभी वे किसी पवित्र स्थल पर जाते तो बहिणा बाई को बड़ा सुख मिलता था। महाराष्ट्र की वाराणसी, पंढरपुर में वे पांच दिन ठहरे। भगवान् पाण्डुरंग की प्रतिमा को देख कर बहिणा को बड़ा सुख मिला। इसके उपरान्त वे भगवान् शिव की चरण-रज से पवित्र हुए महादेव वन को गए। ब्राह्मण होने के नाते ये लोग भिक्षा में पकाया हुआ भोजन नहीं ग्रहण करते थे। केवल अन्न बिना पकाया ही लेते थे। इस प्रकार चलते-चलते वे रहिमतपुर में बसने के लिए विवश हुए। सौभाग्य से गांव का पुजारी कहीं गया हुआ था, अतः गंगाधर को उसकी अनुपस्थिति में पुजारी का काम सौंपा गया।

बहिणा अब ग्यारह वर्ष की थी, किन्तु उसे साधु-संन्यासियों के प्रवचन सुनना तथा उनका सत्संग करना बहुत रुचिकर लगता था। पड़ोस की लड़कियां जब उसके साथ खेलने को आतीं तो देखती कि वह प्रभु का चिन्तन कर रही है। लगता था कि पूर्व जन्मों में ईश्वर-प्राप्ति के यत्न से अतृप्त बहिणा अपने इस जीवन को ईश्वर के ध्यान में बिताना चाहती थी। ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा ही उसका सबसे बड़ा खेल था।

गांव के पुरोहित के वाराणसी से लौटने पर गंगाधर को अपने नव-प्राप्त काम से छुटकारा मिल गया। अब कमाने का और कोई धन्धा गंगाधर को नहीं सूझता था। तब यह परिवार सुप्रसिद्ध धार्मिक स्थान कोल्हापुर गया। यहीं से बहिणा की जीवन-गाथा आरम्भ होती है।

कोल्हापुर में ब्रह्म भट्ट नाम का ब्राह्मण रहता था। उसे वेद और शास्त्रों का बहुत ज्ञान था। उसने दया करके आऊजी परिवार को आश्रय प्रदान किया। ब्रह्म भट्ट के मकान में रहकर पुराण की कथा सुनने तथा हरि-कीर्तन का सुअवसर आऊजी परिवार को भी प्राप्त हुआ। इसी नगर में जयराम स्वामी रहा करते थे जो भागवत पुराण की कथाएं गाते थे। इनसे पौराणिक कथाएँ सुनकर बहिणा के हृदय में पूजन, ध्यान आदि की इच्छा बलवती हुई।

किसी पर्व पर ब्रह्म भट्ट को एक गहरे काले रंग की गऊ दान में मिली। उसके सींग मुलम्मा से मढ़े हुए थे। खुरों पर चांदी चढ़ी हुई थी। उसकी पीठ पर पीली रेशमी झूल पड़ी हुई थी। तात्कालिक दान की परम्परा के अनुसार यह विशिष्ट भेंट थी। इस गऊ ने एक काला बछड़ा भी दिया। बछड़े के जन्म के दस दिन

बाद ब्रह्म भट्ट के मन में यह विचार आया कि वह यह गऊ गँगाधर को दान कर दे। अस्तु, उसने गऊ दान कर दी। गऊ को पाकर ब्राह्मण परिवार बड़ा प्रसन्न हुआ। बछड़े को बहिणा से बड़ा प्रेम हो गया। वह जहां भी जाती बछड़ा उसके साथ जाता। यहां तक कि बछड़ा चारा-पानी भी बहिणा के हाथों ही खाता-पीता था। जब वह जल भरने जाती, बछड़ा रँभाता और पूछ उठा कर बहिणा के साथ हो लेता। बहिणा अपने इस बछड़े की प्रत्येक बात उसी प्रकार समझ लेती थी जिस प्रकार कोई बच्चा अपने पालतू पशु की भाषा समझ सकता है। यदि हम में अगाध प्रेम हो तो हम किसी भी पशु की भाषा समझ सकते हैं। बहिणा को पता चल गया कि बछड़े को कीर्तन के प्रति श्रद्धा-सी है, क्योंकि जब कभी भी वह कीर्तन में जाती बछड़ा उसके साथ जाता था। वह इस सत्संग में बहुत सावधानी से बैठा रहता। किसी को भी बछड़े के कारण कष्ट नहीं होता था। विचार करने के उपरान्त बहिणा और अन्य भक्त-जनों ने यह मान लिया कि बछड़े में किसी योग-भ्रष्ट व्यक्ति की आत्मा है।

कोल्हापुर में जयराम स्वामी का कीर्तन बहुत जनप्रिय हो गया था। बहिणा कीर्तन में भाग लेती थी। वह और उसका बछड़ा नगर में चर्चा का विषय था। यद्यपि उसका पति भक्ति-भावना रखने वाला व्यक्ति था किन्तु था स्वभाव का जरा तेज़। उसकी पत्नी की समाज में चर्चा हो यह बात उसे सह्य न थी। ऐसी ही चर्चा सुनकर एक दिन उसे बड़ा क्रोध आया। वह दौड़ता हुआ घर गया और बहिणा के बाल पकड़कर उसे बहुत मारा। बहिणा को बहुत दुःख हुआ। गाय और उसका बछड़ा भी रँभाने लगे। बहिणा जो केवल ग्यारह वर्ष की बालिका थी अपने ३७ वर्षीय पति का विरोध कैसे कर सकती थी। वह सोचने लगी कि आखिर उसने कौन-सा बुरा काम किया है। उसके माता-पिता भी उसके पति को शान्त करने में असमर्थ रहे। उन्होंने उससे क्रोध का कारण जानना चाहा। ईर्ष्यालु पति ने क्रोधित होकर उत्तर दिया—"जयराम स्वामी की विशेषता क्या है? हरि-कीर्तन की इतनी अधिक चिन्ता कौन करता है? मैं उसे फिर पीटूंगा, यदि उसने दुबारा कीर्तन में जाने के लिए कदम उठाया!" तब से वह अक्सर बहिणा को मारा-पीटा करता था।

अन्त में ब्रह्म भट्ट से, जो परिवार का मुखिया था, यह सहन नहीं हुआ। उसने एक दिन गंगाधर से घर छोड़ कर तत्काल चले जाने को कहा। इसके बाद घर में लगभग एक पक्ष तक कुछ शान्ति बनी रही। अचानक गाय का बछड़ा बहुत बीमार पड़ गया। सभी निराश हो गए, उसे बचाने की बहुत कोशिश की गई, उसके ओंठ फड़फड़ा रहे थे। बहिणा को उससे बहुत अधिक प्रेम था, अतः वह उसके अन्तिम शब्दों

को समझ रही थी। उसे अपनी बाल-बुद्धि के अनुसार ऐसा लगा मानो बछड़ा ईश्वर से प्रार्थना कर रहा है। दूसरे दिन बछड़ा चल बसा। बहिणा के हृदय पर इस घटना का बहुत गहरा असर पड़ा। वह तीन दिन तक बेहोश पड़ी रही। चौथे दिन उसे ऐसा आभास हुआ मानो एक ब्राह्मण उसे जगा कर कह रहा है—"बहिणा उठो! विचार करना आरम्भ करो! तुम्हारे में ज्ञानोदय होना चाहिए!"

जब उसने आंखें खोलीं तो देखा कि दीपक जल रहा है। अर्ध-रात्रि का समय था। उसके माता-पिता, भाई और पति घबराए हुए उसके पास बैठे थे। स्वप्न में जिस ब्राह्मण को बहिणा ने देखा था, वह पण्ढरपुर के पाण्डुरंग के प्रतिबिम्ब-सा था। इसके उपरान्त उसकी स्मृति में केवल देवताओं और सन्तों की प्रतिमाएँ, उनकी कहानियाँ और पद ही शेष रहे थे। वह महाराष्ट्र के तात्कालिक ख्याति-प्राप्त सन्त तुकाराम के दर्शनों के लिए लालायित हो उठी। उसने यह घोषणा कर दी कि तुकाराम ही मेरे गुरु हैं। उनसे दीक्षा पाए बिना, वह पानी के बाहर पड़ी मछली की तरह तड़पेगी।

उसे याद आया कि तुकाराम ने किसी ब्राह्मण की इच्छा रखने के लिए अपनी काव्य-पुस्तक की पाण्डुलिपि गहरे जल में बहा दी थी और तेरह दिन के उपरान्त जब वह पाण्डुलिपि निकाली गई, तो ज्यों की त्यों प्राप्त हुई। विभिन्न विचारकों और सत्पुरुषों में केवल उन्होंने मराठी भाषा में जन-साधारण के लिए वेदान्त का सार प्रस्तुत किया। अपने गुरु के ध्यान में बहिणा फिर अचेत हो गई। बछड़े की मृत्यु के सत्रहवें दिन, बहिणा ने सन्त तुकाराम के दर्शन स्वप्नावस्था में किए। सन्त ने बहिणा को धैर्य दिलाते हुए "राम कृष्ण हरि" का मंत्र दिया।

आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के हित सन्त तुकाराम ने बहिणा बाई का पथ-प्रदर्शन किया। उन दिनों जब उसकी चेतनावस्था थी जयराम स्वामी उसे देखने आए। बहिणा की शैया के समीप बैठे-बैठे जयराम स्वामी तनिक देर के लिए समाधिस्थ हो गए। लेकिन अचानक ही बहिणा ने ऐसा अनुभव किया मानो सन्त तुकाराम उससे कह रहे है, "मैं स्वामी जयराम से मिलने आया हूं। यहाँ मैंने तुम्हें देखा। मुक्ति के लिए तुम्हारी उत्कट इच्छा की मैं प्रशंसा करता हूं। अब यहां मत रुको। आत्म-ज्ञान और अनुभूति के लिए यत्न करो।" इसी प्रकार अनेकों बार बहिणा को सन्त की छवि दिखाई दी, किन्तु अधिकांश लोगों के लिए यह केवल पागलपन ही था। लोग झुंड बना कर आते और उसके बारे में पूछते-जांचते। कुछ बहिणा के सात्विक जीवन के प्रशंसक भी थे। गंगाधर निर्दय और ईर्ष्यालु स्वभाव का व्यक्ति था। वह अपनी पत्नी के बारे में उत्सुक जन-समूह का आना-जाना

बिलकुल पसन्द नही करता था। वह यह भी पसन्द नही करता था कि उस जैसे कर्मकाण्डी ब्राह्मण की पत्नी का गुरु, तुकाराम जैसा शूद्र हो। उसे ऐसा लगा कि तुकाराम ने उसके पारिवारिक जीवन की जड़ें हिला दी हैं। अपनी पत्नी की लोकप्रियता और पत्नी के सामने अपनी उपेक्षा वह सह नहीं पाता था। पति का सहज स्वाभिमान पत्नी की ख्याति के आगे झुकने को तैयार न था। ऐसे घर में जहां उसका प्रभाव दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा था ठहरना अब उसके लिए असंभव हो गया था।

एक दिन उसने बड़े विनम्र भाव से अपने श्वसुर से कहा— "आपकी पुत्री यानी मेरी पत्नी यद्यपि अब गर्भवती है फिर भी मैंने उसे आपके पास छोड़ देने का निश्चय कर लिया है। मैं अब तीर्थ-यात्रा के लिए जाऊँगा। इसका कारण है पत्नी की ईश्वर-प्राप्ति की प्रबल इच्छा तथा तुकाराम गुरु के प्रति अनावश्यक श्रद्धा। मैं अब नही लौटूंगा। मैं अब उसका मुह नहीं देखूंगा। अपनी ही पत्नी द्वारा अपना अपमान सहने के लिए कौन तैयार होगा!"

अचानक ही विदाई के दिन गंगाधर बीमार हो गया। वह सात दिन तक तेज़ बुखार में पड़ा रहा। उसने न तो भोजन ग्रहण किया और न दवा ही। बहिणा रात-दिन सेवा में रहती। गंगाधर को बडा कष्ट हो रहा था। अन्त में उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसे लगा कि यह शारीरिक कष्ट उसे भगवान् पाण्डुरंग एव उनके भक्त तुकाराम के अपमान के फलस्वरूप ही प्राप्त हुआ है। ऐसी स्थिति में सभवतः उसकी आत्मा ही कह रही थी "तू क्यों मर रहा है? अगर तू जीवित रहना चाहता है तो अपनी पत्नी को अंगीकार कर ले। उसने तेरा क्या बिगाड़ा है? वह तो सच्ची ईश्वर-भक्त है। तुम्हें भी उसके साथ मिलकर ईश्वर-भक्ति में जुट जाना चाहिए।" यह सन्देश उसने बहिणा की उपस्थिति में ही सुना। इसके बाद ही बहिणा को यह जान कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उसका पति स्वस्थ हो रहा है। गंगाधर को लगा कि उसका पुनर्जन्म हुआ है और वह हरि की भक्ति में लग गया। उसने अपने श्वसुर से कहा कि वे देवगांव लौट जाएं तथा उसे और उसकी पत्नी को वन में तपस्या करने की आज्ञा दें।

इस घटना के उपरान्त इस ब्राह्मण-परिवार ने पूना के निकट देहू नामक तीर्थ-स्थान पर जाकर सन्त तुकाराम के दर्शन की ठानी। गऊ भी उनके साथ गई। इन्द्रयानी में स्नान करने के उपरान्त उन्होंने सन्त तुकाराम के दर्शन किए। सन्त उस समय मन्दिर में बैठे पूजा कर रहे थे। बहिणा को सन्त तुकाराम के दर्शन करके, जिन्हें उसने कोल्हापुर में ध्यानावस्था में देखा था, बड़ी शान्ति हुई। दर्शन करते ही उसमें

भावनात्मक परिवर्तन हुआ । सभी वस्तुएं बदली-बदली-सी दिखाई देने लगीं । द्वैत की भावना मिट गई । उसकी बुद्धि स्थिर हो गई और हृदय निष्काम हो गया । उस क्षण का वर्णन करते हुए बहिणा ने कहा है कि "तुकाराम के दर्शन पाते ही मेरा अहं और साँसारिक व्याधियों का बोझ नष्ट हो गया ।"

देहू में उनके लिए कोंडाजी नामक ब्राह्मण द्वारा भोजन की व्यवस्था का वचन मिला किन्तु आवास की व्यवस्था न हो सकी । माम्बाजी स्वामी से, जो पड़ोस में ही रहते थे और बहुत बड़े मकान के स्वामी थे, गंगाधर ने स्थान देने की प्रार्थना की । उन्होंने गगाधर को डंडे मार कर निकाल दिया । तब वे मन्दिर में यात्रियों के ठहरने के स्थान में ही रुक गए । वहां वे बहुत शान्तिपूर्वक रहते और सन्त तुकाराम का हरिकीर्तन सुनते ।

माम्बाजी क्रोधी, ईर्ष्यालु और अहंकारी था । वह अपने को देहू का प्रमुख नागरिक समझता था । तुकाराम से, जो किसी भी विद्या का ज्ञाता होने का दम्भ नहीं करता था, कई व्यक्ति मिलने-जुलने आते थे । माम्बाजी को यह सब देख कर जलन होती थी । उसने गंगाधर और उसकी पत्नी से अनुरोध किया कि वे उसके शिष्य बन जाएँ । इस पर उत्तर मिला कि गंगाधर और उसकी पत्नी तो तुकाराम को अपना गुरु मानते हैं । उत्तर सुनकर माम्बाजी भर्त्सना भरे स्वर में बोला—"अरे ! तुम ब्राह्मण होकर भला शूद्र तुकाराम को अपना गुरु कैसे मानते हो ? क्या अब शूद्र को भी ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो रहा है ? याद रखो इसके कारण तुम्हारा जाति-बहिष्कार होगा" इसके बाद वह इस परिवार का विरोधी हो गया और हर समय गंगाधर तथा उसकी पत्नी को बुरा-भला बकता रहता । बहिणा ने इससे प्रेरित होकर कहा था — "परीक्षा की दृष्टि से प्रभु हमें कई प्रकार से कष्ट भोगने पर विवश करता है ।" बहिणा का कथन ठीक है । हम यह अन्यत्र भी देखते है । सन्तों और महापुरुषों को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । बड़ी परीक्षाएं देनी होती है । तुकाराम को भी ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ा था ।

तुकाराम जैसे शूद्र की बढ़ती हुई ख्याति को देखकर माम्बाजी ने पूना के अप्पा जी स्वामी को पत्र लिख कर सूचित किया कि तुकाराम जैसे शूद्र की इतनी हिम्मत बढ़ गई है कि वह मन्दिर में कीर्तन करता है । मन्दिर में ही रहने वाला ब्राह्मण परिवार उसको पूज्य मानता है । पत्र में माम्बाजी ने बहिणा तथा गगाधर के नाम का उल्लेख किया और अप्पाजी स्वामी से अनुरोध किया कि वे तुकाराम के लिए दण्ड की व्यवस्था करें ।

एक शूद्र, ब्राह्मण का गुरु है, यह समाचार अनोखा था। ऐसी खबर पाकर अप्पाजी स्वामी बहुत क्रोधित हुए। उन्होंने बहिणा के परिवार को जाति से बाहर करने की घोषणा की। इधर माम्बाजी ने अपना विरोध जारी रखा और बहिणा के परिवार को आज्ञा दी कि वह किसी अन्य स्थान को चले जाएँ।

बहिणा के परिवार की गाय उनके साथ ही थी। एक दिन माम्बाजी ने उन्हें परेशान करने की दृष्टि से गाय चुरा ली। उसने उस गाय को बड़ी निर्दयता से बांध कर अपने घर के किसी कोने में छिपा दिया। गाय को तीन दिन तक चारा-पानी कुछ भी नही दिया गया। यही नही वह बंधी गाय को पीटता भी था। बहिणा अधीर हो गई। गंगाधर ने गाय की खोज के लिए कोई भी प्रयत्न बाकी न छोड़ा। इधर गाय सन्त तुकाराम को स्वप्न में दिखाई दी और छुटकारे के लिए याचना करने लगी। जब भी गाय को मार पड़ती, आत्मिक एकरूपता के कारण तुकाराम के शरीर पर सूजन आ जाती।

अचानक माम्बाजी के घर में आग लग गई। गांव के लोग सहायता के लिए दौड़े और आग बुझा दी गई। सहायता के लिए वहाँ गए आदमियों ने गाय को आपत्ति में पड़ी रँभाते देखा। गाय को जलने से बचाया गया। लोगों ने यह देखकर आश्चर्य किया कि जैसे निशान गाय की पीठ पर है वैसे ही सन्त तुकाराम के शरीर पर भी हैं। लोग सन्त तुकाराम की तुलना सर्वव्यापी प्रभु पाण्डुरंग से करने लगे।

तभी बहिणा ने एक कन्या को जन्म दिया, जिसका नाम काशीबाई रखा गया। बहिणा को ऐसा आभास हुआ कि उसकी कोख से काले बछड़े ने पुनर्जन्म लिया है। बच्चे के जन्म पर हर मां प्रसन्न होती है परन्तु बहिणा अपने स्वभाव के अनुसार उदासीन ही बनी रही। उसके मन में विचार आता कि स्त्री होने के नाते वह संसार के झंझट से छुटकारा नहीं पा सकती और इसीलिए वह मनचाहे आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति करने में असमर्थ है। उसके चारों ओर ऐसे सम्बन्धियों और साथियों का घेरा पड़ा हुआ है जो आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के लिए की जाने वाली तपस्या के विरोधी हैं। उसके पति यद्यपि वेदान्ती हैं किन्तु ईश्वर-प्राप्ति की सच्ची लगन उनमें भी नहीं है। उस विरोधी वातावरण को असह्य समझ कर बहिणा आत्मघात पर उतारू हो गई। उसकी आत्मा देह के बन्धन से मुक्त होने के लिए आतुर थी। उसे लगा कि आत्मघात ही उसे मानसिक वेदना से छुटकारा दिला सकेगा। उसका मन होता कि वह नदी के गहरे पानी में डूब जाए अथवा चिता पर चढ़ कर भस्म हो जाए। इस प्रकार जब उसकी वेदना बढ़ी तो उसने प्रभु से प्रार्थना की—"हे प्रभु! तुम मुझे पति के माध्यम से चिढ़ा रहे हो किन्तु मैं तुम्हारी भक्ति

नहीं छोड़ूंगी, चाहे मेरे प्राण ही क्यों न निकल जाएँ। प्रभु ! मेरी सहायता करो जिससे मैं ज्ञान-चक्षुओं द्वारा तुम्हारे निराकार रूप के दर्शन कर सकूं। अगर व्याकुल होकर मैं आत्मघात कर लूंगी तो जिम्मेदारी तुम्हारी होगी। इसलिए अपने बच्चे की रक्षा करो, भगवान् !"

वह तीन दिन की समाधि लेना चाहती थी, परन्तु ऐसा करने का उसे अवसर ही नहीं मिलता था। एक दिन किसी कार्यवश गंगाधर को पूना जाना पड़ा। तभी उसे अवसर मिल गया। वह घंटों तक ध्यानावस्था में बैठी रही। उस समय वह हृदय में श्रीराम का ध्यान कर रही थी और सामने थी विठोबा की मूर्ति। उसके नेत्र बन्द थे। ध्यानावस्था में उसने देखा कि सन्त तुकाराम उसे कवित्व शक्ति प्रदान कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि "बहिणा ! यह तेरा तेरहवां और अन्तिम जन्म है। तून अपनी सभी इच्छाओं को पूरा कर लिया है। यही नहीं अपने पिछले कर्मों का प्रतिफल भी भुगत लिया है। अब जिस पुत्र को तू जन्म देगी, वह पिछले जन्म मे तेरा साथी ही था।" उसे सन्त के स्पर्श का आभास हुआ और उसकी इन्द्रियां शिथिल हो गईं। उसे ईश्वर की उपस्थिति का आभास हुआ। ऐसी ध्यानावस्था में—जबकि उसकी आत्मा खुशी के मारे नाच रही थी—उसने इन्द्रयानी नदी में स्नान किया और मन्दिर में जाकर विठोबा की मूर्ति का पूजन किया। तभी उसने पांच कविताएँ लिख कर विठोबा को अर्पित कीं। काव्य की दृष्टि से ये उसकी पहली रचनाएँ थीं।

देहू छोड़ कर यह परिवार शीउर में बस गया। इस बीच बहिणा ने मौन व्रत धारण किया। वह आध्यात्मिक चिन्तन में इतनी व्यस्त रहती थी कि सँसार की बातों की तरफ ध्यान देने की उसे फुर्सत ही नहीं मिलती थी। इन दिनों कोई उल्लेखनीय घटना नहीं घटी। बहिणा का जीवन शान्तिपूर्वक चलता रहा। उसके पति और माता-पिता की मृत्यु कब हुई इसका पता नहीं चलता। सन् १६४६ में सन्त तुकाराम का स्वर्गवास हो गया। बहिणा को जब अपने गुरु की मृत्यु की सूचना मिली तो वह बहुत दुखी हुई। वह देहू आई और उसने १८ दिन तक उपवास किया। उसकी मनोकामना पूर्ण हुई। संत तुकाराम ने उसे दर्शन देकर आशीर्वाद दिया।

उन दिनों महाराष्ट्र उन्नति के शिखर पर था। शिवाजी की ख्याति दिन दूनी रात चौगुनी फैल रही थी। विशाल महाराष्ट्र साम्राज्य की स्थापना में उन्हें तुकाराम और रामदास जैसे धार्मिक नेताओं का सहयोग प्राप्त हो रहा था। बहिणा ने किसी गुणीजन के सहयोग की आवश्यकता अनुभव की। रामदास उसकी रुचि के महात्मा थे। अतः बहिणा ने रामदास को ही वह आदर दिया, किन्तु वे भी १६८१ में स्वर्गवासी

हो गए। इस प्रकार बहिणा अत्यधिक दुखी हृदय लेकर शीउर लौटी। इसके बाद का उसका जीवन-क्रम अज्ञात है। क्योंकि अपने बाद के जीवन में बहिणा मानसिक द्वन्द्व और व्याकुलता का अनुभव करती रही थी।

अब बहिणा जो ७२ वर्ष की थी अपने पीछे मृत्यु की छाया देख रही थी। उसकी पुत्र-वधू रुक्मिणी की मृत्य हो गई थी, और रुक्मिणी का पति विठोबा जब गोदावरी के तट पर स्थित शुक्लेश्वर में अपनी पत्नी का अन्तिम संस्कार कर रहा था, तो उसे अपनी मां का पत्र मिला। उसमें लिखा था—"तुम शीघ्रातिशीघ्र लौट आओ, क्योंकि आज से पांच दिन बाद मेरा अपेक्षित अन्त आ जाएगा, किन्तु तुम्हारे आने तक मैं उसे आत्मसंयम द्वारा रोक लूंगी।" पत्र पाते ही विठोबा ने गोदावरी के तट पर बहिणा की समाधि के लिए स्थान चुना तथा शीघ्रता से घर लौटा।

उसने घर आकर मां को बताया कि स्वप्न में उसने भी उसकी मृत्यु की सूचना पाई थी और ज्यों ही उसे पत्र मिला वह शीघ्र घर लौट आया। समाधि के लिए बहिणा संगम को पसन्द करती थी, इसलिए बहिणा ने कहा—"सुनो मेरे बेटे! हम दोनों ने मिल कर गत बारह जन्मों में धार्मिक कृत्य किए हैं। तेरहवें जन्म में तुम मेरे बेटे बने हो। यह मेरा अन्तिम जन्म था, क्योंकि मनोकामनाओं का, जो पुनर्जन्म के कारण होती है, मैंने अन्त कर दिया है।" विठोबा को मृत्युशैया पर पड़ी बहिणा बाई का यह कथन सुनकर आश्चर्य हुआ। वह पूरी तरह होश में थीं। विठोबा के लिए अविश्वास की कोई गुंजाइश नहीं थी, क्योंकि बहिणा ने जीवन भर उससे कभी झूठ नहीं बोला था।

"माँ!" उसने कहा—"मुझे तनिक शंका है!"

"क्या है बेटे? बोलो!"

"माँ! तुमने मेरे पूर्व-जन्मों का उल्लेख किया, पर क्या तुम उनके बारे में सविस्तार कुछ जानती हो?"

"हां बेटे! क्यों नहीं। यद्यपि मैं किसी को भी यह नहीं बताना चाहती थी, पर तुम्हारी इच्छा है, अतः बताती हूं।" इतना कहकर बहिणा ने अपने पूर्व बारह जन्मों की कहानी कही और बतलाया कि वह तेरहवें और अन्तिम जन्म को कैसे प्राप्त हुई।

जैसे ही मृत्यु का समय निकट आया बहिणा ने अपने पुत्र से कहा कि ब्राह्मण बुलवा कर वेद मंत्रों का पाठ कराओ। अब वह अलौकिक नाद को सुन रही थीं। मृत्यु के समय होने वाली स्थिति का उन्होंने बड़ा ही विस्तृत वर्णन किया और अपने दाह-संस्कार आदि के बारे में आदेश दिया।

अपने तेरहवें जन्म में मोक्ष के लिए कठिन साधना कर सन् १७०० में, बहत्तर वर्ष की आयु में यह भक्त महिला शान्तिपूर्वक स्वर्ग सिधारीं।

बहिणा साधारण कोटि की कवयित्री नहीं थी। उनकी आत्मकथा कविता में है। अपने गुरु तुकाराम के समान उनकी शैली भी बड़ी स्पष्ट किन्तु सार-गर्भित थी। तुकाराम के समान इन्होंने भी "अभंग" छन्द का प्रयोग किया था। सहज सुलभ धारा-प्रवाह पद्य, उनकी कविता का परिचायक है। आत्म-ज्ञान, जीवन, धर्म, सद्गुरु, सन्तवृत्ति, ब्राह्मणत्व, भक्ति आदि उनकी कविता के विषय थे। उनके काव्य में घरेलू और चारित्रिक शिक्षाएं भी हैं जिससे सामान्य पाठक बड़ी प्रेरणा प्राप्त करते हैं। आध्यात्मिक चिन्तन के लिए अत्यधिक लगाव और साँसारिक पदार्थों के प्रति उपेक्षा के कारण इस महिला के, पारिवारिक जीवन के बारे में बड़े अनोखे विचार हैं। पत्नी के कर्त्तव्यों पर तो इनके विचार उल्लेखनीय हैं। इन्हीं विचारों में तीन सौ साल पहले की भारतीय नारी की दशा का सजीव चित्रण हो जाता है। उन दिनों पत्नी का पति से परे कोई महत्त्व नहीं था। बहिणा कहती है कि "एक कर्त्तव्यपरायणा पत्नी अपने पति और धर्म दोनों के प्रति समान रूप से जागरूक रहती है। ऐसी पत्नी तो स्वर्ग को अपनी मुट्ठी में रखती है। कर्त्तव्य-परायणा पत्नी वही है जिसके मन में क्रोध और घृणा का कोई स्थान नहीं है, जिसको ज्ञान का घमण्ड नहीं है, जो कुकृत्यों से बचती है और आज्ञाकारिणी है, जिसने काम-वासनाओं पर नियंत्रण कर लिया है, जो साधुओं की सेवा के लिए सदैव तैयार रहती है और बिना किसी आनाकानी के पति की आज्ञा पालती है। ऐसी पत्नी अपने साँसारिक जीवन पर विजय प्राप्त कर स्वर्गधाम जाती है। पत्नी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने पति की इच्छा को पूर्ण सद्भावना से स्वीकार कर अपनी गृहस्थी को सुखमय बनाए। ऐसा करने में चाहे उसकी मृत्यु ही क्यों न हो जाए, परन्तु उसे इन बातों का उल्लँघन नहीं करना चाहिए। ऐसी स्त्री, उसकी जाति और उसका परिवार धन्य है!"

बीसवीं शताब्दी की महिलाएँ, जो स्वतन्त्रता और समानता के लिए पुरुषों से झगड़ रही हैं, इस प्रकार के विचार सुन कर मुंह बिचकाएँगी, किन्तु बहिणा बाई ने यह सब, वेदान्त से प्रभावित होकर तात्कालिक समाज के अनुरूप चरित्र-निर्माण और जन-सेवा की भावनाओं की शिक्षा देने की दृष्टि से कहा था। इसलिए उनका जीवन-चरित्र जहाँ हमें धार्मिक सिद्धान्तों की शिक्षा देता है वहां जीवन को सुखमय बनाने का मार्ग भी सुझाता है।

परिच्छेद १०

गौरीबाई

भारतवर्ष में महापुरुषों और सन्तों की जीवनियाँ लिखने की प्रथा नहीं रही। राज-दरबारी कवि राजाओं के धन-वैभव और वीरता के यशोगान में कविताएं और पुस्तकें लिखते रहे हैं। परन्तु ये रचनाएँ बड़े-बड़े पुरस्कार पाने के लोभ से प्रेरित होकर लिखी जाती थीं। अतः इनमें वस्तु-स्थिति तथा राजा-महाराजाओं के गुणों के अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण ही अधिकतर पाए जाते हैं, वास्तविकता कम। सम्राटों के जीवन-चरित्र और वातावरण का यथार्थ चित्रण नहीं मिलता। मुसलमान शासन-काल में मुसलमान लेखकों द्वारा जो ऐतिहासिक जीवन-चरित्र लिखे गए हैं उनसे तत्कालीन जीवन और शासन-व्यवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, किन्तु सन्तों के जीवन-चरित्र के बारे में जो भी ज्ञान प्राप्त होता है उसका आधार किंवदन्तियाँ तथा वंश-परम्परानुगत चली आ रही कहानियाँ ही हैं।

यह सौभाग्य की बात है कि गुजरात की सन्त कवयित्री गौरीबाई के विषय में जो कुछ भी जानकारी प्राप्त हुई है वह उसके जीवन-कार्यों और कृतियों के बहुत निकट है, कपोल-कल्पित अथवा निराधार नहीं। कारण यह है कि गत शताब्दी में जब उसकी जीवनी लिखी गई तब गौरीबाई के दो सम्बन्धी स्वयं उपस्थित थे और उन्होंने अपने सन्त पूर्वजों से सम्बन्धित कुछ बातें बताईं भी। किन्तु फिर भी जैसा कि हर देश के सन्तों के विषय में होता आया है हमारी सन्त कवयित्री की जीवन-गाथा में तथ्यों के साथ कुछ किंवदन्तियां भी जोड़ दी गईं। फलतः उसके चरित्र का वास्तविक चित्रण दुष्कर हो गया है।

गौरीबाई का जन्म संवत् १८१५ (सन् १७५९) में गिरिपुर (जिसे डूंगरपुर भी कहा जाता था) में हुआ था। यह स्थान राजपूताना और गुजरात प्रदेश की सीमा पर स्थित वागड में है। वह, वडनगरा नागर गृहस्थ जाति की थीं। यह गुजरात की प्रमुख जाति है जिसकी स्त्रियां भी शत-प्रतिशत सुशिक्षित होती हैं। इस जाति को यह गर्व है कि इसमें फारसी तथा गुजराती के दिग्गज साहित्यकार उत्पन्न हुए जो हिन्दू और मुसलमान शासन-काल में उच्च पदाधिकारी रहे।

गौरीबाई के माता-पिता के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं, किन्तु यह निश्चित है कि उसकी एक बहन थी जिसका नाम चम्पू था। चम्पू का फूलशंकर नाम का पुत्र तथा

चातुरी और जमुना दो पुत्रियां थीं। इनमें से चातुरी विवाह के दो वर्ष पश्चात् विधवा हो गई। जमुना का विवाह बेलशंकर नामक सज्जन से हुआ और उसके तीन सन्तानें थीं—दो पुत्र, प्रभाशंकर और रूपशंकर तथा एक पुत्री तुलजा। तीनों में प्रभाशंकर ने मझकुंवर से विवाह किया। प्रभाशंकर के दो पुत्र वृजलाल और कृष्णलाल हुए जो बनारस में रहते थे। इसके पश्चात् १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे गुजरात में भी कुछ समय तक रहे। सन्त गौरीबाई की जीवनी और कृतियों के बारे में लिखने के लिए लेखक ने इनसे विस्तृत विवरण प्राप्त किए हैं।

तत्कालीन प्रथाओं के अनुसार बालिका गौरीबाई का विवाह[1] ५ या ६ वर्ष की अल्प अवस्था में ही निश्चित हो गया था। विवाह के चार दिन पहले बालिका की आँख आ गई और आंखों पर पट्टी बांधनी पड़ी। विवाह-कार्य भी इसी अवस्था में सम्पन्न हुआ। किन्तु बालिका गौरीबाई का भाग्य ने साथ नही दिया। विवाह हुए अभी एक सप्ताह भी नही हुआ था कि वर को किसी भयंकर बीमारी ने आ घेरा और वह कुछ घंटों मे ही मृत्यु का शिकार बन गया। सारा घर दुःख-सागर में डूब गया। परिवार के कष्टों की कोई सीमा नहीं थी परन्तु गौरीबाई ने तो मानो बाल्यकाल से दुःखों से हार मानना नहीं सीखा था। जब भी कोई सम्बन्धी उसके पति की अकाल मृत्यु पर सहानुभूति प्रकट करने आता तो वह तुरन्त कहती—"मेरा तो पति मेरा परमात्मा है। उसी के चरणों में मेरा जीवन अर्पित है।" ऐसी अवस्था में प्रचलित रीति-रिवाजों के अनुसार गौरीबाई अपने माता-पिता के साथ रहने लगी।

गौरीबाई शैशव-काल से ही बड़ी चतुर बालिका थी। उन दिनों बालिकाओं की विधिवत् शिक्षा के लिए कोई पाठशाला नहीं थी, किन्तु इस बालिका ने अल्पकाल में ही घर पर ही पढ़ना-लिखना सीख लिया। जैसा कि युवती विधवा के लिए उचित समझा जाता था, गौरीबाई अब अपना समय गृह-देवताओं की पूजा करने, भगवद्-भजन गाने और धार्मिक साहित्य के स्वाध्याय में व्यतीत करती। सर्वशक्तिमान परमेश्वर में उसकी अटूट श्रद्धा थी। वह ईश्वर की आराधना में कविताएं लिखने लगी।

हिन्दू समाज के उच्च वर्ग में यह उचित नहीं समझा जाता था कि विधवा पुनर्विवाह करे। उससे यही आशा की जाती थी कि वह पवित्र धार्मिक जीवन व्यतीत करे। तेरह वर्ष की बाल्यावस्था में ही गौरीबाई ने यह भलीभाँति समझ लिया था कि उन परिस्थितियों के अन्तर्गत यही अच्छा था कि वह किसी भी संगत में न रह कर धार्मिक कार्यक्रम में तल्लीन रहे। वह अपना समय प्रायः घर के भीतर ही

[1]इस से सगाई का अभिप्राय।

गुजारती और सदैव धार्मिक पुस्तक पढ़ने में तथा प्रभु भक्ति मे लगी रहती।

गिरिपुर में उस समय राजा शिवसिंहजी राज्य करते थे। वे बड़े कर्त्तव्यपरायण, विद्वान और सदाचारी राजा थे। इन्होंने अपने राज्य मे जनता को सब अन्याययुक्त करों से मुक्त कर दिया था। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि व्यापारी, विभिन्न नाप-तोल की प्रणालियाँ अपना कर जनता का शोषण करते हैं, तो उन्होने इस कुप्रथा का अन्त करने के लिए राज्य-भर मे एक निर्धारित नाप-तोल की प्रणाली "शिव-शाह तोल" नाम से प्रचलित की जो आज तक वहां चालू है। इस दयालु राजा ने अपने कोष का धन, जन-कल्याण के कार्यों मे व्यय किया, कुएँ और तालाब बनवाए, यात्रियों के लिए निःशुल्क विश्रामस्थल और मन्दिर आदि बनवाए। इन परोपकारी कार्यों के लिए इस राजा को आज भी लोग श्रद्धा से स्मरण करते है।

राजा ने जब गौरीबाई के पवित्र जीवन की ख्याति सुनी तो वह उसके दर्शनार्थ उसके निवास-स्थान पर स्वयं गया। धार्मिक वाद-विवाद करते हुए राजा गौरीबाई के धर्म सम्बन्धी ज्ञान और आध्यात्मिक प्रवृत्ति से बड़ा प्रभावित हुआ।

इस सन्त महिला की श्रद्धा, भक्ति और पवित्रता का राजा पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने उसके प्रति श्रद्धा प्रकट करने के लिए उसकी प्रतिष्ठा में एक सुन्दर मन्दिर का निर्माण कर उसके पास एक बावली भी खुदवा दी। गौरीबाई अपनी समस्त प्रतिमाएँ और छायाचित्र इस मन्दिर में ले गई और संवत् १८३६ में माघ कृष्णा षष्ठी के दिन बड़ी धूमधाम से पवित्र धार्मिक समारोह सम्पन्न हुआ।

अब गौरीबाई ने अपने घर का सदा के लिए त्याग कर मन्दिर में रहना प्रारम्भ किया। उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य भगवद्-भक्ति थी। उसकी विधवा भांजी चातुरी भी उसी के पास रहने लगी। कुछ समय पश्चात् उसकी दूसरी भांजी जमुना और एक अन्य वृद्धा हरियन जो उसके सम्बन्धियों में से थी, भी वहां आ गई।

गौरीबाई बड़ी श्रद्धा और परिश्रम से उस पावन स्थान को साफ-सुथरा और आकर्षण का केन्द्र बनाने में लगी रहतीं। अब उसकी ख्याति सर्वत्र फैल गई थी। दूर-दूर से सन्त विद्वान् और भक्त यात्रियों की भीड़ वहा आने लगी। धार्मिक वाद-विवाद होते रहते और गौरीबाई के आध्यात्मिक ज्ञान की वृद्धि होने लगी। इस वातावरण को पाकर गौरीबाई की मौलिक प्रतिभा को काव्य-रचना की प्रेरणा मिली। अब वह धार्मिक कविताएं लिखने में व्यस्त रहतीं।

राजा शिवसिंह जी ने मन्दिर में भिक्षुओं के लिए सदाव्रत खोल दिया था। सहस्रों भिक्षु वहाँ उस दान से लाभ उठाने के लिए एकत्र होते। एक बार एक ज्ञानी साधु वहाँ आए। वह गौरीबाई की श्रद्धा भक्ति तथा ज्ञान से इतने प्रभावित

हुए कि उन्होंने ये शब्द कहे "हे देवी ! तुम तो वस्तुत: मीरा की साक्षात् अवतार हो। मीरा यद्यपि महान् भक्त थी, परन्तु उसमें ऐसे ज्ञान की कमी थी जिसका एक महान् सन्त में होना आवश्यक है। तुम्हारा जन्म उस त्रुटि की पूर्ति के लिए हुआ है। मेरा आना भी कदाचित् इसी उद्देश्य को लेकर है। मैं तुम्हें इस दिशा में आवश्यक और अतिरिक्त ज्ञान देना चाहता हूं।" अतः वह उसे अलग ले गए और ब्रह्मज्ञान तथा आत्मज्ञान की शिक्षा दी। इस सन्त ने महिला को उस पथ का प्रदर्शन कराया, जो एक सच्चे सन्त के लिए अभीष्ट है। उन्होंने उसे बालमुकुन्द (बाल कृष्ण) की प्रतिमा देकर सदा के लिए विदा ली।

जैसे-जैसे गौरीबाई के आध्यात्मिक ज्ञान की वृद्धि होती गई वह सांसारिक मोह-माया से विमुक्त होती गई। कहा जाता है कि कभी-कभी यह महिला समाधि में ऐसी खो जाती कि पन्द्रह दिन तक अनवरत इसी अवस्था में रहती और इस अवधि में अन्न-जल भी नहीं छूती थी। उस ध्यानावस्था में वह ऐसी खो जाती थी कि उसे अपने आस-पास के वातावरण की अनुभूति ही न रहती और बन्द कमरे में बैठी रहती।

इसका उल्लेख आता है कि वृद्धा हरियन को, जो अब गौरीबाई के साथ रहने लगी थी, इस बात की शंका हुई कि क्या गौरीबाई की समाधि केवल स्वाँग मात्र थी और इसमें आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य का प्रश्न है। इस सत्य की परीक्षा लेने के लिए एक बार जब गौरीबाई समाधि में मग्न थी तो वृद्धा हरियन चुपके से उसके पास गई और उसके शरीर में सुइयाँ चुभानी शुरू कीं, किन्तु गौरीबाई टस से मस नहीं हुई। इस पर कुलटा हरियन सन्त महिला के शरीर में सुइयाँ छोड़ कर स्वयं भाग गई। समाधि की अवधि पूर्ण होने के बाद जब गौरीबाई को चातुरी स्नान करा रही थी तो उसके शरीर में सुइयाँ देखकर चकित रह गई। अब पूछताछ प्रारम्भ हुई कि अपराधी कौन है? किन्तु किसी ने इस पाप-कर्म को स्वीकार नहीं किया। इतिहासकार के कथनानुसार कुछ समय के बाद कुष्ठ रोग के रूप में इस कुकृत्य का उपयुक्त दण्ड कुलटा हरियन को मिला। उसने अब गौरीबाई के चरणों में गिर कर पश्चाताप में पाप स्वीकार करते हुए क्षमा-याचना की। सन्त महिला बड़ी उदार हृदय और दयालु थी। उसने उसे क्षमा करते हुए कहा—"जाओ, तुम रोग से मुक्त हो जाओगी, केवल कुष्ठ रोग के दाग मात्र रह जाएँगे।"

अब सन्त गौरीबाई को भविष्यवाणी करने का श्रेय प्राप्त हो गया। श्रद्धा-भक्ति तथा आध्यात्मिक ज्ञान में वृद्धि हो जाने से उसकी काव्य-प्रतिभा में भी वृद्धि हुई। कहा जाता है कि उसने हजारों भक्तिमय कविताओं और गीतों की रचना की।

बाह्य सौन्दर्य के अतिरिक्त उस सन्त महिला का व्यक्तित्व भी बड़ा आकर्षक

था। उसने सब साँसारिक सुखों और ऐश्वर्यों का त्याग कर अपना सारा समय पूजा-पाठ और ज्ञान-वृद्धि में लगाना प्रारम्भ किया। गुणवती, दयालु और बुद्धिमती गौरीबाई बड़े संयम से रहती और किसी भी स्थिति में और बड़ी से बड़ी प्रकोपक बात पर भी क्रोध मे नहीं आती थी। जैसा कि भगवद्-भक्तों के लिए उचित समझा जाता था वह प्राय: नीची निगाह किए बैठती, किन्तु जब भी कभी किसी अवसर पर वह नेत्र उठाती तो देखने वाले उसकी आंखों की ज्योति से विस्मित हो जाते। वह स्वच्छ-श्वेत वस्त्र धारण करती और उसका एकमात्र आभूषण था पवित्र तुलसी के मनके। समाधि के कारण उसने अब कोई भी ठोस भोजन लेना बन्द कर दिया था और केवल दूध ही उसका आहार था।

संवत् १८६० (सन् १८०४) तक इसी प्रकार गौरीबाई ने अपना जीवन बिताया, तत्पश्चात् उसने अपना शेष जीवन पवित्र स्थान वृजभूमि (गोकुल और वृन्दावन) पर बिताने का निश्चय किया। राजा को जब यह सूचना मिली तो वह स्वय मन्दिर में आए और सन्त महिला से गिरिपुर मे ही रहने की प्रार्थना की। यहां तक कि राजा ने उसे बहुमूल्य पुरस्कार भेंट करने का वचन दिया, किन्तु गौरी-बाई इन प्रलोभनों में नही आई और अपने निश्चय पर अटल रही। प्रमुख प्रतिमा की पूजा का कार्य-भार किसी योग्य साधु को सौप कर अपनी व्यक्तिगत प्रतिमा को साथ लेकर उसने अपनी भाँजियों के संग वृन्दावन की ओर प्रस्थान किया।

जब यह टोली जयपुर के निकट पहुंची तो वहाँ के राजा स्वयं उसके स्वागतार्थ आए, क्योंकि उन्होंने इस सन्त महिला की ख्याति पहले ही सुन रखी थी। इन महिलाओं का राजकीय-अतिथियों की तरह स्वागत हुआ। जयपुर की महारानी भी इस सन्त का दर्शन करने आई और उनके चरणों मे पाँच सौ गिन्नियां अर्पित की, किन्तु गौरीबाई ने इस राजकीय भेंट को स्वीकार नही किया और कहा कि वह तो एक संन्यासिन है, जिसे इन साँसारिक उपभोगो की आवश्यकता नहीं। राजा-रानी के आग्रह पर उसने वह भेट स्वीकार कर ली तथा उसे उसी समय अपने एक अनुयायी को देकर आदेश दिया कि इसे योग्य ब्राह्मणों में बांट दे।

जयपुर का महाराजा गौरीबाई के सँयमित स्वभाव और विद्वत्ता से बड़ा प्रभावित हुआ। इतना होने पर भी वह सन्त महिला की भगवान् के साथ तादात्म्य की परीक्षा लेना चाहता था, क्योंकि उसने सुन रखा था कि आराध्य देव गौरीबाई के सम्मुख अनेक बार प्रगट हुए हैं। कहा जाता है कि राजा ने अपने व्यक्तिगत मन्दिर के पुरोहित को आदेश दिया कि वह गोविन्द जी की प्रतिमा को खूब सजा कर द्वार बन्द कर दे। तब उसने गौरीबाई को निमँत्रित कर मन्दि

के बाह्य भाग मे पवित्र भागवत पाठ सुनने के बहाने बिठाया। पाठ समाप्त होने पर राजा ने अपनी इच्छा व्यक्त की कि वह उसकी परीक्षा लेना चाहता है और गौरीबाई से प्रार्थना की कि वह यह बताएँ कि मन्दिर में स्थित मूर्ति की वेशभूषा और आभूषण कैसे हैं? गौरीबाई को यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ और उसने कहा कि वह भी अन्य सब की तरह नश्वर प्राणी है और किसी असाधारण शक्ति होने का उसे कदापि कोई भान नहीं, किन्तु सर्वशक्तिमान भगवान् अपने भक्तों पर सदैव दया करते हैं और मेरी भी इस स्थिति में सहायता करेंगे। तब उसने ध्यानमग्न होकर एक प्रार्थना रची और उसे गाने लगी। कहा जाता है कि इस कविता में सन्त महिला ने उस प्रतिमा की पूर्ण वेशभूषा और आभूषणों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया और कहा—"त्रुटि केवल यही है कि सिर पर मुकुट नहीं है।" यह सुनकर राजा तथा अन्य सभी श्रोतागण बड़े आश्चर्य-चकित हुए क्योंकि श्रीकृष्ण की मूर्ति कभी मुकुट के बिना नहीं रखी जाती थी। जब मन्दिर का द्वार खोला गया तो विदित हुआ कि सन्त गौरीबाई का कहना अक्षरशः सत्य था। वस्तुतः मुकुट मूर्ति के सिर से फिसल गया था, क्योंकि पुरोहित ने उसे सावधानी से नहीं रखा था। इस पर राजा को अत्यन्त दुःख हुआ और उसने तत्काल ही क्षमा-याचना की। इस सन्त महिला के हृदय में तो किसी के प्रति कोई द्वेष नहीं था, अतः उसने तुरन्त राजा को क्षमा कर दिया।

राजा ने बहुत अनुनय-विनय की, कि गौरीबाई जयपुर में उसकी स्थायी अतिथि बन कर रहे। जिस राजमहल में वह ठहरी हुई थी उसे ग्रहण करने का आग्रह किया तथा यह भी बताया कि महल की देखभाल का सारा व्यय वह स्वयं करेगा। किन्तु सन्त महिला मे पूर्ववत् इस दान को लेने से इन्कार कर दिया और वृन्दा-वन जाने की अपनी इच्छा व्यक्त की। राजा के बार-बार प्रार्थना करने पर अपनी आराधना की मूर्ति को राजमहल में छोड़ देना स्वीकार कर उसने राजा से याचना की कि उसकी यथोचित पूजा का प्रबन्ध कर दिया जाए। राजा ने ऐसा करना सहर्ष स्वीकार कर लिया।

मथुरा, गोकुल और वृन्दावन में कुछ समय तक रहने के बाद सन्त गौरीबाई अपनी भाँजियों के साथ काशी (वाराणसी) चली गई। वाराणसी के राजा ने भी इस महिला की पवित्रता और भगवद्-भक्ति की कहानियां सुन रखी थीं। उसने इस सन्त महिला का बड़ा स्वागत किया। यह राजा स्वयं भी ईश्वर-भक्ति की कविताएँ रचने में आनन्द लेते थे। अतः गौरीबाई और वह प्रायः इकट्ठे बैठ कर अपनी रचनाओं के माध्यम से धार्मिक वाद-विवाद करते। गौरीबाई ने राजा को

ध्यान-मग्न होने की अनेक विधियां बताई, तत्पश्चात् राजा ने इस सन्त महिला को अपना गुरु मान लिया।

राजा सुन्दरसिंह ने गौरीबाई को पचास हजार रुपया स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। इस धन में से गौरीबाई ने पच्चीस हजार रुपये बनारस में अपनी ही बिरादरी में हुए कुछ विवादास्पद विषयों को सुलझाने में व्यय किए और शेष धन उसने जगन्नाथपुरी की यात्रा मे दान कर दिया।

पुरी की यात्रा समाप्त करने पर गौरीबाई ने काशी में ही अपना घर बनाया। एक बार वह सात दिन अनवरत समाधि-अवस्था में रही और अपनी भाँजियों को बताया कि अब उसकी इहलीला समाप्त होने का समय निकट आ गया है। उसने जमुना के तट पर अन्तिम श्वास लेने की इच्छा प्रकट की जहां पुराणों के अनुसार बालक ध्रुव ने तप किया था। सन्त गौरीबाई ने भविष्यवाणी की कि उसकी मृत्यु भगवान् राम के जन्म-दिवस, रामनवमी के पावन त्योहार के दिन होगी। राजा सुन्दरसिंह ने गौरीबाई की इच्छानुसार उसे वहीं पहुंचाने का प्रबन्ध कर दिया, जहां वह अन्तिम श्वास लेना चाहती थी। वहाँ वह कुछ दिन समाधि अवस्था में रही और तदुपरान्त संवत् १८६५ (१८०९ ई०) मे रामनवमी के दिन वह चिरनिद्रा की अमर शान्ति को प्राप्त हुई। उस समय सन्त गौरीबाई की अवस्था ५० वर्ष की थी।

इस सन्त महिला की दिव्य शक्तियों पर कोई विश्वास करे या न करे, परन्तु गौरीबाई की सरलता, सादगी, श्रद्धा-भक्ति और विद्वत्ता की प्रशंसा किए बिना कोई नहीं रह सकता। गौरीबाई को सर्वशक्तिमान विश्वेश्वर की सर्वव्यापकता और विश्व-कल्याण में पूर्ण विश्वास था। उसका हृदय उदार था। घृणा और द्वेष की भावनाएँ उसे छू तक नहीं गई थीं। वह भक्ति काव्य, जो इस सन्त महिला की रचनाएँ मानी जाती हैं उसके उच्च चरित्र का प्रमाण है। उसकी रचनाएँ रचयिता की सांसारिक ऐश्वर्यों से विरक्ति और आराध्य के प्रति पूर्ण आसक्ति से ओतप्रोत हैं।

गौरीबाई की कविताएँ मुख्यतः गुजराती भाषा में है, किन्तु उसका जन्म स्थान गुजरात और राजस्थान प्रान्तों के सीमान्त पर होने के कारण उनमें राजस्थानी शब्दों का समावेश भी है। इस सन्त महिला की कुछ कविताएँ हिन्दी भाषा में भी मिलती है। कदाचित् ये गौरीबाई के वृन्दावन, गोकुल और वाराणसी में रहने का प्रभाव है।

गौरीबाई के एक अनुयायी ने इस सन्त महिला की उपमा पवित्र गँगा माँ से दी है, जो उन सब भक्तों को पवित्र करती है जो उसकी शरण में आते हैं। यह उपमा वस्तुतः बड़ी उपयुक्त है।

परिच्छेद ११

केरल की कुछ सन्त महिलाएँ

युग-युगान्तरों से भारत दार्शनिक और धर्म-प्रधान देश रहा है। मानव सभ्यता के लिए प्रेरणाप्रद दार्शनिक भावनाओं और आदर्शों की देन इस देश के जीवन का वास्तविक स्वरूप है। प्रागैतिहासिक काल के वैदिक युग से ही ऐसे महान् विचारकों और मनीषियों का जन्म इस देश में हुआ है, जिन्होंने विश्व की मानवता के सम्मुख अपने धार्मिक और दार्शनिक आदर्शों को स्पष्टतः रखा है। भगवान् बुद्ध, शंकर, चैतन्य और रामकृष्ण आदि अनेक स्वनामधन्य महान् मनीषी, धर्म और दर्शन के मर्मज्ञ, धार्मिक संसार में अपना विशेष स्थान रखते हैं।

प्रारम्भ से ही धार्मिक क्षेत्र में स्त्रियाँ पुरुषों की तरह ही महत्त्वपूर्ण और विशेष स्थान पाती रही हैं। उदाहरणतः विश्ववारा का ऋग्वेद पर सूक्तोच्चारण सर्वप्रसिद्ध है। उपनिषत् युग की विख्यात दर्शन-मनीषी कुमारी गार्गी ने तत्कालीन महान् विचारकों को दार्शनिक वाद-विवाद में परास्त कर जो यश पाया वह सराहनीय है। बृहदारण्यक उपनिषत् के प्रगाढ़ पण्डित ऋषि याज्ञवल्क्य ने जब अपनी धर्म-पत्नी मैत्रयी को अपनी समस्त सम्पत्ति सौंप कर संन्यास धारण करने की इच्छा प्रकट की तो अनश्वरता के ज्ञान की जिज्ञासु मैत्रयी ने सब धन-सम्पत्ति को हेय बता, चिरन्तन सत्य और ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा प्रकट की। मधुर कोकिला मीराबाई अपने गिरिधर गोपाल भगवान कृष्ण की भक्त बनी और राजकीय ऐश्वर्य को तिलाँजलि दे दी। ये तथा अन्य अनेक ऐसी महान् महिलाएँ हुई हैं जो सदा हर सच्चे भक्त की श्रद्धा की पात्र बनी रहेंगी।

दक्षिण भारत भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहा। सन्त आण्डाल, जो स्वयं को अपन इष्टदेव भगवान् कृष्ण की परिणीता कहती थी और उससे तादात्म्य प्राप्त कर चुकी थी, इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। आण्डाल की आत्म-विभोर कर देने वाली कुछ कविताओं का अँग्रेजी अनुवाद योगी कवि श्री अरविन्द द्वारा किया गया है।

केरल प्रदेश में अनेक महान् धार्मिक नेता स्त्री और पुरुष दोनों हुए हैं। रामानुज एलुतच्छन ने उच्च स्तर का धार्मिक साहित्य मलयालम भाषा को दिया। महान् भक्त कवि नारायण भट्टतिरी की महान् रचना नारायणीय भक्तों और विद्वानों के हृदय को भावाभिभूत कर देती है, क्योंकि यह पुस्तक भगवद्गीता

की सुन्दर समीक्षा और ईश्वर भक्ति के बारे में एक अपूर्व रचना है। पून्तानम् की परमानन्दात्मक भक्ति को तो उसके आराध्य देव ने स्वयं तत्कालीन नारायण भट्टतिरी की अद्वितीय विद्वत्ता की तुलना मे ऊँची बताया है। इन सब महिलाओं के नाम से केरल का हर आदमी भलि-भाति परिचित है।

केरल की जिन महिला सन्तों ने विश्वेश्वर मे तादात्म्य प्राप्त किया उनमें से तीन महिलाओं के नाम प्रमुख हैं। चँकरोता अम्मा, बराखेदत्त, नँग पेण्णु, और करूर अम्मा। परम्पराओं से चलते आए केवल कुछ फुटकर वृत्तान्त इनके जीवन के बारे में मिलते हैं किन्तु यही वृत्तान्त यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि ये महिलाएँ अनन्य भक्ति और जगन्नियन्ता के प्रेम में मग्न रहीं।

इनमें से प्रथम महिला एक छोटे-से मकान में रहती थी, जो चँक्रोत्तु घर के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। यह मकान ट्रावंकोर में तिरुवेला स्थान पर स्थित श्रीवल्लभ के प्रसिद्ध मन्दिर के पश्चिम में है। इसका वर्णन महान् वैष्णव सन्तों के साहित्य में भी आता है। इस मन्दिर का निर्माण चँक्रोत्तु के जीवन काल में हुआ क्योंकि नम्मालवार ने भी इसका वर्णन किया है। नम्मालवार ईस्वी सन् की नवीं शताब्दी में हुए। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि चँक्रोत्तु सम्भवतः ईस्वी सन् की अष्टम शताब्दी में रही होगी।

बाल्यकाल से ही सन्त चँक्रोत्तु की विष्णु भगवान् में अपार श्रद्धा थी और वह अपना सारा समय आराध्य की प्रार्थना और उपासना में बिताती। कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष की एकादशी का व्रत बड़ा पवित्र समझा जाता है और वैष्णव भक्त बड़ी श्रद्धा से इसका पालन करते हैं। यह व्रत बिना किसी फल की कामना के रखा जाता है। चँक्रोत्तु पवित्र एकादशी व्रत वाले दिन एक बूंद पानी भी न पीती। दूसरे दिन स्नानादि से निवृत्त हो पूजा करती, अपने हाथों भोजन बनाती, आराध्य देव को अर्पित कर एक ब्राह्मण को भोजन खिलाने के बाद स्वयं अन्न ग्रहण करती। वह एकादशी व्रत का अनवरत पालन अनेक वर्षों तक करती रही। एक बार एकादशी व्रत के आगामी दिन भक्तिन चँक्रोत्तु को कोई ब्राह्मण भोजन खिलाने के लिए न मिल सका। इस पर परम उपासिका किंकर्त्तव्य-विमूढ़-सी विक्षुब्ध थी, पर अन्ततोगत्वा एकादशी के व्रत का पूर्ण सम्भार के साथ पालन न कर सकने के कारण उसने आमरण अनशन करने का निश्चय कर लिया। भगवान् विष्णु, जो सदा अपने भक्तों के दुःख-निवारण के लिए तत्पर रहते हैं, अपनी भक्तिन् के सम्मुख एक ब्रह्मचारी के रूप में प्रकट हुए। आराध्य के दर्शन पा वह प्रेम-पुलकित हो उठी और सुपारी वृक्ष की छाल में भोजन परोस दिया। भगवान् उस भक्तिन् की इस सरलता और

दृढ़ निष्ठा से अत्यन्त प्रभावित हुए और प्रसन्नतापूर्वक उसके द्वारा चढ़ाए गए प्रसाद को अँगीकार किया। अन्तर्धान होने से पूर्व भगवान् ने उसे मुक्ति का वरदान दिया और उसे सदा के लिए जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त कर दिया। जब आस-पास के निवासियों को इस असाधारण घटना का ज्ञान हुआ तो उन्होंने तत्काल ही उसी स्थल पर एक विशाल विष्णु-मन्दिर का निर्माण कर विष्णु-प्रतिमा को स्थापित कर दिया। तिरुवेला-स्थित विष्णु-मन्दिर के निर्माण के बारे में यही किंवदन्ती प्रसिद्ध है। उस घटना की स्मृति को चिर-स्थायी बनाने के लिए आज भी वहाँ सुपारी वृक्षों की छाल में भोजन परोसा जाता है। इस पवित्र महिला की कोई सन्तान अथवा उत्तराधिकारी नहीं था, अतः उसकी सारी सम्पत्ति मन्दिर की सेवा में समर्पित कर दी गई।

सन्त चेंकोत्तु अम्मा को वृद्धावस्था में भगवान के दर्शन हुए थे, लेकिन नँग पेण्णु को तो कुमारावस्था में ही यह सौभाग्य प्राप्त हो गया था। नँग पेण्णु का जन्म त्रिप्पूणित्तुर के एक प्रतिष्ठित मलयाली ब्राह्मण-परिवार में वडक्केउत्तु इल्लम में हुआ जो कि कोचीन के राजकीय परिवार की गद्दी मानी जाती थी। शैशव काल[1] मे ही विष्णु भगवान् के प्रति उसका अपार प्रेम था। वह निरन्तर विष्णु मन्दिर में जाती और अपने इष्टदेव को प्रेम-पूर्वक फूलों की माला पहना कर वापस घर आती तो अपने आराध्य के प्रेम में मग्न दिखाई देती। दिन-रात आराध्य की स्मृति में और उस पवित्र नाम को बार-बार श्रद्धा और निष्ठा से लेकर जीवन व्यतीत करती। उसके परिवार के सदस्य इस भक्ति और आराधना को नहीं समझ सके। उनका विचार था कि पेण्णु भगवद्-भक्ति इसलिए करती है कि उसकी साँसारिक सुखों की कामना पूरी हो जाए किन्तु सन्त पेण्णु के हृदय में इन स्वार्थी कामनाओं का कोई स्थान नहीं था। वह तो अपने आराध्य की अनन्य भक्ति और प्रेम से, बिना किसी फल की इच्छा किए, आराधना करती।

जब सन्त पेण्णु युवती हुई तो माता-पिता ने उसके विवाह का प्रबन्ध किया। जो वर चुना गया वह अत्यन्त सुन्दर और धनी था। विवाह के लिए निश्चित शुभ दिन को सजधज से बड़ी उदारता के साथ प्रबन्ध किया गया। तत्कालीन प्रथा के अनुसार वर को बाजे-गाजे के साथ धूमधाम से जलूस में, वधू के घर लाया गया। जब अनुकूल शुभ घड़ी निकट आई तो सन्त उपासिका नँग पेण्णु मन्दिर में अपने आराध्य देव से अन्तिम विदा लेने आई। उसका हृदय अपने इष्टदेव से पृथक् होने के दुःख और विरह-वेदना से व्यथित था कि अब वह निरन्तर अपने पति के घर रहेगी और प्रति

[1]ऐसी कोई सामग्री उपलब्ध नहीं हुई, जिससे उसकी जन्म तिथि निर्धारित की जा सके।

दिन अपने हृदय के उपास्य-देव का आशीर्वाद उपलब्ध नहीं कर सकेगी। इस विचार के आते ही उसके नेत्रों से अश्रु-धारा बह निकली। बड़ी कठिनाई से वह आत्म-नियंत्रण कर मंदिर में प्रविष्ट हुई और टूटे हृदय से मूर्ति के सम्मुख झुक गई। वह प्रस्तर-मूर्ति की तरह ऐसे खड़ी थी मानो उसका वापस घर जाने का कोई विचार ही नहीं था—"कल से मैं इस दृश्य से वंचित हो जाऊंगी। मैं अपने आराध्य के दर्शन बिना कैसे जीवित रह सकती हूँ। मेरी कोई अन्य इच्छा न है, न होगी—केवल यही कामना है कि मैं अपने उपास्य-देव के दर्शन कर सकूं। हे देव! दया करो, मैं तुम में समा जाऊँ!" उसकी यह प्रार्थना इतनी सच्ची और करुणाजनक थी कि भगवान भी उसके वशीभूत हो गए और उसकी यह प्रार्थना स्वीकार हो गई। कुमारी पेण्णु ने देखा कि प्रस्तर की प्रतिमा से भगवान् उसके सम्मुख साक्षात प्रकट हुए, उसके निकट आए, उसे हाथ से पकड़ा और पुनः वहीं जाकर अन्तर्धान हो गए। यह घटना सर्वत्र फैल गई। लोगों के आश्चर्य की कल्पना की जा सकती है। जब यह खबर वर को मिली तो वह इतना लज्जित हुआ कि बिना किसी से विदा लिए वहाँ से भाग खड़ा हुआ। माता-पिता असमंजस में पड़ गए। आज भी इस घटना की स्मृति में प्रति वर्ष नँग पेण्णु मेला लगता है। इस मेले का सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण भाग है सुन्दर जुलूस, जिसमें भगवान् वर रूप में सन्त नँग पेण्णु के घर जाते है। वहां धूमधाम से स्वयं भगवान् को दावत दी जाती है और परिवार के शेष सदस्यों को वस्त्र और पुरस्कार दिए जाते है।

जबकि उपरिलिखित दोनों भक्त महिलाओं को एक साथ अपने इष्टदेव के साक्षात्कार हुए और जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति मिली उसी समय हमारी तीसरी सन्त महिला करूर अम्मा को, जिसका वर्णन हम इस लेख के अन्त में कर रहे है, अपने उपास्य-देव बालकृष्ण का निरन्तर साक्षात्कार होता रहता था। करूर अम्मा उन दोनों की मोक्ष प्राप्ति के बाद काफी दिनों तक जीवित रही। वह अपने हृदय के स्वामी का जब चाहे दर्शन कर सकती थी।

सन्त करूर अम्मा एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण-परिवार करूर इल्लम की महिला थी, जिसके वंशज आज भी पाए जाते हैं। ये लोग कोचीन प्रदेश के प्रसिद्ध नगर त्रिचूर से चार मील की दूरी पर रहते थे। करूर अम्मा, नारायण भट्टतिरी और पून्तानम की प्रायः समकालीन वयोवृद्ध थी जिनका जन्म सत्रहवीं ईस्वी शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में हुआ था। अतः करूर अम्मा सोलहवीं शताब्दी के मध्य में रही होंगी। इस महिला के बारे में विशेष महत्त्व की बात तो यह है कि सन्त करूर अम्मा की भोली भक्ति स्वयं पून्तानम से भी उच्चकोटि की समझी

जाती है। उसकी भक्ति उस चरम सीमा तक पहुँच गई थी जहां प्रेमी-प्रेमिका और प्रेम एक रूप हो जाते हैं। ऐसे प्रेम के वशीभूत भगवान् सदा वही करने को उद्यत रहते हैं जो भक्तिन् चाहती है। सन्त करूर अम्मा के बारे में अनेक किंवदन्तियां प्रसिद्ध हैं जो उसकी अनुपम भक्ति को प्रमाणित करती हैं। एक बार एक वृद्ध ब्राह्मण उसके द्वार पर भोजन पाने की इच्छा से आया। संयोगवश उस समय कोई पुरुष घर में उपस्थित नहीं था और रूढ़िवादी स्त्रियाँ परदे में रहती थीं। वे परपुरुष के सामने नहीं जाती थी। अतः उसने भिक्षुक से कहा कि भोजन तो प्रस्तुत है किन्तु उसे वह स्वयं परोसना पड़ेगा। जब भोजन तैयार होने पर भगवान् स्वयं एक बालक ब्रह्मचारी के रूप में प्रकट हो आगन्तुक अतिथि की सेवा में जुट गए तब सब लोग आश्चर्य-चकित रह गए। अतिथि स्वयं भी एक उच्चकोटि का भक्त था। उसने अपने आराध्य देव को पहचान लिया। एक बार एक और घटना घटी। एक भक्त जब कभी प्रगाढ़ ध्यानावस्था में अपने आराध्य का स्मरण करता था तो वह उनका साक्षात्कार कर लेता। एक बार उसने बहुत उपासना की परन्तु भगवान् प्रकट नहीं हुए। जब कुछ दिन बाद वह प्रकट हुए तो भक्त के पूछने पर उन्होंने बताया कि वह इतने समय तक सन्त करूर अम्मा के भोले और प्रगाढ़ प्रेम के कारागार में बन्द थे। जैसे ही स्वतन्त्र हुए आ गए।

जब नारायण भट्टतिरी मृत्यु-शैया पर थे तब करूर अम्मा उन्हें देखने गई। इस पर वह बहुत प्रसन्न हुए और प्रार्थना की, कि—"मेरी पूज्य बहन, मेरे जीवन के अन्तिम क्षण समीप हैं। अब मैं शीघ्र ही इष्टदेव में विलीन हो जाऊंगा। आप तब तक मेरे पास ही रहें।" सन्त करूर ने उत्तर दिया—"नहीं नारायण, शीघ्रता की कोई बात नहीं, मैं घर लौट रही हूं किन्तु विश्वास रखो तुम्हारे जीवन के अन्तिम क्षणों में मैं तुम्हारे पास रहूँगी।" किन्तु नारायण भट्टतिरी को विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने आग्रह किया और कहा—"मैं तो आज ही मर जाऊँगा और मेरी यह इच्छा, कि तुम मेरे निकट रहो, अपूर्ण रह जाएगी।" इस पर भी करूर अम्मा पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ बोली—"मैं निश्चय ही तुम्हारे पास आ जाऊँगी। तब तक तुम्हारे अन्तिम श्वास नहीं निकलेंगे जब तक मैं तुम्हारे समीप पुनः नहीं आ जाती।" इस आश्वासन पर भी नारायण आश्वस्त नहीं हुआ किन्तु उसने करूर अम्मा को जाने दिया। करूर अम्मा ने पुनः आश्वासन देकर अपने स्थान को प्रस्थान किया। तीसरे दिन वह लौटी। नारायण जीवित अवश्य था किन्तु मृत प्रायः पड़ा हुआ था। नारायण को सम्बोधित करके उसने कहा—"नारायण! समय पूरा हो गया

है, उठो भगवान् को स्मरण करो । ईश्वर तुम पर कृपा करेंगे ।" तदनुसार भक्त ने तीन बार विश्वेश्वर को पुकारा और सन्त करूर अम्मा की उपस्थिति से अनुप्राणित होकर शान्त और प्रसादपूर्ण मुद्रा में इहलीला समाप्त की। कहा जाता है कि कुछ दिनों के पश्चात ही इस सन्त महिला ने भी उसी पथ का अनुसरण किया। शाश्वत समाधि के द्वारा परमात्म सत्ता पर अपना पूर्ण अधिकार प्राप्त कर वह उसी में विलीन हो गई।

प्रचलित कथाओं के अनुसार यह सन्त महिला, स्वामी बिल्वमँगल की समकालीन थी। स्वामी बिल्वमँगल वह प्रसिद्ध साधु थे जो अपने को इच्छानुसार अनेक रूपों में परिवर्तित कर लेने की सिद्धि के लिए प्रख्यात थे। श्री रामकृष्ण परमहँस के भक्त श्री गिरीशचन्द्र घोष ने अपने एक नाटक में इस सन्त की सिद्धियों का उल्लेख किया है। एक बार सन्त करूर अम्मा मासिक धर्म की अवस्था में भी नारायण का जप कर रही थी। संयोगवश बिल्वमँगल स्वामी वहाँ आ गए। उन्होंने आश्चर्य-चकित हो भक्तिन् से पूछा— "क्या इस अशौचावस्था में भी भगवान का नाम लेना उचित है ?" अम्मा ने उत्तर दिया—"क्या यह कोई दृढ़ विश्वास के साथ कह सकता है कि वह मृत्यु के समय अपवित्र शारीरिक अवस्था में नहीं होगा।"

सन्त अम्मा का प्यार अपने इष्टदेव के लिए ऐसा ही था जैसा कि एक वात्सल्य-पूर्ण माँ का अपने शिशु के लिए होता है। कहते हैं कि जब वह भक्ति में तल्लीन होती तो बालकृष्ण उसकी गोद में खेलते, पीठ पर चढ़ते या अन्य बाल-लीलाओं से उसे रिझाते।

कोमलम् कूजयन् वेणुम् श्यामलोऽयं कुमारकः।
वेदवेद्यं परं ब्रह्म भासते पुरतो मम ॥

"कोमल वेणु बजाता यह श्याम वर्ण कुमार जो मेरे समक्ष भासित है, वेद-प्रतिपादित ब्रह्म है।" तात्पर्य यह कि भक्त अपनी भावना के अनुकूल भगवान् का रूप देखता है जैसा इस सन्त ने देखा—वेदवेद्य परब्रह्म मेरे समक्ष कोमल वेणु बजाता श्यामल कुमार के रूप में भास रहा है।

परिच्छेद १२

तारिगोंडा वेणकमाम्बा

वेणकमाम्बा का जीवन पूर्ण सादगी और कृष्ण की अनन्य भक्ति का जीवन था। वह भारत की आध्यात्मिक संस्कृति के सुन्दरतम पुष्पों में से एक है। जैसा कि अधिकाँश भारतीय सन्तों का रवैया रहा है, वेणकमाम्बा ने भी अपने जीवन के सम्बन्ध में कहीं कोई चर्चा नहीं की है। जीवन-सम्बन्धी उपयुक्त सामग्री के अभाव में हमें उसके जीवन का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने के लिए उसकी रचनाओं में यत्र-तत्र प्राप्त स्फुट संकेतों और प्रचलित परम्परागत मान्यताओं का आधार ग्रहण करना पड़ता है।

वेणकमाम्बा का प्रचलित नाम वेणकम्मा भी है। वह श्री रामकृष्ण की समकालीन थी। सर सी० पी० ब्राउन के सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ी-तेलुगु शब्दकोश के अनुसार वह १८४० में जीवित थी। वह नन्दवारीक मतावलम्बी कट्टर ब्राह्मण श्री कृष्णैय्या की सुपुत्री थी जिसका सम्बन्ध वशिष्ठ वंश के कनाली परिवार से था। इसकी माता का नाम मँगमाम्बा था और इसका मूल गाँव तोरिगोंडा था जो तरिकुण्ड के नाम से भी विख्यात है। यह गांव दक्षिण भारत में मद्रास प्रान्त के चित्तूर जिले में वइलपाडु से चार मील उत्तर की ओर है।

अपने समाज की प्रथा के अनुसार छोटी आयु में ही इसका विवाह कर दिया गया था, जबकि वह विवाह का अर्थ भी न समझती थी। लेकिन वह आजन्म पतिपरायणा रही। अपने अनुपम काव्य ग्रन्थ 'भागवत्-पुराण' के अन्त में वह कहती है कि श्रीवत्स वंश के नुन्जेटी परिवार में जन्मे थिमैया के सुपुत्र वेंकटाचलपति के पवित्र चरणों को हृदय में धारण कर उसने उस ग्रन्थ की रचना की है। स्पष्ट ही वेंकटाचलपति उसके पति थे। उसके विवाह के अल्पकाल पश्चात् ही उसके पति का देहान्त हो गया था।

वेणकम्मा महान् साहस और स्वतन्त्र चेतना की अनुपम प्रतिमूर्ति थी। समाज की अर्थहीन प्रथाओं और परम्पराओं के विरुद्ध उसने विद्रोह किया। एक विधवा के नाते उसे अपने सिर का मुण्डन करवाना था, पर उसने दृढ़तापूर्वक इस प्रथा को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। गाँववालों ने उस पर, उसके पिता पर, हर प्रकार से दबाव डालना आरम्भ किया, लेकिन उसने अपने पिता को

स्पष्ट उत्तर दिया—"प्रिय पिता ! साँसारिक बुद्धिवाले लोगों के प्रलाप अथवा उनकी सम्मति की ओर आप ध्यान न दें । हम किसे प्रसन्न करना चाहते हैं ? परमात्मा के दिए इन केशों को कटवा देने में क्या अच्छाई है। जब तक हमारी चित्त-वृत्तियाँ पवित्र हैं, कृपालु परमात्मा हम से क्रुद्ध नहीं होगा, भले ही हम साँसारिक प्रथाओं और रीति-रिवाजों को कितनी ही अमान्यता क्यो न दे, और यदि हमारी वृत्तियाँ कलुषित हो जाएँ, तब चाहे हम रीति-रिवाजों का कितना ही पालन क्यों न करें, परमात्मा हमें कभी क्षमा नही करेगा । अतः कृपया मुझे मेरे हाल पर छोड़ दें ।" अपनी पुत्री के चरित्र की निष्कलंक पवित्रता ने उसके पिता कृष्णैय्या को मौन कर दिया ।

इसी सँकट-काल में पुष्पगिरि पीठ के प्रधान महन्त तारिगोंडा पधारे और गांववालों ने उनसे वेणकम्मा के व्यवहार की कड़ी शिकायत करते हुए इस बात पर बल दिया कि उसे अपने बाल कटवाने पर विवश किया जाए । ओफ़ ! जरा-सी बात के पीछे यह तूफान ! एक 'निष्पाप विधवा' के केशों को लेकर इतना बड़ा आन्दोलन ! प्रधान महन्त ने वेणकम्मा के पिता को बुला कर जाति से बहिष्कृत करने की धमकी देते हुए शीघ्र ही वेणकम्मा के बाल कटवाने का आदेश दिया । करबद्ध होकर कृष्णैय्या ने सफाई देते हुए कहा—"देव, यह मेरा दोष नही है। आप उसी से बात करें ।"

महन्त जी के आदेश से तुरन्त ही वेणकम्मा को उनके सम्मुख उपस्थित किया गया । पूछने पर उसने सम्मानपूर्वक कहा—"स्वामी जी, आप जगद्गुरु हैं । मैं अल्पज्ञानी हूं। कृपया मुझे बताएँ—कौन-से वेद में यह लिखा है कि विधवा के लिए केश रखना मना है। एक नारी क्यों अपना सिर मुंडा कर अपने को कुरूप बनाए ? क्या हमारी स्मृतियों में यह नहीं लिखा है कि जहाँ स्त्रियों का सम्मान नहीं होता वहाँ सभी कर्म और प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। अगर एक विधवा की चित्त-वृत्तियाँ शुद्ध हैं तो उसके केश धारण करने अथवा आभूषण धारण कर लेने में भी क्या हानि है ? ये केश कृपालु परमात्मा ने मनुष्य को उसके जन्म के साथ दिए हैं। एक बार मुण्डन करवा लेने के बाद भी ये फिर उग आएंगे। यदि आप अपनी शक्ति से इनका फिर उगना बन्द कर दें तो आप अभी मेरा मुण्डन करवा सकते हैं। मैं यह अनुचित समझती हूँ कि परमात्मा की इस देन को स्वयं अस्वीकार करूँ ।" वेणकम्मा का यह विद्रोह नारीत्व का नहीं अपितु मानवता का महन्तों के प्रति विद्रोह था । उसके उत्तर से क्रोध में भरे हुए प्रधान महन्त ने नाई को बुलवा कर बलपूर्वक उसका मुण्डन करवा दिया। क्षोभ, शोक और लज्जा से वशीभूत होकर

नहीं वरन् भक्ति-विह्वल होकर वेणकम्मा निकट ही नदी मे गई और अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की अर्चना करते हुए उसने नदी मे डुबकी लगाई । जब वह बाहर निकली तो उसके सिर पर पहले जैसी ही सुन्दर और लम्बी केश-राशि लहरा रही थी। इस चमत्कारपूर्ण घटना को देखकर प्रधान महन्त और सभी उपस्थित लोग आश्चर्यचकित रह गए और सबने वेणकम्मा से क्षमा मांगनी आरम्भ कर दी । अधिकार और ज्ञान की हठवादिता पर भक्ति और बुद्धि की शालीनता की विजय का यह एक अनुपम उदाहरण था।

वेणकम्मा की भावनाएँ विवेकानन्द के शब्दो मे सबसे अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रतिध्वनित हुई हैं। वे कहते है, "स्त्रियों को शिक्षा दो और उसके पश्चात् उन्हे स्वतन्त्र छोड़ दो । तब वे स्वय बतलाएंगी कि उन्हे किन सुधारो की आवश्यकता है । उनसे सम्बन्धित विषयो मे आप हस्तक्षेप करने वाले कौन है ?"

"स्वाधीनता उन्नति की प्रथम आवश्यकता है । अगर आप से कोई कहता है कि मैं इस बालक अथवा स्त्री की मुक्ति के लिए कार्य करूँगा तो यह गलत है—हजार बार गलत है। मुझ से प्रायः पूछा गया है कि स्त्रियों के प्रश्न पर मैं क्या सोचता हू अथवा विधवा-समस्या के सम्बन्ध में मेरे क्या विचार है? मेरा सदैव के लिए यही अन्तिम उत्तर है—क्या मै विधवा हू जो तुम मुझसे यह बेहूदा प्रश्न पूछते हो ? स्त्रियों की समस्या का समाधान निकालने वाले तुम कौन हो ? क्या तुम परमात्मा हो कि तुम प्रत्येक विधवा अथवा स्त्री पर शासन करोगे ? तुम अपने को उनसे अलग रखो । वे स्वय अपनी समस्याएँ सुलझा लेंगी।"

स्त्रियों के अधिकार और उनकी सुविधाओ के सम्बन्ध मे तथाकथित पण्डित और पुजारियों के इस क्रूर हस्तक्षेप के कारणो की खोज मे दूर नही जाना पड़ता। भारतीय इतिहास के पतनोन्मुख काल में ही स्त्री और साधारण जन के प्रति सकुचित दृष्टिकोण रखने वाले स्मृति-ग्रन्थों की सृष्टि हुई। लेकिन वेद और उपनिषद् काल में परिस्थितियाँ नितान्त भिन्न थी। उस समय समाज और धर्म में नारी का स्थान किसी भी पुरुष से कम नहीं था । वैदिक ऋषियो की परम्परा में हमें विश्ववारा, अपाला, लोपमुद्रा और घोषा जैसी अनेक यशस्वी महिलाओं के नाम भी मिलते है। तैत्तिरीय उपनिषद् में शिक्षा की समाप्ति पर गुरु अपने शिष्यों को अन्तिम उपदेश देते हुए लगभग आरम्भ में ही कहता है—"तुम्हारी माता ही तुम्हारा ईश्वर हो—और जब चण्डी प्रसन्न होती है तो वह कल्याणकारिणी होती है, और मनुष्य की स्वतन्त्रता का कारण बनती है ।"

जो भी हो, वेणकम्मा के कोमल हृदय पर गाँववालो और महन्त के व्यवहार से गहरा आघात पहुचा। परमात्मा के साक्षात्कार के लिए उसकी भावनाएँ तीव्रतर होती जा रही थी और अन्त मे उसने चित्तूर के मदनपल्ली गाव के सुविख्यात गुरु रूपावतारम् सुब्रह्मण्य शास्त्री से गुरु-दीक्षा ली। अपनी उत्कृष्ट काव्य-रचना वेंकटाचल-माहात्म्य मे वेणकम्मा अपने गुरु के प्रति अपनी श्रद्धांजलि इस प्रकार अभिव्यक्त करती है—"मै अपने गुरु के चरण-कमलो की वन्दना करती हूँ। सुब्रह्मण्य ने मुझे ज्ञान को, ब्रह्म के रूप मे देखने की दृष्टि दी है।" अपनी आध्यात्मिक साधना के लिए एकान्त की खोज मे वह अपने गाव मे नृसिंह मन्दिर मे गई और हनुमान की मूर्ति के पीछे एक शान्त स्थान पर उसने अपना आसन जमाया और समाधि मे लीन हो गई। उस अवस्था मे वह शारीरिक सुख-सुविधाओ और भौतिक आवश्यकताओ के प्रति पूर्णत उदासीन रही। यदा-कदा ही वह अपनी समाधि तोडती और थोडा-बहुत प्रसाद पा लेती। एक दिन मन्दिर के पुजारी ने उसे देख लिया और गालियां देते हुए उसे उस स्थान से बाहर निकाल दिया। वेणकम्मा ने हरि-इच्छा समझ कर प्रभु के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण की भावना के साथ इस अपमान को पी लिया और विरोध मे एक शब्द भी न कहा। अपना घर वह छोड ही चुकी थी। अब उसने वह गाँव भी सदैव के लिए छोड़ दिया और तिरुपति के मुख्य देवता वेंकटेश्वर के चरणो मे स्थान पाने के लिए तिरुपति चली गई। वेणकम्मा के अनुसार वेंकटेश्वर कलियुग मे साक्षात् परमात्मा का ही रूप है। वेकटाचल-माहात्म्य में वह इस नगर का — सूर्य के प्रकाश मे दमकते हुए सुनहरे मन्दिर-कलशो, रथो, मठो, बागो, हाथियो, मोर और तोतो का— सुन्दर वर्णन करती है। सात पर्वत-शिखरो पर बसा हुआ यह नगर एक सुन्दर रमणीक स्थान है जहा प्रकृति का अलौकिक सौन्दर्य सभ्यता के कौशल के साथ मिश्रित मिलता है।

पर्वतमालाओं का अभिषेक करते हुए भक्त मन्दिरों के साथ तिरुपति, जो उन दिनों वेंकटाचलम् कहलाता था, परमात्मा के साथ तादात्म्य पाने के चरम लक्ष्य की ओर उन्मुख आत्मा की जीवन-यात्रा का वास्तविक प्रतीक है। प्रतिदिन सैकड़ों यात्री समस्त भारत से तिरुपति की यात्रा करने आते है।

वहाँ पहुंच कर वेणकम्मा ने वहाँ के मुख्य देवता की पूजा की और शीघ्र ही अपनी आध्यात्मिक साधना के लिए किसी उपयुक्त स्थान की खोज में लग गई। यहाँ के लोग और मन्दिर के पुजारी उसके धार्मिक उत्साह से अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने उसके निवास के लिए एक छोटी-सी कुटिया दी और प्रतिदिन के आहार के

लिए थोड़े-से चावलों की व्यवस्था कर दी। कुछ समय पश्चात् उसको देवता की कुछ विशिष्ट सेवा करने की भी अनुमति प्राप्त हो गई, जो आज भी उसी के नाम से सम्पन्न की जाती है। कालान्तर में उसे अपनी लोकप्रियता का मूल्य भी चुकाना पड़ा—उस कुछ ईर्ष्यालु पुजारियों का कोप-भाजन बनना पड़ा, जिन्होंने उसे हर तरह से तग किया। लेकिन उसने अपने अद्भुत प्रेम और भक्ति के बल पर उन सब पर विजय पाई। एकान्त की चाह उसके मन में फिर बलवती हो उठी और उसने तुमुलुरुकोण नामक पर्वत-घाटी में सुन्दर चित्र-विचित्र प्राकृतिक दृश्यों के बीच एक अनुकूल स्थान खोज लिया जहां उसने ब्रह्म के साथ तादात्म्य पाने की साधना आरम्भ कर दी। ढालू चट्टानें, जिनकी ऊंची चोटियां मानो स्वर्ग के रहस्यों को भेद रही थीं, फलो के वृक्षो और विशाल भूखण्डों को अपनी सुगन्धि से भर देने वाले फूलों के पौधों, नदी-घाटियां, हरे-भरे मैदान; सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र जो अपनी किरणों के हाथ फैलाए पृथ्वी और स्वर्ग की हर वस्तु को आलिंगन-बद्ध कर चूम रहे थे—ऐसा प्राकृतिक रूप वेणकम्मा को अपने गहन सौन्दर्य-बोध के कारण अतीव प्रिय था। बाद में हम उसे अपनी कविताओं में इन प्राकृतिक दृश्यों को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से चित्रित करते हुए पाते हैं। छः वर्ष तक वह वहां अपनी साधना में रत रही। इस बीच उसने अनेक उच्चकोटि की सिद्धियां प्राप्त कीं। इसके पश्चात् उसने स्वामी-पुष्करिणी नामक झील के उत्तर मे एक छोटे-से मण्डप की ओर प्रस्थान किया और अपनी रचनाओं के माध्यम से संसार को आत्म-साक्षात्कार की अनुभूतियां प्रदान करने लगी।

वेणकम्मा ने अनुभव किया कि मातृभूमि आन्ध्र प्रदेश के सभी स्त्री-पुरुषों के उद्धार के लिए साधारण शैली में नैतिक, धार्मिक और दार्शनिक शिक्षाओं का प्रचार करना नितान्त आवश्यक है। उन दिनों पुस्तकें साधारणतः दर्पपूर्ण शैली मे शिक्षित वर्ग के आनन्द के लिए लिखी जाती थी, न कि जन-साधारण के लिए। और सम्मान एवं धन की प्राप्ति की कामना से वे पुस्तकें प्रायः राजाओं और जमीदारों को समर्पित की जाती थी। लेकिन वेणकम्मा का लक्ष्य था—मनुष्य-मात्र की सेवा के माध्यम से परमात्मा की सेवा। उसने अपनी समस्त रचनाएं अपने इष्टदेव को समर्पित कीं। 'वशिष्ठ रामायण' के प्रत्येक अध्याय के अन्त में वह कहती है—"हे प्रभु वेंकटेश्वर! तारिगोंडा के नृसिह रूप! मैं इसे तुम्हारे पवित्र चरण-कमलों में समर्पित करती हूं। जो भी स्त्री या पुरुष सच्चे मन से इसे पढ़ता, सुनता अथवा इसकी प्रतिलिपि करता है, वह इस भव-सागर के प्रपंचों को पार कर मुक्ति का भागी बनता है।"

वेणकम्मा की रचनाएँ प्राय: पद्य में हैं और उसने कविता के प्राय: सभी रूपों—महाकाव्य, प्रगीत, गीत, खण्ड-काव्य, नाटक आदि को अपनाया है। भागवतपुराण के अन्त में उसने अपनी समस्त रचनाओं की सूची दी है। बाद में उसने अन्य ग्रन्थ भी लिखे। उसकी तीनों रचनाएँ 'वेंकटाचल माहात्म्य', 'राजयोग सार' और 'वशिष्ठ रामायण'—मूल संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर हैं और प्रकाशित हो चुकी हैं।

'वशिष्ठ रामायण' संस्कृत का ग्रन्थ है। यह कई सहस्र पृष्ठों का एक विशालकाय ग्रन्थ है जिसका मूल विषय है वशिष्ठ का श्रीराम को उपदेश। यह ग्रन्थ न केवल भारतीय चेतना की अपितु विश्व की विचार-परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण एवं अद्वितीय कृति है। वेणकम्मा ने अपनी 'वाशिष्ठ रामायण' में इस विशाल ग्रन्थ की शिक्षाओं को अपनी मधुर काव्य-शैली द्वारा लोकप्रिय बनाने का सफल प्रयत्न किया है। सृष्टि के सिद्धान्तों और गूढ़ दार्शनिक तर्क-वितर्कों वाले मूल ग्रन्थ के अंशों को छोड़ कर उसने केवल कथाओं तक अपने को सीमित रखा है और बड़े ही घरेलू ढंग से उनके माध्यम द्वारा उसने जीवन के शाश्वत सत्य की व्याख्या की है। वह जानती थी कि मधुर और ललित भाषा में उपयुक्त अलंकारों और उदाहरणों के साथ उसने जो कुछ कहा है, वह सीधे पाठक के हृदय में समा जाएगा और पानी के तल पर पड़ी तेल की बूंद के समान फैल जाएगा। जिस प्रकार रूप में आकर्षक और रंग में चटकीली न होते हुए भी माधवी लता मधुर सौरभ बिखेरती है उसी प्रकार उसकी व्यक्तित्वपूर्ण मधुर शैली अपनी सुगन्ध से पाठकों का मन मोह लेती है। लेकिन अभिव्यक्ति के सौन्दर्य की अपेक्षा भावों की सुकुमारता के प्रति वह अधिक सजग रही है। उसकी दृष्टि में कविता दर्शन की अनुगामिनी थी। उसके मतानुसार काव्य-शास्त्र के सिद्धान्त कविता के लिए बने थे, न कि कवि उक्त सिद्धान्तों के लिए था। उसने अनुभव किया कि नियम उसके सेवक थे न कि स्वामी। हम उसकी रचनाओं में यत्र-तत्र व्याकरण और छन्दों के नियमों की अवहेलना पाते हैं। जहाँ भी आवश्यक हो, वह बोलचाल के शब्दों का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करती है। उसकी प्रत्येक रचना में हमें 'द्विपद' नामक छन्द का प्रयोग मिलता है, जो मुक्त छन्द से मिलता-जुलता है। पालकुरिकी सोमनाथ जैसे प्रसिद्ध कवियों ने इस छन्द की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

वेणकम्मा के कितने ही गीत लोक-गीतों के रूप में प्रचलित हैं। वीरेशलिंगम् पान्तुलु और प्रभाकर शास्त्री जैसे प्रसिद्ध कवि और आलोचकों ने उसकी रचनाओं की बहुत प्रशंसा की है।

वेणकम्मा, दैवी प्ररणा सम्पन्न कवयित्री थी । हृदय जब भावों से पूर्ण हो तो जिह्वा मुखर हो उठती है । उसी प्रकार प्रेम और भक्ति की पूर्णता से वह कविता के रूप मे फूट पड़ी थी । प्रत्येक अर्थ मे कविता उसके लिए एक दैवी देन थी । 'वेंकटाचलम् माहात्म्य' मे वह कहती है—"मैंने बचपन मे किसी गुरु से वर्ण-माला नही सीखी । काव्य-शास्त्र का 'क' 'ख' भी नही पढा । कोई साहित्य-रचना भी मैंने नही पढ़ी । एक सगीतकार के हाथो मे तन्त्री की भाति मै गा उठती हूँ । मेरा प्रभु मेरी जिह्वा पर बैठ कर अपनी असीम कृपा से मुझे जिस प्रकार गवाता है, मै गा देती हूँ । मौलिकता का मेरा कोई दावा नही है ।

"मै सदैव सरस्वती के प्रति कृतज्ञ हूँ । विद्या की देवी सरस्वती एक पवित्र दोपहरी मे मेरे सम्मुख प्रकट हुई और उसने मुझे आदि जीव और मेरे गुरु के दर्शन कराए । ········जब मै बुरी तरह थक चुकी थी तब वह स्वर्ग से अवतरित हुई और अक्षरो की उज्ज्वल पक्ति के रूप में उसने स्वय को मेरे सम्मुख प्रकट किया ।

"मै भगवान् कृष्ण की उपासना करती हूं, जिन्होंने मुझे अपना मोहिनी रूप दिखा कर अपनी प्रेम-लीलाओ को प्रेमपूर्ण एव प्रतीकात्मक भाषा में कविताबद्ध करने का आदेश दिया । जब मैंने अपनी असमर्थता प्रकट की तो उन्होने मुझे कोपभरी दृष्टि से देखा और जब मै उनके चरणों पर गिर पडी तो उन्होंने स्वय ही उन लीलाओं को इन शब्दो मे बाँध दिया ।"

महान् व्यक्ति उपदेशों की अपेक्षा अपने निजी उदाहरणो द्वारा अधिक शिक्षा देते है । कला के आवरण में उपदेश उपदेश नहीं रह जाते । शासक आदेश और निर्देश देते रहें, मित्र सम्मति और तर्क देते रहे, परन्तु प्रेयसी मधुर और सूक्ष्म ढंग से अपना मन्तव्य व्यंजित कर अभीष्ट सिद्ध करवाती है । वेणकम्मा ने कान्तासम्मत उपदेशों की भाँति अपने नाटकों, गीतों और काव्य-ग्रन्थो के द्वारा अपने विचार और आदर्शों को जन-समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया है ।

नैतिक अनुशासन समस्त आध्यात्मिक साधना का मूल आधार है । अगर वेणकम्मा ने चमत्कार प्रकट किए तो वे केवल उनके सन्त-जीवन के प्रभाव के कारण ही थे । सन्तत्व का मापदण्ड चमत्कारों का प्रदर्शन नही, अपितु चरित्र की पवित्रता है । एक बाजीगर कितने ही चमत्कार क्यो न दिखाता रहे, पर वह सन्त नही कहलाता । वेणकम्मा इस सत्य को इस प्रकार प्रकट करती है—

कुछ लोग सिद्धि पाने की आकांक्षा से मन्त्रयोग, हठयोग और लययोग आदि

अनेक प्रकार के योगो की साधना कर अज्ञानी लोगों को अपने चमत्कार दिखाते फिरते है। ये सब निरर्थक और पाखंडी योगी है। जो परमात्मा के ज्ञान में दक्ष है, वे शरीर के रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु से बचने आदि की व्यर्थ की बातो की अभिलाषा नही रखते। **(राजयोग सार)**

सन्त अथवा दैवी पुरुष वे है जो क्षणभंगुर पदार्थों मे आसक्ति अथवा इच्छा का परित्याग कर अच्छाई, सत्य, पवित्रता, मन की शान्ति और समस्त प्राणियों के प्रति दयाभाव के व्रती होते है। **(वेंकटाचल माहात्म्य)**

योग का अभ्यास निर्बाध होना चाहिए। निरन्तर अभ्यास के बिना मन क्रोध और वासना जैसी दुष्प्रवृत्तियों का घर बन जाता है।

जो, विवेक, सन्यास, आत्म-निग्रह, सहनशीलता, नियम, अक्षोभ का अभ्यास और गुरु एवं वेद-वचनों पर विश्वास करता है, जो परस्त्री को माता के समान मानता है, जो परधन की कामना नही रखता—जो प्रभु के चरणों में शरण लेता है—ऐसा कोई विरला ही इसी जीवन में ज्ञान और मुक्ति का अधिकारी बनता है। **(राजयोग सार)**

मुक्ति का प्रासाद, अक्षोभ, सन्तोष, सत्संग और ध्यान, इन चार द्वारपालो द्वारा रक्षित है। **(वशिष्ठ रामायण)**

हिन्दू दार्शनिक ग्रन्थो मे योग वासिष्ठ के समान कोई भी अन्य ग्रन्थ मनुष्य के प्रयत्न पर इतना अधिक बल नही देता। वेणकम्मा ने बड़ी कुशलता से योग वशिष्ठ की मूल शिक्षाओं को अपनी रचना 'वशिष्ठ रामायण' में प्रस्तुत किया है जिसे पढ़कर बेमोंट और फ्लेचर की पंक्तियाँ स्मरण हो उठती है—

> मनुष्य स्वयं अपना नक्षत्र है
> और वह आत्मा जो पूर्ण और ईमानदार मनुष्य में निवास करती है
> समस्त प्रकाश, प्रभाव और भाग्य पर नियन्त्रण रखती है
> उसके लिए कुछ भी अकाल नही होता
> हमारे कर्म भले या बुरे हमारे देवदूत है
> हमारी घातक परछाइयाँ जो सदैव हमारे साथ रहती है।

यह दिखाने के लिए कि कर्म किस प्रकार करना चाहिए और वास्तविक त्याग क्या है, वेणकम्मा ने अपनी विशिष्ट सरल और प्रभावपूर्ण शैली में अपने ग्रन्थ 'वशिष्ठ रामायण' मे चूडाला और शिखिध्वज का एक लम्बा उपाख्यान प्रस्तुत किया है। वह बतलाती है कि किस प्रकार रानी अपने घर में व्यस्त रह कर

राज-काज चलाते हुए भी मुक्ति पा लेती है और राजा घर, राज्य और समाज को छोड़ कर भी मुक्ति नहीं पाता और फिर किस प्रकार पत्नी, पति की मित्र, दार्शनिक और मार्ग-दर्शक बन कर उसे मुक्ति की ओर ले जाती है। इस कथा का अभिप्राय स्पष्ट है। नारी प्रशासन में अथवा आध्यात्मिक ज्ञान और मुक्ति पाने में किसी भी तरह पुरुष से पीछे नहीं है। संस्कृत शब्द अर्द्धांगिनी और सहधर्मिणी शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट है कि स्त्री और पुरुष जीवन-यात्रा में एक-दूसरे के सहयोगी हैं। दोनों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों में श्रेष्ठता और लघुता का कोई प्रश्न नहीं है।

वेणकम्मा के जीवन और उनकी रचनाओं में वर्तमान की अनेक समस्याओं का समाधान खोजा जा सकता है। उसका नाम तिरुपति-वेंकटेश्वर के वार्षिक मेले-उत्सवों में से एक ब्रह्मोत्सव से जुड़ा हुआ है। आज भी तिरुमलाई पहाड़ी पर एक कारवाँ सराय विद्यमान है जो उसकी पवित्र स्मृति को सुरक्षित रखे हुए है।

परिच्छेद १३

श्री शारदादेवी

पवित्र माता

धार्मिक क्षेत्र में कार्य करने वाले महान् व्यक्तियों की जितनी भी जीवनियाँ उपलब्ध हैं उनमें से किसी भी महिला ऋषि, द्रष्टा अथवा उपदेशिका की जीवनी शारदादेवी जी के समकक्ष नहीं पाई जाती। प्राचीन काल में ऐसी अनेक सन्त महिलाएँ हुई हैं जो विवाह-बन्धन में नहीं पड़ीं और जिन्होंने आध्यात्मिक जीवन की तीर्थ-यात्रा में बिना किसी जीवन-संगी के चलना पसन्द किया। ऐसी भी महान् सन्त महिलाएँ हुई हैं जिन्होंने युवावस्था में विवाह किया, किन्तु बाद में इस बन्धन को तोड़ कर भगवद्भक्ति के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए उन्होंने घर-बार, चौका-चूल्हा छोड़ा और ईश्वर-प्राप्ति के लिए चल पड़ीं और अपनी अनन्य भक्ति से ईश्वर को प्राप्त भी किया। उनमें से कइयों को सामाजिक वातावरण और प्रतिकूल पारिवारिक परिस्थितियों के विरुद्ध घोर संग्राम करना पड़ा किन्तु अन्त में विजयी रहीं और उन सब शृंखलाओं को तोड़ा जिनसे वह उत्पीड़ित थीं। कुछ ऐसी महान् महिलाएँ भी हुई हैं जिन्हें अपने ऐसे अनुदार, असहानुभूतिपूर्ण पतियों के साथ जीवन व्यतीत करना पड़ा जिनमें लेशमात्र भी ईश्वर-भक्ति न थी। ऐसे पतियों ने अपनी धर्मप्राण, ईश्वर-भक्त पत्नियों के साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया जिसके कारण उन्हें पारिवारिक जीवन को समाप्त कर देना पड़ा और अपने पतियों को उनके भाग्य पर छोड़ कर पृथक् होना पड़ा। कुछ ऐसी महिलाएँ भी हैं जिन्होंने विधवा होने के पश्चात् अपने वैधव्य को ईश्वर-प्रदत्त सुअवसर समझा, जिसमें वह पारिवारिक प्रतिबन्धों तथा अन्य विघ्नों से ऊपर उठ कर भगवद्भक्ति में अपना जीवन बिता सकें और वातावरण में उसका मधुर फल प्राप्त कर सकें। किन्तु पवित्र माँ शारदादेवी इन सब महिला सन्तों से भिन्न थीं। उनका परिणय तो हुआ किन्तु उन्होंने और उनके पतिदेव ने गार्हस्थ्य जीवन नहीं बिताया। शारदादेवी अपना एक ही उदाहरण हैं जिन्होंने अपने बाल्यकाल में ही ये लक्षण प्रदर्शित कर दिए थे कि वह दिव्य सन्देश लेकर विश्व में उतरी हैं। उन्होंने ईश्वर को पवित्र मातृ-शक्ति के रूप में अनुभव किया और स्वयं को वही

मातृ-शक्ति जाना और अपने पति को भी उसी का स्वरूप देखा । उनके पतिदेव ने भी अपने आपको और अपनी पत्नी को उसी दिव्य ज्योति का स्वरूप पाया। संसार ने तब तक कोई ऐसा पवित्र जोड़ा न देखा था, न ही उन जैसे उच्चकोटि के आध्यात्मिक अनुभवों को अन्यत्र पाया था । संसार के सभी स्त्री-पुरुष चाहे वे विवाहित हों या अविवाहित, जन-साधारण हों अथवा ज्ञानी संन्यासी, इस दम्पति को अध्यात्म के प्रतीक और उच्च आचरण का मापदण्ड मानते हैं।

जन्म और कुल

श्री शारदामणि देवी, जो पवित्र माँ के नाम से प्रसिद्ध हैं और जिनके शतवर्षीय जन्म-दिवस के अवसर पर उनकी पुण्य-स्मृति में यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है, बंगाल के बाँकुरा जिले में छोटे-से एकान्त गांव जयरामबाटी के निवासी ब्राह्मण परिवार में २२ दिसम्बर, १८५३ में पैदा हुई थी । हरे-भरे चरागाहों और घास के मैदानों में चरते हुए पशुओं, अमोदर नदी और नालों, वृक्षों और झाडियों से घिरा यह छोटा-सा गाँव अनूठा वातावरण प्रस्तुत करता था । इस गाँव में किसी समय केवल सौ के लगभग कच्चे घर थे । अब यह गाव पवित्र यात्रा-स्थल बन गया है, जहाँ सैंकडो और विशेष अवसरों पर हजारों भक्त, माँ शारदा की पुण्य-स्मृति में उन्हें श्रद्धाँजलि अर्पित करने के लिए एकत्रित होते हैं।

शारदादेवी के पिता रामचन्द्र मुखोपाध्याय और माता श्यामसुन्दरी देवी निर्धन किन्तु धार्मिक विचारोंवाले सज्जन दम्पति थे । अतः रामचन्द्र की आय के साधन बड़े सीमित थे । कुछ एकड़ धान के खेतों में कृषि-कार्य, पुरोहिती, जनेऊ बनाना और बेचना यही उनकी जीविका के साधन थे, किन्तु वे बड़े उदार हृदय व्यक्ति थे। महामारी अथवा खाद्यान्न के अभाव के समय, वह अपने शेष अन्न को अपने परिवार के लिए न रख कर भूखे और आपद्ग्रस्त लोगों को बांट देते थे।

ऐसा लगता है कि माँ .शारदादेवी की जीवन-माला रहस्य भरे अनुभवों एवं दैवी प्रभावों से पिरोई हुई है। एक बार इनके पिता रामचन्द्र और माता श्याम-सुन्दरी को पूर्वाभास हुआ कि उनके यहाँ पुत्री के रूप में दैवी शक्ति का जन्म होगा। दम्पति ने इस दुर्लभ सौभाग्य को ईश्वरीय वरदान समझा । समय के साथ जब नन्हीं शारदा ने माँ की गोद को भर दिया तो माता-पिता के सन्तान के प्रति स्नेह में ईश्वर की अनुकम्पा के लिए कृतज्ञता भी थी जो उस दाता ने उन्हें ऐसी पुत्री प्रदान की ।

शारदादेवी एक सरल ग्रामीण बालिका थी जो सहेलियो के साथ खेलती,

परन्तु प्रायः वह अपनी बाल-क्रीडाओं में अपनी आयु में कहीं अधिक गाम्भीर्य प्रदर्शित करती। उसकी गुड़ियों के घर में अनेक खिलौने थे, किन्तु बालिका शारदा का एक मात्र मनोरंजन यही था कि वह काली और लक्ष्मीदेवी की मिट्टी की प्रतिमाएँ बना कर उन पर पुष्पांजलि तथा बेल-पत्र अर्पित कर पूजा किया करती। पावन जननी के साथ अपना तादात्म्य अनुभव कर वह एकाग्रचित्त होकर साधना करती। इस प्रकार शारदादेवी धीरे-धीरे धर्म की पाठशाला में अपने प्रारम्भिक अध्याय पढ़ने लगी। प्रायः दस वर्ष की अल्पावस्था में ही उनकी आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ, जिनके अँकुर समय-समय पर प्रस्फुटित होते रहते थे, अब पूर्णतः प्रफुल्लित हो गईं। शैशव-काल में ही इस सन्त महिला को ऐसे-ऐसे अनुभव और दैवी आभास हुए जो बड़े-बड़े ज्ञानी भक्तों को समाधि-अवस्था के उच्च-स्तर पर पहुँच कर भी यदि प्राप्त हो जाएँ तो वह अपने को धन्य समझते हैं।

युवावस्था में जब शारदादेवी कामारपुकुर में थीं तब उन्हें निकटवर्ती तालाब में अकेले स्नान के लिए जाना पड़ता था। वह देखती कि आठ समवयस्क युवतियों का समूह किसी अपरिचित स्थान से निकल प्रतिदिन उसके संरक्षण के लिए आता। यह वस्तुतः आश्चर्य की बात है कि किस प्रकार दैवी शक्ति हमारी इस साध्वी महिला का संरक्षण करती रही।

शारदादेवी को किताबी ज्ञान प्राप्त करने का अवसर बहुत कम मिला। इस नन्ही बालिका ने अपनी भाषा का अक्षर-ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य किया और गाँव की पाठशाला में प्रविष्ट भी हुई, किन्तु दुर्भाग्यवश किसी ने भी उसकी शिक्षा की ओर अथवा नियमपूर्वक पाठशाला में उसकी उपस्थिति की ओर ध्यान नहीं दिया। बालिका शारदा की पढ़ने में विशेष रुचि होने पर भी वह पढ़ नहीं सकी क्योंकि वह अपने परिवार में ज्येष्ठ सन्तान थी। परम्परा के अनुसार सब कन्याओं का गृह-कार्य में निपुण होना अनिवार्य समझा जाता था, अतः बालिका शारदादेवी अपनी माँ का गृह-कार्य में हाथ बँटाने लगी। भोजन बनाने और कभी-कभी तो भोजनालय का सारा काम शारदादेवी ही करती। इसके अतिरिक्त हर प्रकार का गृह-कार्य भी वह प्रायः करती रहती।

भारतीय संस्कृति और सभ्यता की प्राप्ति का एकमात्र साधन साक्षरता ही नहीं, अपितु इस देश का अपना ढंग और ऐसे अनेक व्यावहारिक रीति-रिवाज हैं जो उच्च राष्ट्रीय परम्पराओं, संस्कृति, धर्म और दार्शनिक विचार मनुष्य को पैतृक सम्पत्ति की भाँति उपलब्ध कराने में सहायक हैं। मन्दिर के त्योहार का मनाना,

महाकाव्यों का पाठ करना, ग्रामीण नाटकों का अभिनय, नित्य पूजा-पाठ और समय-समय पर सब सम्बन्धी और परिवार के सदस्यों के साथ अनेक महत्त्वपूर्ण उत्सवों में भाग लेना आदि अनेक ऐसे सुअवसर हर भारतीय के जीवन में आते हैं जो व्यक्तित्व को संतुलित और समुन्नत बनाने के उत्तम साधन हैं। जो लोग इन आदर्शों तथा विचारों को ग्रहण करने की क्षमता रखते हैं वे उन पर आचरण भी करते हैं। शारदादेवी ने संस्कृति, आध्यात्मिकता, धार्मिक श्लोकों और परम्पराओं की सरिता में गहरे पैठ कर अपने आध्यात्मिक संस्कारों को उभारा था। सौभाग्यवश छः वर्ष की बाल्यावस्था में ही वह एक ऐसे व्यक्ति—पवित्र आत्मा—के सम्पर्क में आ गई जो अपनी अद्भुत आत्मशक्ति से शारदादेवी को चिरन्तन सत्य का पाठ पढ़ा कर, उसका सही मार्ग दिखा कर अमरता प्रदान कर सका।

विवाह

प्रचलित प्रथाओं के अनुसार नन्ही शारदा का ६ वर्ष की अवस्था में ही २३ वर्ष के युवक श्री रामकृष्ण से पाणिग्रहण हो गया। यह विवाह सम्बन्ध मई, १८५९ में हुआ, जो वर के माता-पिता द्वारा आयोजित किया गया था। उस समय श्री रामकृष्ण दक्षिणेश्वर में कठोर तपस्या कर रहे थे। उनका जन्म हुगली जिले में स्थित जयरामबाटी गाँव से पाँच मील की दूरी पर कामारपुकुर गांव में १८३६ में हुआ था। विद्यार्थी अवस्था में श्री रामकृष्ण शिक्षा में बहुत पिछड़े हुए थे, अतः उनके ज्येष्ठ बन्धु ने उन्हें दक्षिणेश्वर में पुरोहित के पद पर नियुक्त करवा दिया ताकि उनकी आय से संयुक्त परिवार को कुछ सहायता मिल सके। १४ वर्ष की अवस्था में उन्होंने आध्यात्मिक सिद्धान्तों का गम्भीरता से अनुसरण करना शुरू किया। प्रायः सात मास की अवधि में ही श्री रामकृष्ण विचित्र चित्त-वृत्ति और व्यावहारिक हाव-भाव प्रदर्शित करने लगे और जो लोग उनकी ईश-मिलन की इस तड़प और व्यग्रता को नहीं समझ सके वे उन्हें पागल समझने लगे। यह देख इनकी माता और ज्येष्ठ भाई उन्हें कामारपुकुर में चिकित्सा के लिए ले आए। प्रियजनों को यह देख हार्दिक व्यथा हुई कि अब रामकृष्ण पूर्णतया सांसारिकता से विमुक्त हो किसी अदृश्य की खोज में व्यग्र हैं और कभी-कभी दयनीय स्वर में 'माता-माता' पुकारने लगते हैं। इस मनःस्थिति में सबने यही उचित समझा कि रामकृष्ण को सांसारिक कर्त्तव्यों में लीन करने के लिए उनको विवाह-बन्धन में बाँध दें। जब कोई उपयुक्त अवस्था की कन्या नहीं मिली तब उन्हें बड़ी निराशा हुई। यह प्रायः देखा जाता है कि मनुष्य जब ईश्वर-

भक्ति मे मग्न रहता है और आत्मोन्नति कर लेता है तो वह विवाह-बन्धन, सासारिक उत्तरदायित्व और पारिवारिक कर्त्तव्यों में अपने को उलझाना नही चाहता, किन्तु श्री रामकृष्ण माता और भाई की विवाह-योजना से व्यथित नही हुए। परिवार के लोग जब उपयुक्त कन्या ढूढने मे सफल नही हो सके तब श्री रामकृष्ण ने कहा—"आपकी यत्र-तत्र खोज निरर्थक है। जयरामबाटी गांव में जाओ, वहां रामचन्द्र मुखोपाध्याय के घर एक कन्या-रत्न है जिसे विधाता ने मेरे लिए निश्चित किया है।"

निश्चित समय और तिथि पर परिणय-कार्य सम्पन्न हुआ। तदनन्तर रामकृष्ण १६ मास तक निरन्तर अपने गांव मे रहे। इसी दौरान, दिसम्बर १८६० में शारदादेवी की अवस्था आठ वर्ष की हो गई। प्रथानुसार रामकृष्ण अपनी ससुराल गए और जब वहां से लौटे तो शारदादेवी को अपने घर कुछ दिन मां के पास रहने के लिए ले आए। उनके दक्षिणेश्वर वापस लौटने पर वह पुन अपने माता-पिता के पास चली गई। कई वर्ष बीत गए। शारदा अपने माता-पिता के सरक्षण में बढ़ने लगी। वह अपनी मां की घर के काम-काज मे सहायता करती। श्री रामकृष्ण पुन कामारपुकुर आए। उस समय शारदादेवी की आयु १४ वर्ष की थी। वह ३ मास रामकृष्ण के साथ घर पर रही। उनका व्यवहार शारदादेवी के प्रति बड़ा सरल, मधुर और दयालु था। उन्होंने युवती शारदा को सब सासारिक और आध्यात्मिक ज्ञान दिया—भोजन बनाना, गृह-प्रबन्ध, सासारिक और पारिवारिक कर्त्तव्यो का पालन, ईश्वर-साधना, आध्यात्मिक मार्ग पर चलकर इष्ट-देव से तादात्म्य प्राप्त करना आदि। अब शारदादेवी युवती शारदादेवी थी। वह भी समझने लगी कि वह विवाहिता है। रामकृष्ण के ससर्ग मे वह बड़ी प्रसन्न रहती। उनमे वह उच्चकोटि की भगवद्भक्ति, निष्कलक मन और शरीर की निर्मलता पाती। इन दुर्लभ गुणों से अलंकृत यह पुरुष अन्य बातों में सामान्य व्यक्ति था। इन दिनो के बारे में वह प्राय अपने शिष्यों से कहती—"उस समय मुझे ऐसा अनुभव होता था कि मेरा हृदय सदैव पूर्णानन्द से ओत-प्रोत है। आज उस असीम आनन्द को अभिव्यक्त करना भी बहुत कठिन है।"

चार वर्ष और बीत गए, अब शारदादेवी की आयु १८ वर्ष की हो गई थी। श्री रामकृष्ण की मधुर-स्मृति उसके हृदय में सदा बनी रहती और सदैव उनके पास रहने की उत्कण्ठा बढ़ती जाती थी। उसका कोमल हृदय यही सान्त्वना देता कि वह रामकृष्ण जो कुछ वर्ष पूर्व इतने मधुर और दयालु थे, अब कदापि उसे भुला नहीं सकते। उपयुक्त समय आने पर वह अवश्य उसे अपने पास बुलाएँगे।

देवी शारदा कभी अपनी आन्तरिक भावनाओं और अन्तर्वेदना को प्रकट नही करतीं थीं, अपितु सदैव अपने को यथासम्भव गृह-कार्य और माता-पिता का हाथ बंटाने में भुलाये रखती।

शारदादेवी के पास ये अफवाहें तो पहले ही पहुँच चुकी थी कि श्री रामकृष्ण पागल हो गए हैं। वास्तव मे जब कभी उसके पड़ोसी उसके माता-पिता से मिलते तो प्रायः सहानुभूति प्रकट करते हुए कहते, "हाय, बेचारी श्यामा की पुत्री का विवाह पागल से हो गया है।" शारदादेवी यही प्रयत्न करतीं कि वह किसी से न मिलें ताकि ये अपशब्द उसके कानों मे न पड़े। यह स्वाभाविक था कि देवी शारदा की प्रबल इच्छा स्वयं रामकृष्ण को देखने की होती ताकि वह जान सके कि सचाई क्या है। अतः उन्होंने रामकृष्ण के निवास-स्थान दक्षिणेश्वर जाने का निश्चय किया।

जब शारदादेवी के पिता, पुत्री की इस इच्छा से अवगत हुए तब वह तुरन्त उसे वहा ले जाने को सहमत हो गए। उन दिनों कलकत्ता जाने के लिए रेलवे और जलयान की व्यवस्था न होने के कारण शारदादेवी को कुछ दूर तक पालकी मे ले जाया गया और तत्पश्चात् सब पैदल चलने लगे। युवती शारदा को लम्बी पद-यात्रा का अभ्यास न था, अतः वह तीसरे दिन अस्वस्थ हो गईं। उन्हें उग्र ज्वर ने आ घेरा। ऐसी अवस्था में शारदादेवी अपने साथियो के साथ रात्रि मे विश्राम के लिए एक धर्मशाला में ठहर गई। वहाँ शारदादेवी ने रात में एक अनुपम और महत्त्वपूर्ण स्वप्न देखा जिसने उसे शारीरिक और मानसिक वेदना से आशातीन मुक्ति दी। इस घटना का वर्णन कुछ वर्ष पश्चात उन्होंने इन शब्दो में किया :

"मै तीव्र ताप मे बेसुध पड़ी थी, यहाँ तक कि शिष्टता और कपड़े-लत्तों का भी मुझे होश नही था। तभी क्या देखती हू कि एक स्त्री मेरे पास आकर बैठ गई है। उस स्त्री का वर्ण गहरा काला था। यद्यपि वह बहुत काली थी किन्तु इतना लावण्य मैंने कभी नही देखा था। उसने अपने कोमल, शीतल करों से मेरे दर्द करते हुए सिर को दबाया, तब मुझे ऐसी अनुभूति हुई कि मेरे शरीर का ताप दूर हो गया है। मेरे पूछने पर कि वह कहां से आई है, उसने उत्तर दिया—दक्षिणेश्वर से ! यह सुन कर आश्चर्य और आनन्द से मेरी वाणी मूक-सी हो गई। कुछ देर बाद मेरे मुख से निकला, 'क्या आप दक्षिणेश्वर से आ रही हैं ? मैं भी तो वहीं जा रही हूं। वहां मेरे पति रहते हैं मैं उन्हीं के पास जा रही हूं। किन्तु ताप की तीव्रता ने मेरी इस यात्रा में विघ्न डाला है।' इसपर उस देवी ने कहा, 'चिन्ता न करो, तम शीघ्र ही अपने

पति के चरणों में दक्षिणेश्वर पहुँच जाओगी। मैंने केवल तुम्हारे लिए ही वहाँ उसे रखा है।' यह सुनकर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही और मेरे मुह से निकला 'आप कृपया यह बताइये कि आप है कौन?' उसने उत्तर दिया, 'मैं तुम्हारी बहिन हूं।' इन शब्दो ने मुझे और भी आश्चर्य मे डाल दिया। इस वार्तालाप के बाद मैं निद्रा देवी की गोद मे चली गई।

प्रातः सब साथी यह देखकर चकित रह गए कि शारदा अब पूर्णतः स्वस्थ थी। अतः पुनः पद-यात्रा आरम्भ हुई।

दक्षिणेश्वर में

जब शारदादेवी दक्षिणेश्वर मे पहुंची तो वह सीधी रामकृष्ण के कमरे मे प्रविष्ट हुई। उन्होंने स्वत अनुभव किया कि वह कितने सहृदय थे। उन्हे आया देख रामकृष्ण ने सहर्ष अभिनन्दन करते हुए कहा—"ओह! तुम आ गईं!" यह कहकर उन्होंने कमरे मे चटाई बिछाने को कहा ताकि वह वहां विश्राम कर सके। लम्बी पद-यात्रा से शारदादेवी बहुत थक गई थी और मार्ग की अस्वस्थता के चिह्न अभी तक शेष थे। रामकृष्ण ने तत्काल ही उनके उपचार और देखभाल का प्रबन्ध किया। अब शारदा जी के भय और उनकी आशका का समाधान हो गया था। शारदादेवी ने स्वयं देखने पर अनुभव किया कि जो अफवाहे रामकृष्ण की मानसिक अस्वस्थता और पागलपन के बारे मे फैलाई जा रही थीं, उनका आधार केवल सांसारिक लोगों का प्रलाप मात्र था। लोग उनकी आध्यात्मिक महानता को पहचान नहीं सके और यू ही अंट-संट बक रहे थे।

पवित्र माता दक्षिणेश्वर में १८८५ तक रहीं। वह केवल कुछ दिनों के लिए अपने गाँव गई थी। प्रारम्भिक दिनों में ही उन्होंने देखा कि श्री रामकृष्ण रात में भी प्रायः समाधि-मग्न हो जाते थे। अब वह भली प्रकार समझ गईं कि रामकृष्ण परमहंस ईश्वर के ऐसे अनन्य भक्तों मे थे जो मन्दिर के घड़ियाल सुनकर, भजन सुनकर और किसी ईश्वरीय विषय पर वाद-विवाद सुनकर गहन समाधि में लीन हो जाते हैं। दक्षिणेश्वर में बिताए गए आनन्दमय समय को स्मरण करते हुए वह प्रायः कहतीं :

"ध्यानावस्था की जिस स्थिति में स्वामी पहुंच जाते थे उसका तो शब्दों में वर्णन करना कठिन है। आह्लादावस्था में कभी वह रोते, तो कभी नितान्त शान्त हो समाधि मे लीन हो जाते। उनकी यह अवस्था कभी-कभी रात भर रहती।

उस दिव्य साक्षात्कार में मेरा शरीर भय से कांपने लगता और मैं मन ही मन प्रत्यूष बेला की, उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगती, क्योंकि तब तक मुझे दैवी शक्ति का आभास नहीं हुआ था। एक रात उनकी समाधि बहुत समय तक रही। मैं इतनी भयभीत हो गई कि मैंने तत्काल बालक हृदय[1] को बुला भेजा। वह आया और स्वामी के कानों के पास इष्टदेव के नाम का बार-बार उच्चारण करने लगा। कुछ समय तक नाम लेते रहने पर उनमें शारीरिक चेतना आ गई। इस घटना के बाद उन्हे मेरी कठिनाई का अनुभव हुआ और मुझे इष्टदेव के कुछ पर्यायवाची नाम बताए जिनका उच्चारण उनके कानों में विशेष समाधि की अवस्था में किया जाना चाहिए। तत्पश्चात् मेरा भय कम हो गया क्योंकि जब भी वह अचेतन अवस्था मे होते तो मैं उन दैवी नामों का उच्चारण करती और वह निश्चित रूप से शारीरिक चेतना में आ जाते। इस पर भी मैं कभी-कभी रात भर आँखों में काटती क्योंकि यह भय सदा बना रहता था कि वह किसी समय भी समाधिस्थ हो सकते थे। धीरे-धीरे उन्हें मेरी कठिनाई का अनुभव हुआ। जब उन्हें यह विदित हुआ कि पर्याप्त समय बीतने पर भी मैं अपने को उनकी समाधि-अवस्था के समय उनकी इच्छानुसार नहीं ढाल सकी तो उन्होंने मुझे अलग नहाबत[2] में सोने का आदेश दिया।

शारदादेवी पवित्र माँ के रूप में

इस समय तक श्री रामकृष्ण परमहँस हिन्दू धर्म में विहित सभी तपस्या-विधियों का अभ्यास कर चुके थे। अब उनका इस क्षेत्र में काफी अनुभव हो गया था। इतना ही नहीं, उन्होंने दूसरे धर्मों के उन सब मूल तत्त्वों को भली-भाँति समझ लिया था, जो सभी धर्मों में विश्वास और श्रद्धा पैदा कर सकते हैं। इस समय उनकी अवस्था ३५ वर्ष की थी।

विवाह के बाद अब युवती शारदा पूर्ण स्त्रीत्व को प्राप्त कर रही थी। यह देख कर श्री रामकृष्ण ने आराध्य देवी से पूर्ण शक्ति से प्रार्थना की कि वह शारदा के मन को सांसारिक एवं भौतिक माया-मोह से ऊपर उठा दे, ताकि वह अपनी शुद्धता और पवित्रता को बनाए रखे। दक्षिणेश्वर पहुंचने के कुछ दिन बाद श्री रामकृष्ण ने शारदा से पूछा था कि क्या वह उन्हें फिर सांसारिक जीवन में घसीट लाने के लिए यहां आई है? इसके उत्तर में शारदादेवी ने कहा था—"ऐसा मैं

[1]श्री रामकृष्ण का भतीजा।

[2]सत्संग-गृह जो बाद में श्री रामकृष्ण की वृद्धा माता तथा श्री शारदादेवी का निवास स्थान बना दिया गया था।

क्यों करूं मेरे देव ? मैं तो आपको आपके जीवन के ध्येय की प्राप्ति में सहयोग दे सकूं, यही मेरी मनोकामना है।"

उन्हीं दिनों दक्षिणेश्वर में ही श्री रामकृष्ण ने षोड़शी पूजा सम्पन्न की। पूजा के पश्चात उन्होंने देवी मां के सिंहासन पर शारदा जी को बैठने का आदेश दिया। यथोचित मंत्रों तथा उपयुक्त विधि से रात्रि के नौ बजे पूजा प्रारम्भ की। पूजा के दौरान शारदादेवी पूर्णतः आध्यात्मिक उन्माद में थीं। श्री रामकृष्ण ने उस पर पूजा का जल छिड़क कर निम्नलिखित प्रार्थना द्वारा शारदा देवी में देवी मां को जाग्रत किया।

"ओ देवी मां! तू चिरन्तन कुमारी सर्वशक्ति-स्वामिनी और सौन्दर्य की निकेतन है। कृपा करके मेरे लिए पूर्णत्व का द्वार खोल दो! प्रस्तुत नारी के तन-मन को पवित्र कर तुम स्वयं उसके द्वारा प्रत्यक्ष हो और वही सब करो जो सत्यम् और शुभम् है।"

पूजा के समय शारदादेवी अर्ध-तल्लीनता की अवस्था में होतीं और जब पूजा समाप्त हो जाती तो वह गहन समाधि में पहुंच जाती। यह आराधक और आराध्य का अत्युत्तम पुनीत तादात्म्य होता और वह एक ब्रह्म के अस्तित्व की अनुभूति करते।

उस आध्यात्मिक तल्लीनता की अवस्था में बहुत समय व्यतीत हो गया। रात्रि के द्वितीय प्रहर के अन्त में श्री रामकृष्ण ने थोड़ी-सी शारीरिक चेतना पुनः प्राप्त की। तब उन्होंने दिव्य माता को पूर्णतया अपने आप को समर्पित किया। समर्पण की इस महान् क्रिया में उन्होंने अपने सम्मुख ही प्रत्यक्ष देवता को अपनी तपस्या का फल, अपनी माला और अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। तब उन्होंने निम्नलिखित मंत्र का उच्चारण किया :

"हे देवी! मैं बारम्बार तुम्हारे समक्ष साक्षात् दण्डवत् करता हूं। जो शिव की शाश्वत सहचरी, त्रिनेत्री, स्वर्णमयी, सर्वव्यापिनी, शरण-दात्री, सब सिद्धियों को प्राप्त करने वाली, मंगलातिमंगलकारिणी है, मैं तुम्हें बारम्बार साष्टांग प्रणाम करता हूं।"

शास्त्रोक्त पूजा में सामान्यतः आराधक अपने आराध्य का अपने भीतर आह्वान करता है और जब उसकी पूजा पूर्ण होनी है तब वह अपने आराध्य से प्रार्थना करता है कि वह उसी विश्व में विलीन हो जाए जहां से उसका प्रादुर्भाव

हुआ था। यद्यपि आराधक अपने आराध्य के साथ कुछ क्षणों के लिए तादात्म्य अनुभव करता है किन्तु शीघ्र ही वह सांसारिकता के प्रभाव में आ जाता है और अपनी उस एकरूपता को पूर्णतया विस्मृत कर देता है। जब श्री रामकृष्ण ने शारदादेवी में दिव्य माता का आह्वान किया तब शारदादेवी को उच्च कोटि की आध्यात्मिकता की अनुभूति हुई। लेकिन जब वह अनुभूति एक बार आई तो शारदादेवी दिव्य माता के साथ तादात्म्य की अनुभूति को नहीं त्याग सकीं, अपितु जीवन-पर्यन्त यह अनुभूति स्थिर रही। इसके अलावा, यह पूजा रामकृष्ण के जीवन, तपस्या और आध्यात्मिक उपलब्धियों में शारदा माँ की साझेदारी की प्रतीक बनी रही। तब से उनका शरीर और मस्तिष्क उस शक्ति के उपकरण हो गए जो दिव्य माता के नाम से प्रसिद्ध है और जो कि रामकृष्ण के शरीर और मस्तिष्क से निःसृत हुई। उन्हें एक-दूसरे में केवल पवित्र माँ के दर्शन हुए। उनका मस्तिष्क कभी भी निम्नतर स्तर पर नहीं आया। वह उतनी ही पवित्र थी जितने कि वे पवित्र थे। वे दिव्य पुरुष थे और वह दिव्य नारी थी।

वह अपने भक्त अनुयायियों की माँ तो थी ही, अनुयायियों के अनुयायियों की भी माँ कहलाईं। वास्तव में वह माता से भी अधिक थी क्योंकि उसके द्वारा वह शक्ति प्रकट हुई जो माँ कहलाती है और जिसकी पूजा तथा अनुभूति रामकृष्ण को प्रत्यक्ष हुई। यह आश्चर्य की बात नहीं कि वह आज पुनीत माँ के नाम से जानी जाती हैं, वह नाम जो लोगों में प्रेम और श्रद्धा के भाव उत्पन्न करता है।

हिन्दुओं में यह परम्परागत रूप से माना जाता है कि हिन्दू नारी को अपने पारिवारिक जीवन में अपने पति को ईश्वर का प्रतीक मान कर आध्यात्मिक दृष्टिकोण उत्पन्न करना चाहिए। संतुलित मन से उसके प्रति निःस्वार्थ सेवा मनुष्य को दिव्य बनाती है और आत्मिक उन्नति को उसके लिए निश्चित बनाती है। श्री शारदादेवी ही एक ऐसी सौभाग्यशालिनी थीं, क्योंकि उनके पति पवित्र रामकृष्ण अपने समय के दिव्य मानव थे। इस प्रकार उनके लिए सेवा को पूजा (अर्चना) में परिवर्तित करना सरल था। उनके उपदेशों ने उसके भावुक मन पर बहुत प्रभाव डाला। सर्वोच्च आध्यात्मिकता को अपनाने के लिए उन्होंने अतीव प्रयास किया। हम उनके आन्तरिक जीवन की झलक उन्हीं के शब्दों में पाते हैं:

"दक्षिणेश्वर में जीवन-यापन करते हुए मैं प्रायः प्रातः तीन बजे उठती और ध्यान लगाकर बैठ जाती। प्रायः उसमें मैं पूर्णरूपेण लीन हो जाती। एक

बार चाँदनी रात में मैं नहाबत की सीढ़ियों के पास बैठी हुई जप[1] कर रही थी। वातावरण शान्त था। मैं यह भी नही जानती कि स्वामी उधर से कब गए। अन्य दिनों में उनकी चप्पलों की आवाज सुना करती थी किन्तु उस दिन मैंने कोई आवाज नही सुनी। मैं पूर्णतया चिन्तनरत थी। उस दिन वायु के कारण वस्त्र मेरे पृष्ठभाग से जरा खिसक गया था परन्तु मैं इससे अनभिज्ञ थी। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी योगानन्द उसी मार्ग से स्वामी को जल का पात्र देने गए थे और उन्होंने मुझे उस अवस्था में देखा था।

"ओह! उन दिनों का आनन्द! चाँदनी रातों में मैं चाँद को देखती और अंजलि-बद्ध प्रार्थना करती—'मेरा अन्तस्तल भी चन्द्र-किरणों के समान पवित्र हो'। यदि कोई व्यक्ति चिन्तनरत है तो वह अपने हृदय में ईश्वर को स्पष्ट रूप से देख सकता है और उसका स्वर सुन सकता है। उस क्षण जो भी विचार उसके मन में उठता है वह तत्क्षण वही पूर्ण हो जाता है। व्यक्ति शांति-सागर में स्नान करता है। आह! उस समय मेरे मस्तिष्क में क्या-क्या विचार थे। एक दिन मेरे सामने वृन्दी नामक सेविका के हाथ से थाली छूटकर झनझनाती हुई गिर पड़ी। यह ध्वनि मेरे अन्तस्तल में झंकृत हो गई।[2]"

आध्यात्मिक अनुभूति की पूर्णता में व्यक्ति सदा यही पाएगा कि वह सर्वोच्च सत्ता जो उसके हृदय में निवास करती है वही उसी प्रकार अन्य प्राणियों—दलितों, पीड़ितों, अछूतों और विजातियों—के हृदय में भी निवास करती है। यह अनुभूति व्यक्ति को वास्तव में विनीत और नम्र बनाती है।

श्री रामकृष्ण का श्रेष्ठ व्यक्तित्व स्वयं शारदादेवी की नैतिक और आध्यात्मिक पूर्णता का साक्षी है। पिछले वर्षों में उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा—"यदि वह इतनी पवित्र न होती तो कदाचित मैंने नियन्त्रण खो दिया होता। परिणय के पश्चात मैंने दिव्य माँ से प्रार्थना की—'माँ! मेरी अर्द्धांगिनी के चित्त से कामुकता का लेशमात्र भी दूर कर दो।' जब मैं उसके साथ रहता था तो मैंने यह समझ लिया कि माता ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली है।"

वास्तव में वे दोनों ही महान् थे। उन दोनों ने एक-दूसरे में दिव्य माता के दर्शन किए। वे अन्य नर-नारियों से बहुत भिन्न थे। यह बात स्मरणीय है कि जब

[1] उन मंत्रों का जाप, जो श्री रामकृष्ण ने उन्हें दिए थे।

[2] पवित्र माँ को, जो उस समय ध्यान-मग्न थीं, यह आवाज तूफान की गरज की तरह प्रतीत हुई। महायोगी पतंजलि के अनुसार जब मन अत्यधिक एकाग्र होता है तो मामूली आवाज भी बिजली की कड़क जैसी सुनाई पड़ती है।

रामकृष्ण ने १८८६ में इहलीला समाप्त की तो उस दिव्य नारी ने, जो उनकी तेरह वर्ष से सेवा कर रही थी, रोते और विलाप करते हुए कहा—'ओ मां! तुम मुझे छोड़ कर कहां चली गई हो?'

श्री रामकृष्ण ने भी शारदादेवी के भीतर उसी अलौकिक माता के दर्शन किए जो कि उन्होंने उनमें किए थे। एक दिन उनके चरणों पर मालिश करते हुए उन्होंने उनसे स्पष्ट होकर पूछा—"आप मुझ पर कैसी दृष्टि रखते हैं?" तत्काल उन्होने उत्तर दिया—"उस दिव्य मां की तरह जो मन्दिर मे स्थित है। वह माता जिसने मुझे जन्म दिया है और अब नहाबत मे वास करती है। वह अभी भी मेरे चरणों मे मालिश कर रही है। मै तुम्हें मातृत्व का प्रतीक समझता हूं।"

श्री शारदादेवी अपने आध्यात्मिक अनुशासन (आत्मिक-नियन्त्रण) का पालन श्री रामकृष्ण के निर्देशों के अनुसार किया करती थी। अपने आराध्य देव श्री रामकृष्ण की सेवा करने में, उनके लिए भोजन बनाने, परोसने और अन्यत्र व्यक्तिगत सेवाओं में शारदा मां को एक अनूठी आध्यात्मिक अनुभूति होती और इस महान् आध्यात्मिक गुरु के साथ जो उनका जीवन-संगी था, सम्भाषण करने का सुअवसर प्राप्त होता था। परिणामत: वह सर्वोच्च (आध्यात्मिक) एकनिष्ठा (एकाग्रता) और दिव्य चेतना को प्राप्त करने में सफल हुईं।

इन कठिन आध्यात्मिक अभ्यासों और श्रेष्ठ दिव्य अनुभूतियो के दिनों में श्री रामकृष्ण जानते थे कि पवित्र माता ने उनके आध्यात्मिक नियोग को बनाए रखने का निश्चय किया है। उन्होंने उनसे कहा था—"जो जन-समुदाय चीटों की तरह अन्धकार में रहता है, तुम्हें उसकी देखभाल करनी चाहिए।" उन्होंने उन्हें महान् मन्त्र सिखाए और उन लोगों को दीक्षा देने के निर्देश दिए जो लोग आध्यात्मिक शरण के जिज्ञासु है। उनका मार्ग-दर्शक बनने की उन्हें प्रेरणा दी। बाद में मां ने बताया कि "मैंने ये सारे मन्त्र स्वामी से ग्रहण किए हैं। इनके द्वारा मनुष्य निश्चय ही पूर्णता प्राप्त करता है।" काशीपुर मे उनकी रुग्णावस्था के दिनों उन्होंने उनसे बड़ी सहानुभूति से पूछा—"क्या तुम कुछ नही करोगी? क्या सब कुछ मुझे ही करना है?" इस पर उन्होंने उत्तर दिया—"मैं नारी हूं। मैं क्या कर सकती हूं?" और तब श्री रामकृष्ण ने कहा—"नहीं, नहीं, तुम्हें बहुत-कुछ करना है।"[1]

अपने पति की तरह ही उनकी पवित्रता निष्कलंक और निर्मल थी। उनका धन और सम्पत्ति का उत्सर्ग यह प्रदर्शित करता है कि उन्होंने कितनी अधिक

[1]गुरु के रूप में श्री शारदा मां का दायित्व।

सफलता से त्याग के आदर्श का पालन किया । वास्तव में उनकी मृत्यु के पश्चात् देवी शारदा आध्यात्मिक उपदेश देने और उनके सैकड़ों शिष्यों का मार्ग-प्रदर्शन करने में पूर्णतया समर्थ थीं ।

अपने ग्राम्य-गृह में

शारदा माँ दक्षिणेश्वर से अक्तूबर, १८७३ मे जयरामबाटी लौटी और कुछ मास अपने घर मे बिताए । १८७४ में उनके पिता का स्वर्गवास हो गया और वह पिता के शोक में व्यथित माता के लिए शक्ति-स्तम्भ बनी ।

अप्रैल, १८७४ मे शारदादेवी दक्षिणेश्वर लौटी । उस समय श्री रामकृष्ण आमातिसार रोग से ग्रस्त थे । अतः वह आते ही उनकी सेवा-सुश्रूषा मे लग गई । स्वामी तो स्वस्थ हो गए किन्तु सेविका स्वय अस्वस्थ हो गई । स्वस्थ होने पर वह घर लौटी । वहाँ आते ही उन्होंने पुनः रोग-शैया का आश्रय ले लिया । सभी उपचार तथा औषधियाँ निष्फल सिद्ध हुई । फलतः श्री रामकृष्ण बहुत चिन्तित और उद्विग्न हो उठे । अब शारदा माँ ने उपवास करने तथा मन्दिर में सिंहवाहिनी के रूप में देवी माँ से प्रार्थना कर उनकी अनुकम्पा और अलौकिक सहायता प्राप्त करने का निश्चय किया । उनके आश्चर्य की सीमा न रही जब उन्होंने देखा कि देवी माँ ने दो औषधियाँ बताई । एक उनकी माता को आमातिसार रोग के लिए और दूसरी स्वय उन्हें अपनी आँखों के लिए । दोनों औषधियों का यथाविधि उपयोग किया गया और उनसे लाभ हुआ ।

दिव्य माता तिल्ली बढ़ जाने के कारण पुनः रुग्ण हो गई । जब वह रोग-मुक्त हुई तो तीसरी बार जनवरी, १८७७ मे दक्षिणेश्वर गई । इसी समय श्री रामकृष्ण की माता चन्द्रदेवी की मृत्यु हो गई । शारदादेवी ने एक बार फिर दक्षिणेश्वर की यात्रा की, किन्तु इस बार वह अल्पकाल ही ठहरीं और फिर शीघ्र ही लौट आई । १८८४ और १८८५ में वह दक्षिणेश्वर फिर एक बार गई । इन यात्राओं के दौरान, एक बार जयरामबाटी मे दक्षिणेश्वर जाते हुए शारदादेवी को एक घने जंगल से गुजरना पड़ा । यह जंगल डाकुओं से भरा था । यद्यपि शारदादेवी एक दल के साथ ही यात्रा कर रही थी, परन्तु वह इतनी धीमी गति से चलतीं कि प्रायः साथियों से बिछुड़ जाती । एक बार वह उसी तरह पीछे रह गई और देखते ही देखते साथियों का समूह जब आँखों से ओझल हो गया तो शारदादेवी एक डाकू और उसकी पत्नी से मिली । भयंकर स्थिति का अनुभव करते हुए उनका शरीर भय से काँप रहा था, परन्तु वह शान्त

और दृढ़ रहीं । मार्ग भटक गई निरीह बालिका की तरह उन्होंने डाकू और उसकी पत्नी को माता-पिता तुल्य समझ कर चित्ताकर्षक मधुर स्वर से उनसे बातचीत की । उनके माधुर्य और सरलता से भक्षक डाकू इस आपत्तिग्रस्त बालिका के लिए उस भयंकर स्थान पर रक्षक बन गए । उनकी नारी-सुलभ शिष्टता और त्याग ने उनके मन में सहानुभूति उत्पन्न कर दी और वह उनके साथ दक्षिणेश्वर तक मार्ग-प्रदर्शन करते हुए गए, जहाँ वह पुनः अपने साथियों से मिल गईं । साथियों के संरक्षण में शारदा माँ को छोड़ कर दोनो डाकू ओझल हो गए ।

श्री रामकृष्ण कंठ के कैंसर रोग से ग्रस्त थे । सितम्बर, १८८५ में पहले उन्हें श्यामपुकुर और तीन मास के बाद काशीपुर लाया गया । पवित्र जननी अपने स्वामी की परिचर्या करने, भोजन बनाने तथा अन्य आवश्यकताओं को पूर्ण करने में तल्लीन हो गईं ।

जब श्री रामकृष्ण के रोग मे यथोचित औषधियों और विविध उपचारो मे कोई सुधार नही हुआ तो पावन जननी ने तारकेश्वर के मन्दिर में जाकर दिव्य शक्ति से सहायता की याचना की । उन्होंने दो दिन अनवरत निराहार रह कर उपवास किया और दैवी उपचार के लिए प्रार्थना करती रही । दूसरे दिन अर्ध-रात्रि के समय अकस्मात् एक ध्वनि माँ को सुनाई दी । इस ध्वनि को सुनकर वह आश्चर्य-चकित रह गईं । एकदम उनके मस्तिष्क में यह विचार विद्युत-सा चमक उठा—"संसार में कौन किसका पति और कौन किसकी पत्नी है ? मेरा कौन सम्बन्धी है । मैं अपने आपको क्यों निरर्थक नष्ट करने पर तुली हुई हूं ।" उनका कहना है कि "इस विचार से स्वामी के प्रति मेरा मोह जाता रहा और मेरा मन पूर्ण विराग से परिपूर्ण हो गया ।" दूसरे दिन प्रातः ही मेरे काशीपुर लौटने पर स्वामी ने मुझसे पूछा—"क्या आप को कुछ प्राप्त हुआ ? यथार्थ में सब माया है । क्या मै सत्य नही कह रहा ?"

स्वामी ने स्वप्न में देखा कि एक हाथी उनके लिए औषधि लेने बाहर गया है और औषधि पाने के लिए भूमि खोद रहा है । पवित्र मां ने एक स्वप्न देखा जिसमें उन्हें देवी माता काली की प्रतिमा की गर्दन एक ओर झुकी हुई दृष्टिगत् हुई । इस दृष्य का वह इस तरह वर्णन करती है—'मैने पूछा—मां, तुम्हारी गर्दन झुकी हुई क्यों है ?" तो मां ने श्री रामकृष्ण की गर्दन की ओर संकेत करते हुए कहा—"मेरे गले में भी कैंसर की पीड़ा हो रही है ।"

१६ अगस्त, १८८६ को श्री रामकृष्ण परमहंस ने इह-लीला समाप्त की । माँ का हृदय शोक और निराशा से पूरित था । अन्त्येष्टि क्रिया के बाद जब पावन

जननी हिन्दू विधवाओं की तरह अपने आभूषण उतारने लगी तो उन्हें ऐसी अनुभूति हुई कि उसके स्वामी (रामकृष्ण) प्रत्यक्ष खड़े हैं और कह रहे हैं—"यह तुम क्या कर रही हो ? मैं तुम से विलग नही हुआ, मुझे केवल एक कमरे से दूसरे कमरे में गया हुआ समझो" इस साक्षात्कार से पवित्र माता शारदा को बड़ी सान्त्वना मिली।

तीर्थ-यात्रा

स्वामी के स्वर्गारोहण के दो सप्ताह बाद पावन जननी ने उत्तरी भारत की ओर तीर्थ-यात्रा प्रारम्भ की। ये यात्री कलकत्ता से ३० अगस्त, १८८६ को चले। माँ के साथ दो महिला अनुयायी—रामकृष्ण की भतीजी लक्ष्मी दीदी और गोपाल माँ; तीन अन्य मठों के अनुयायी, जो कालान्तर में स्वामी योगानन्द, स्वामी अभेदानन्द और स्वामी अद्भुतानन्द के नामों से प्रसिद्ध हुए, और दो घरेलू अनुयायी महेन्द्रनाथ गुप्त तथा उसकी पत्नी थे।

यह मण्डली मार्ग में देवघर और वाराणसी रुकी। वाराणसी में श्री विश्वनाथ के मन्दिर में सन्ध्या-पूजा में मण्डली सम्मिलित हुई, तो पावन जननी परमानन्द की अवस्था में थी। उन्होंने रामायण के नायक भगवान राम की नगरी अयोध्यापुरी के भी दर्शन किए। रेल द्वारा वृन्दावन की पवित्र भूमि को लाँघते हुए माँ की आँख लग गई। उनकी उभरी हुई भुजा पर रामकृष्ण का रक्षा-कवच बँधा था। स्वप्नावस्था में मां के सम्मुख उसके स्वामी प्रकट हुए, जिसका वर्णन उन्होंने इन शब्दों में किया है :—

"मैंने उन्हे रेल के डिब्बे की खिड़की मे देखा। वे चेतावनी दे रहे थे—'देखो, तुम्हारे पास मेरा सोने का रक्षा-कवच है—उसे खो मत देना'।" यह चेतावनी सुनते ही माँ की आँख खुल गई। उन्होंने तत्काल उस कवच को उतार कर उस डिब्बे में सुरक्षित रख दिया जिसमें रामकृष्ण का चित्र रखा हुआ था। बाद में जब वह कलकत्ता लौटी, तो उस कवच को बेलूर[1] मठ को सौंप दिया।

वृन्दावन में पावन जननी की अवस्था अपने प्रियतम कृष्ण के विरह में तड़पती राधा की-सी थी। इस वातावरण में माँ की अपने दिव्य आराध्य को पाने की चिर अभिलाषा और तीव्र इच्छा इतनी हृदय-विदारक रूप धारण कर गई थी कि वह प्रायः अश्रुधारा बहाती दीखती। उनकी इस मानसिक

[1]बेलूर का मठ, स्वामी विवेकानन्द ने गंगा के तट पर स्थापित किया था। रामकृष्ण को समर्पित इस मन्दिर में ही उनके अवशेष सुरक्षित रखे गए हैं।

स्थिति में स्वामी रामकृष्ण साक्षात् प्रकट होकर सान्त्वना देते—"आप इतना रोती क्यों है ? मैं कहीं चला तो नही गया, केवल इतना अन्तर है कि मैं एक कमरे से दूसरे कमरे में चला गया हूं । (केवल कायापलट हुआ आत्मा तो सदैव तुम्हारे पास है) ।"

वृन्दावन में पावन जननी का जीवन, गहन तल्लीनता, अनवरत प्रार्थना और गहन अनुभवो का था । कालाबाबू के घर मे रहते हुए उन्होंने वह असन्तुष्ट चेतना, जिसे निर्विकल्प समाधि कहते है, प्राप्त की । यही उन्होंने पहली बार गुरु रूप में शिक्षा देनी प्रारम्भ की और वह भी अति उत्तम ढंग से । योगेन (जो बाद मे स्वामी योगानन्द कहलाए) को श्री रामकृष्ण तान्त्रिक विद्या की दीक्षा नही दे सके थे अतः वह तीन रात तक निरन्तर माँ के सम्मुख प्रकट होते रहे और उन्होंने आदेश दिया कि वह योगेन को दीक्षा दे । उन्होंने वह मन्त्र भी बताए जो योगेन को सिखाए जाएँ । फिर स्वामी योगेन के सम्मुख प्रकट हुए और उसे पवित्र माता से दीक्षा प्राप्त करने का आदेश दिया । अतः यथाविधि पूजा आदि के साथ दीक्षान्त-उत्सव पूरा हुआ । पावन जननी पूजन के बाद समाधिस्थ हुईं और योगेन को दीक्षा दी । अब भक्त मण्डली वृन्दावन से, कलकत्ता, अगस्त, १८८७ से पहले वापस आ गई ।

कामारपुकुर

पवित्र माँ वृन्दावन से लौट कर श्री रामकृष्ण की जन्मभूमि कामारपुकुर गईं । उनके साथ गोलाप माँ और स्वामी योगानन्द भी थे । स्वामी योगानन्द तीन दिन मे कलकत्ता लौट आए, किन्तु गोलाप माँ उनके साथ लगभग एक मास ठहरी ।

पाश्चात्य पाठक इस बात को बड़ी कठिनाई से समझ सकेंगे कि कामारपुकुर में पवित्र माँ को कगन और लाल किनारे की साड़ी पहनने के कारण ग्रामीण स्त्रियों की कितनी लाँछनाओं का लक्ष्य होना पड़ा होगा, क्योंकि हिन्दू समाज में कंगन और लाल किनारे की साड़ी विधवा के लिये वर्जित है, उन्हें तो केवल सधवा स्त्रियाँ ही धारण कर सकती हैं । पवित्र माँ को इससे वेदना-युक्त आश्चर्य हुआ । इसलिए वे उन कंगनों को उतार देना चाहती थीं, परन्तु उन्हें फिर अपने स्वामी का आभास हुआ जिसका वर्णन उन्होंने इन शब्दों में किया है :—

"एक दिन मैने बड़े आश्चर्य के साथ स्वामी को नहर की ओर से घर आते हुए देखा । उनके पीछे नरेन तथा अन्य भक्त थे । तब उन्होंने मुझसे कहा—'तुम कंगन मत उतारो । क्या तम वैष्णव तन्त्रों को जानती हो ?' मैने कहा—

'वे क्या है ? मै उनके विषय मे कुछ नही जानती।' इसपर उन्होने कहा—'गौरमणि इस मध्याह्न यहां ग्राएगी, वह इस सम्बन्ध में तुम्हें बताएगी।' उसी दिन दोपहर के बाद गौरमणि ग्राई ग्रौर मैने उससे यह सीखा कि स्त्री के लिए उसका पति चिन्मय (पवित्रात्मा) है।"

गोलाप माँ के कामारपुकुर से प्रस्थान करने के बाद से पवित्र माँ की सहायता करने वाला कोई नही रहा, जिसे वह दैनिक जीवन की ग्रावश्यक वस्तुएँ जैसे भोजन ग्रौर सब्जिया लाने के लिए कह सकती, क्योंकि वह प्रथानुसार पर्दा किया करती थी ग्रौर ग्रपने घर को नही छोड़ती थी ग्रौर न ही उनके पास ग्रपने व्यय के लिए कुछ धन था। ग्रतः उन्हे कुदाल हाथ में लेना पड़ा ग्रौर कुछ सब्जियाँ उपजाने के लिए भूमि खोदनी पड़ी। जो धान उनके गोदाम मे ग्रवशिष्ट था, उन्होंने उसमे से चावल निकाले। इससे रामकृष्ण का भोग लगाती। फिर उसे विना किसी मसाले ग्रौर कभी-कभी नमक के बिना ही खा लिया करती। श्री रामकृष्ण के गाँव में उनका पुनरागमन सुनकर उसकी विधवा माता ने उन्हें जयरामबाटी ले जाने का प्रस्ताव रखा। दिव्य माँ ने केवल एक दिन उनके साथ व्यतीत किया ग्रौर पुनः कामारपुकुर लौट ग्राईं। वह बिलकुल एकाकी[1] थी। उनका भविष्य ग्रन्धकारमय लक्षित होता था ग्रौर वह इस पर चिन्तित होने लगी। कुछ समय पश्चात् उन्होंने बताया—"कामारपकुर मे ग्रकेले रहते हुए मैंने ग्रपने विषय में विचार किया—मेरे कोई सन्तान नही है। इस ससार मे कोई ऐसा नही जिसे मै ग्रपना कह सकू। मेरा क्या होगा ?" इस ग्रवस्था मे मेरा स्वामी से साक्षात्कार हुग्रा ग्रौर उन्होने कहा—"ग्रच्छा, क्या तुम एक पुत्र चाहती हो ? मैने कई पुत्र-रत्नो को तुम्हे दे दिया है ग्रौर कुछ समय के ग्रनन्तर तुम सुनोगी कि ग्रनगिनत लोग तुम्हे माँ कहकर सम्बोधित करेंगे।" ग्रब माँ को निश्चय हो गया कि स्वामी उनसे कोई निश्चित कार्य सम्पन्न कराना चाहते हैं।

ग्रन्त मे रामकृष्ण के मठानुयायियो के पास यह सन्देश पहुँच ही गया कि पवित्र माँ को ध्यान ग्रौर ग्रवधान की ग्रावश्यकता है ग्रौर इसलिए उन्होने पवित्र माँ को कलकत्ता बुलाने ग्रौर उनकी वहाँ ठहरने की व्यवस्था करना ग्रपना ग्राध्यात्मिक कर्तव्य समझा।

१८८८ में हमें उनके जीवन ग्रौर कार्यों के दूसरे पहलुग्रों का ग्रनुभव होता है।

---

[1] कभी-कभी लाहा परिवार की प्रसन्नमयी ग्रपनी लड़की को श्री शारदा माँ के कहने पर उनके पास रात भर को रहने के लिए भेज देती थी।

इस वर्ष के बाद से वह कलकत्ता में उस घर में ठहरा करती थी जिसकी व्यवस्था उनके अनुयायियों और भक्तों द्वारा की गई थी । इसके बाद वह उस घर में जीवनपर्यन्त रहीं जहाँ श्री रामकृष्ण के दीक्षित शिष्य स्वामी शारदानन्द ने उनके रहने का स्थायी प्रबन्ध कर दिया था। यह घर 'मातृ-निवास' के नाम से प्रसिद्ध हो गया ।

तपस्या और परमानन्द

पावन जननी ने १८६३ में कठोर तप करने का निश्चय किया । यह घोर तप, जिसे पचतप[1] कहते हैं, इसलिए किया गया था कि माँ बारम्बार आत्म-अवरोधों की अनुभूति अनुभव किया करती । इन अनुभूतियों मे वह प्राय: एक साधु को देखतीं जो उन्हे पंचतप करने की प्रार्थना करता । माँ ने कई बार एक कन्या को भी देखा था । माँ को दुर्लभ अनुभूतियां होती थी । श्री रामकृष्ण की महिला अनुयायी योगीन माँ आदि इसकी साक्षी देती है । वह स्वेच्छा से शारीरिक चेतना से ऊपर उठ सकती थी। एक बार जब वह कलकत्ता मे बलरामबाबू के मकान की छत पर ईश्वरीय ध्यान मे मग्न थी, तो अचानक समाधिस्थ हो गई । उस समाधि में उन्हें एक विचित्र अनुभूति हुई, जिसका वर्णन वह निम्नलिखित शब्दो मे करती है

"मुझे ऐसा लगता था कि मै दूर देश की यात्रा करके आई हूं । उस देश में प्रत्येक प्राणी का मेरे प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार था । मेरा अपना सौन्दर्य अवर्णनीय था। मेरे स्वामी श्री रामकृष्ण भी वहाँ विद्यमान थे। लोगो ने बडे आदर और माधुर्य से मुझे उनके पास बैठाया। उस परमानन्द की अवस्था का वर्णन मेरी शक्ति से बाहर है। जब मेरा मन उस उत्कृष्ट अनुभूति से नीचे आया तो मैंने अपने शरीर को पूर्ववत् वहा स्थित पाया। अकस्मात् मेरे मन मे विचार आया कि मै कैसे इस कुरूप शरीर मे पुन: प्रवेश करूं। मै बहुत देर तक अपने मन को ऐसा करने के लिए समझा नही पाई । अन्ततोगत्वा मन मान गया और मेरा शरीर चेतनामय हुआ ।"

ऐसा ही अनुभव माँ को बेलूर मठ के निकट नीलाम्बर मुखर्जी के घर

[1]पंचतप उसे कहते है, जिसमें चार ओर तो अग्निशिखा होती है और ऊपर सूर्य के ताप को पांचवीं अग्नि समझा जाता है । इस यज्ञ और तप के दौरान में प्रार्थना और चिन्तन किया जाता है । इस तप के बाद माँ को मानसिक अस्थिरता

(जहां मां के रहने की व्यवस्था की गई थी) हुआ था। इस अनुभूति में उन्हें शारीरिक चेतना पाने में बहुत समय लगा था। जब उन्हें यह अवस्था आनी शुरू हुई तो मां ने कहना आरम्भ किया—"ओह योगीन! मेरे हाथ-पांव कहां हैं?" योगीन मा ने, जो मां के साथ ही ध्यान-मग्न थी, यह सुनकर उनके शरीर के अंगों को बार-बार छूकर बताया—"मां, तुम्हारे हाथ-पांव यहां हैं।" जो कुछ भी हो पावन जननी को पूर्ण शारीरिक चेतना पाने में बहुत समय लगा।

जैसे-जैसे पवित्र माता की आध्यात्मिक महानता की ख्याति बढ़ती गई उनके भक्तों की संख्या भी बढ़ती गई। अब बहुत-से लोग माता के दर्शन, निर्देशन और आध्यात्मिक दीक्षा के लिए दिन प्रतिदिन आने लगे।

घरेलू जीवन

पावन जननी की मां, श्याम सुन्दरी ने १९०६ में स्वर्गारोहण किया और अब मां ही घर में सब से बड़ी थीं। उनके चार भाई थे जिनमें अभयचरण कनिष्ठ और सबसे अधिक प्रतिभाशाली था। दुर्भाग्यवश डाक्टरी परीक्षा में उत्तीर्ण होने के थोड़े समय के बाद ही १८९९ में उसको असमय में ही काल ने ग्रस लिया। उसके बाद उसकी विधवा सुरबाला रह गई जिसे वह पवित्र मां के सान्निध्य में छोड़ गया था। सुरबाला अपने पति की अकाल मृत्यु के शोक के कारण उन्मत्त हो गई। १९०० में पति की मृत्यु के बाद उसने एक पुत्री को जन्म दिया जिसे राधारानी या प्यार से राधू कहकर पुकारते थे। दिव्य मां को राधू से अनन्य स्नेह था क्योंकि उसकी रुग्ण और उन्मत्त मां उसकी उचित देखभाल नहीं करती थी। मां ही उसके लिए माता के अभाव की पूर्ति करती थी। वह छोटी लड़की और उसकी मां शारदादेवी के लिए सदैव चिन्ता और कष्ट का विषय बनी रहीं और कई बार उन्हें अप्रिय व्यवहार भी सहना पड़ा था लेकिन मां के हृदय में एक क्षण के लिए भी बालिका तथा उसकी मां के लिए प्रेम कम नहीं हुआ। वह यह कहकर अपने मन को सान्त्वना देती—"सम्भवतः मैंने शिवजी की पूजा कण्टकाकीर्ण बिल्वपत्रों से की है इसीलिए ऐसे कण्टक मेरे जीवन में हैं।"

यदि राधू की मां शूल थी तो बड़ी होने पर राधू उससे कोई कम चुभने वाला कांटा प्रमाणित नहीं हुई। वह शरीर और मस्तिष्क दोनों से दुर्बल थी। वह विकृत प्रवृत्ति की और भयंकर रूप से हठीली थी। वह अपनी यशस्वी और तेजस्विनी बुआ से स्नेह और प्यार पाकर उद्दण्ड हो गई। जून, १९११ में पवित्र मां ने उसके विवाह की व्यवस्था की। वर्षों बीत जाते थे पर वह अपने पति-गृह नहीं जाती थी।

देहावसान के पश्चात मुझे जीवन में कुछ भी न भाता था। मैं भौतिक पदार्थों से पूर्णतया विमुख हो गई थी और प्रार्थना करती थी कि मैं इस संसार में रह कर क्या करूंगी। उस समय मैंने एक दस या बारह वर्ष की बालिका को देखा जिसने रक्तवर्ण के वस्त्र धारण कर रखे थे और जो मेरी ओर चली आ रही थी। स्वामी ने उसकी ओर संकेत करके मुझसे कहा—'इस निरीह प्राणी का आलिंगन कर इसको सहारा दो। बहुत से बालक (अनुयायी) तुम्हारे पास आएंगे।' इतना कह कर वे तत्क्षण अन्तर्धान हो गए। मैंने बालिका की ओर अधिक देर तक नहीं देखा। तत्पश्चात् मैं उसी स्थान पर बैठ गई (जयरामबाटी के अपने घर में)। उस समय राधू की माता बिलकुल पागल थी। वह कुछ चिथड़ों को अपनी भुजा में दबाए खड़ी थी और राधू रोते-रोते उसके पीछे चल पड़ी। यह देखकर मेरे हृदय में विचित्र स्पन्दन हुआ। मैं एकदम भाग कर राधू के पास गई और मैंने उसे अपनी भुजाओं में उठा लिया। मैंने अपने आप से कहा—"ठीक है, यदि मैं इस बालिका की देख-भाल न करूं तो कौन करेगा। इसके पिता नहीं है और इसकी माँ पागल है।' "मैंने बालिका को भुजाओं में अभी उठाया ही था कि मुझे स्वामी के दर्शन हुए। उन्होंने कहा—"यह वही कन्या है। इसे ही अपना सहारा समझो। यह मायावी शक्ति योगमाया है।"

पवित्र जननी स्वयं कहा करती थी—"देखा, मेरा राधू के प्रति मोह एक मतिभ्रम है जो मैंने स्वयं अपने ऊपर ले रखा है।" कभी-कभी वह कहा करती—"मेरा मन राधू के प्रति किंचिन्मात्र भी नहीं है, मैं बरबस मन को इस ओर लगाती हूं। मैं स्वामी से प्रार्थना करती हूँ कि, हे भगवान्! मेरा मन थोड़ा-सा राधू के प्रति आकर्षित करो अन्यथा कौन उसकी देखभाल करेगा।"

निस्संदेह दिव्य माता का चित्त राधू के कारण उत्पन्न व्याकुलताओं के होते हुए भी सदैव ईश्वर में आसक्त रहता। एक सामान्य नर अथवा नारी, जो अपने सम्बन्धियों में आसक्त हो, वह युवा हो या वृद्ध, बाल्यकाल में हो या बड़ी आयु में, मृत्यु के समय अपने इष्ट जनों की वेदना को नहीं सह सकता; लेकिन पवित्र माता, जो राधू को बहुत चाहती थीं, अपने सेवकों को बारम्बार राधू और उसकी चचेरी बहनों को वापस जयरामबाटी भेजने के लिए कहतीं? जब माँ के पास शिशु उनके शयन-कक्ष के समीप आते तो वह उन्हें यह कहते हुए अपने से दूर ले जाने को कहतीं कि उन्होंने अपना मन एकबारगी इन सबसे हटा लिया है इसलिए उनकी उपस्थिति वांछनीय नहीं है।

गुरु के रूप में

श्री रामकृष्ण परमहंस के बाद पवित्र माँ शारदा का ही ऐसा महान् व्यक्तित्व कहा जा सकता है जिसे इस मत और मतानुयायियों से सर्वोच्च सम्मान प्राप्त हुआ। वही उनकी प्रथम शिष्या थी, जिससे उन्होंने तादात्म्य प्राप्त किया। उनका आदेश था कि उनके निर्वाण के पश्चात् पावन जननी उनके कर्त्तव्योद्देश्य का प्रचार करें। अपने शिष्यों से उन्होंने यह चाहा कि वे उनमें और दिव्य माता में कोई भेद न समझें। उनकी आध्यात्मिक उपस्थिति और अलौकिक शक्ति माँ द्वारा प्रतिभासित हुई और पवित्र माँ उनकी मृत्यु के बाद गुरु बनने के पूर्णतया योग्य थी। गुरु होना एक महान् दायित्व है किन्तु पवित्र जननी जब भी किसी को दीक्षा देने का कार्य सम्पन्न करतीं तो उनमें गुरु-पद की भावनाओं की पूर्ण स्वीकृति का आभास मिलता। वह प्रायः कहती—

गुरु की "शक्ति मन्त्र द्वारा शिष्य तक पहुंचती है। यही कारण है कि गुरु, सस्कार करते अथवा दीक्षा देने के समय शिष्य के सारे पापों को अपने ऊपर ले लेता है और शारीरिक व्याधियों से अत्यन्त पीड़ित होता है। गुरु होना अत्यन्त कठिन है क्योंकि उसे शिष्य के पापों का दायित्व संभालना पड़ता है। वह उनसे प्रभावित होता है। तो भी एक अच्छा शिष्य गुरु की सहायता करता है। कुछ शिष्य शीघ्र उन्नति करते हैं और कुछ धीरे-धीरे। वह व्यक्ति की मानसिक प्रवृत्तियों पर निर्भर है जो वह पूर्वकृत कर्मों से प्राप्त करता है।"

उनका वात्सल्य और माधुर्य प्रत्येक प्राणी के लिए समान था। व्यक्तिगत व्यथा मां के सामने जिज्ञासु भक्त को आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शन करने में बाधा बनकर नही आई। एक बार रामकृष्ण के एक महान् अनुयायी स्वामी प्रेमानन्द ने कहा—"वह विष जिसका हम पान नही कर सके, उसे पवित्र मां के पास भेज रहे हैं। वह प्रत्येक के पापों को अंगीकार करके उसे पचाती हुई उन्हें शरण दे रही हैं।" मंगलवार और शनिवार के दिन (जब वह अपने कलकत्ता के घर में रह रही थीं) सैकड़ों अनुयायी और भक्त उनके सम्मुख मस्तक झुकाते और उनके चरणों का स्पर्श करते। वे तब अपने शरीर में परार्थकृत वेदना के कारण तीव्र जलन की अनुभूति करतीं। अतएव वे अपने पैरों का बारम्बार गंगाजल से प्रक्षालन करतीं। ऐसा करने से उन्हें बहुत आराम मिलता था। जब रामकृष्ण की एक स्त्री-अनुयायी ने माँ को ऐसा न करने को कहा और चेतावनी दी कि इससे नजला हो जाएगा, तो पवित्र जननी ने उत्तर दिया—

"योगीन ! मैं तुमको किस प्रकार इसकी व्याख्या करके बताऊँ ? कुछ लोग मेरे पैर छू लेते हैं जिससे मेरे अन्दर एक अद्भुत आनन्द की लहर व्याप्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी लोग हैं जिनके स्पर्श से मेरे शरीर में एक भयंकर-सी जलन होने लगती है। मुझे हड्डे के दंशन की-सी पीड़ा की अनुभूति होती है। गंगाजल के प्रयोग के पश्चात् ही मुझे उस पीड़ा से मुक्ति प्राप्त होती है। एक बार मेरी एक शिष्या की अनुपस्थिति में, जो मेरी सेवा में संलग्न रहती थी, एक पुरुष यहाँ आया। कुछ दूर से उसे देख कर मैं अपने कमरे के भीतर चली गई और मैंने अपने बिस्तर पर आसन लगा लिया. वह पुरुष मेरे पाँवों का स्पर्श करके मेरा अभिवादन करने का इच्छुक था। मैंने उसे वैसा करने से रोका और स्वयं को और भी पीछे सिकोड़ लिया। मेरे मना करने पर भी वह नहीं माना। उस समय से पाँवों और उदर में असहनीय पीड़ा के कारण मैं जीवन और मृत्यु के बीच झूलती रही हूँ। मैंने अपने पाँवों को तीन-चार बार धोया किन्तु फिर भी मैं उस जलन से मुक्ति नहीं पा सकी हूँ।"

यद्यपि पावन जननी जानती थी कि उन्हें अपने शिष्यों के पापों का फल उनके स्थान पर स्वयं झेलना पड़ेगा तो भी वे उन्हें माँ के वात्सल्य से वंचित नहीं रख सकती थी।

एक बार जब एक शिष्य उनके चरण स्पर्श करने से इसलिए हिचकिचाया कि वैसा करने से कहीं उन्हें कष्ट न पहुंचे, तो उन्होंने कहा—"नहीं, मेरे बच्चे ! इसी उद्देश्य को लेकर हमारा जन्म हुआ है। यदि हम दूसरों के अपराधों, पापों और पीड़ाओं को सहन नहीं कर सकते और हम उनका उन्मूलन नहीं कर सकते तो ऐसा और कौन करेगा ? उन पापात्माओं और पीड़ितों का उत्तरदायित्व फिर और कौन सम्भालेगा ?" माता की अन्तिम व्याधि में जब कि उनकी काया बहुत क्षीण हो चुकी थी और जब वह बिना किसी की सहायता के उठ भी नहीं सकतीं थीं, तो वैरागी शिष्य, माँ के दुःखों और पीड़ाओं की परस्पर चर्चा कर रहे थे, जो माँ ने अपने जीवन में झेली थीं। उनमें से एक ने कहा—"यदि माँ इस बार रोग-मुक्त हो जाती है तो हम उन्हें इस बात के लिए कहेंगे कि वे अब किसी को भी दीक्षा न दें। उनके रोगों और पीड़ाओं का मुख्य कारण यही है कि उन्होंने कितने ही प्रकार के लोगों के पापों को आत्मसात् कर लिया है।" यह सुनते ही पवित्र माँ के होठों पर मुस्कराहट आ गई और उन्होंने कहा—"तुम ऐसा क्यों कहते हो ? क्या तुम यह सोचते हो कि स्वामी केवल रसगुल्ले खाने के लिए यहाँ आए थे ?" एक बार माँ ने अपने एक शिष्य से कहा—"जो व्यक्ति मेरे पास आते

हैं उनमें से अधिकांश अपने जीवन से ऊब चुके होते हैं। किसी भी प्रकार का पाप उनसे छूटा नहीं रहता। परन्तु अब जब वह मेरे पास आते हैं और मुझे माँ कह कर सम्बोधित करते है, तो मैं सब कुछ भूल जाती हूं और वे इतना पा जाते हैं जितने के वे अधिकारी भी नहीं होते!"

माँ का आतिथ्य

पवित्र माता का आतिथ्य अद्वितीय था। माँ की-सी सावधानी और चिन्ता उनका एक विशिष्ट स्वभाव था। जिन लोगो को उनके यहाँ जाने का सौभाग्य प्राप्त था वे जितना समय भी वहाँ ठहरते, उनका अतिथि-सत्कार ग्रहण किए बिना नहीं आ सकते थे। यदि उनकी सेवा में संलग्न शिष्या को किसी कार्यवश समीप के गांव में जाना पड़ता और वह देर से लौटती तो माता जी निश्चित समय पर भोजन न खा कर उसकी प्रतीक्षा करती! जब कभी भी उनके श्रद्धालु, 'जयरामबाटी' गाँव वाले घर पर उनके पास आते तो वह उन्हें दो-चार दिन वहाँ रुक कर विश्राम करने का आग्रह करती। वे जानती थी कि लोगों को जयरामबाटी पहुँचने में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। वे कहा करती कि गया अथवा बनारस की यात्रा करना सरल है किन्तु इस स्थान की नही। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में माँ के भक्तों की संख्या, जो उनके कलकत्ते वाले निवास स्थान पर उनका दर्शन करने जाते थे, इतनी अधिक हो गई थी कि वे इतनी भीड़भाड़ से बहुत थक गईं और शांतिपूर्वक विश्राम करने के लिए अपने गाँव वाले घर चली गई। परन्तु वहाँ भी पावन जननी के श्रद्धालु कलकत्ते से आया करते थे। उनमें से कुछ ऐसे भी थे जो बिना किसी पूर्व सूचना के समय-कुसमय पहुँच जाते। उन सबको ठीक वैसा ही स्नेहपूर्ण और हार्दिक आतिथ्य प्राप्त होता था।

माँ की शक्तियाँ

पवित्र माता केवल इच्छा शक्ति से ही कुपथगामियों को कुपथ से विमुख करने की शक्ति रखती थीं। इसी शक्ति से उन्होंने एक पुराने मदिरासेवी को इस दुष्ट व्यसन से मुक्त कराया। उन्होंने एक लड़की के मन को परिवर्तित किया जो, एक युवक को पाप की ओर प्रवृत्त करने का प्रयत्न कर रही थी। इसके अतिरिक्त माँ ने एक युवती पत्नी को पवित्र जीवन-यापन के लिए प्रेरित किया, जोकि इस निराशा में कि उसका पति त्याग और उत्सर्ग का जीवन

व्यतीत करने लगा है, अपने जीवन का नाश कर रही थी[1]। कुछ भक्तों को माँ के सम्पर्क में आने के बाद अध्यात्म सम्बन्धी अनुभव हुए। यद्यपि कुछ व्यक्तियों ने माँ के दर्शन तो क्या उनका चित्र तक न देखा था, तो भी उन्होंने स्वप्न में उन्हें मानव शरीर धारण किए हुए एक देवी के रूप में देखा। कुछ भक्तों ने स्वप्न में पूर्ण रूप में अथवा आंशिक रूप में उनसे दीक्षा ली और जब वास्तव में उन्होंने उनसे दीक्षा देने के लिए याचना की तो क्या देखते हैं कि पावन माँ ने वही मन्त्र दिए जो उन्होंने स्वप्न में उनसे लिए थे। बँगला नाटक के जन्म-दाता गिरीशचन्द्र घोष ने पावन जननी के दर्शन, स्वप्न में तब किए जब वे केवल १९ वर्ष के थे। जब काफी वर्षों के पश्चात् वे माँ से मिले तो यह देख कर उनके आश्चर्य की सीमा न रही कि उन्हें तो वे पहले स्वप्न में भी देख चुके हैं। वह अपना जीवन बहुत सादगी से व्यतीत करती थी और नितान्त साधारण महिला की भाँति दीखती थीं।

दीक्षित करने के अतिरिक्त वह मन्त्रों के आध्यात्मिक अर्थ भी स्पष्ट करती थी और श्री रामकृष्ण मत से अनभिज्ञ छात्रों को ब्रह्मचर्य और सन्यास की शपथों के गूढ़ अर्थ भी समझाती थी। ब्रह्मचारिणी को श्वेत वस्त्र और सन्यासी को गेरुए रंग में रंगे वस्त्र, कल्याण और आशीर्वाद के रूप में देती।

दूसरी बार तीर्थ-यात्रा

सन् १८८८ में पवित्र माँ स्वामी अद्वैतानन्द जी के साथ गया की यात्रा को गईं। वहा जाकर उन्होंने रामकृष्ण की माँ की याद में उनके दाह संस्कार के मंत्रों का पाठ किया। माँ ने बौद्ध गया की भी यात्रा की। उसी वर्ष पुरी के विशाल और विराट् मन्दिर की यात्रा का भी सौभाग्य उन्होंने प्राप्त किया। गया और पुरी वह इसलिए गईं कि स्वामी रामकृष्ण ने उनकी यात्रा नहीं की थी और यात्रा न करने का प्रमुख कारण यह था कि सम्भव है वहाँ वह दैवी हर्षोन्माद में इतने अधिक उन्मत्त हो जायें कि उनके हृदय की गति सदा के लिए बन्द हो जाए।

१८९४ ई० में माँ ने दूसरी बार बनारस और वृन्दावन की यात्रा की। १९०१ में वह फिर पुरी गईं। १९१० में ब्रह्मपुर रुकती हुई वह रामेश्वर के लिए चल पड़ी। मद्रास में लगभग एक मास रुकी और वहां कई लोगों को दीक्षित किया। वहाँ पर पर्याप्त संख्या में शिक्षित स्त्रियों को देखकर

[1]पुण्यात्मा माँ श्री शारदा देवी : रामकृष्ण मठ, मयलापुर, मद्रास।

बहुत प्रसन्न हुईं। रामेश्वर जाते हुए वे मदुरा रुकीं और उन्होंने नगर के दिव्य देवी माता के मन्दिर की भी यात्रा की। रामेश्वर में राजा रामनाड की ओर से, जोकि स्वामी विवेकानन्द के बहुत बड़े प्रशंसक थे, माँ के पूजा-पाठ के लिए विशेष सुविधाओं की व्यवस्था की गई? उससे पूर्व और पश्चात् किसी भी तीर्थ यात्री को इस प्रकार की सुविधाएँ नही प्राप्त हुईं। रामेश्वरम् से वह बंगलौर गईं। कलकत्ता लौटते हुए वह एक दिन के लिए राजामुन्दरी रुकी और पवित्र नदी गोदावरी में उन्होंने स्नान किया। कुछ दिन वह पुरी भी रुकीं और अप्रैल, १९११ मे वे कलकत्ता पहुँचीं।

नवम्बर, १९१२ में वह तीसरी बार बनारस गईं और इस पवित्र नगरी मे ढाई मास रुकीं। वे प्रसिद्ध चमेली पुरी से भी मिली जो रामकृष्ण के गुरु तोतापुरी का शिष्य भाई था और जिसकी आयु तब सौ वर्ष से भी अधिक थी। उन्होंने लौटने से पूर्व सारनाथ को भी देखा।

कलकत्ते में पवित्र माँ का घर

मई, १९०९ मे माँ कलकत्ते मे बने पवित्र माँ[1] के मन्दिर मे चली गईं। वहाँ रहते हुए उनके पास श्री रामकृष्ण की कुछ शिष्याएँ भी आकर ठहरती थी जिनमे से योगीन माँ, गोलाप माँ, लक्ष्मी दीदी और गौरी माँ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। गौरी माँ कुवारी थी, और शेष सब विधवा। वे सब बहुत पवित्र जीवन व्यतीत करतीं और उन सबने पूजा और सेवा का व्रत ले रखा था। श्री रामकृष्ण के कुछ शिष्यों जैसे श्री बलराम बोस, महेन्द्रनाथ गुप्त आदि, की पत्नियाँ माता जी के पास आती थीं और उन्हें अपने घर निमंत्रित भी करती थी।

अन्तिम दिन

जनवरी, १९१९ में पावन जननी 'जयरामबाटी' गईं और वहाँ एक वर्ष से भी अधिक ठहरीं। जयरामबाटी-वास के अन्तिम तीन महीनों में माँ का स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। दिसम्बर, १९१९ में जब कि माँ का जन्म-दिवस था, उन्हें काले ज्वर ने धर दबाया और उसके पश्चात् तो वह प्रायः ज्वर से पीड़ित रहने लगीं। माँ की शक्ति बहुत क्षीण हो चुकी थी, इसलिए स्वामी शारदानन्द ने

---

[1] रामकृष्ण मत के प्रकाशन केन्द्रों में से यह एक है, और यह उद्बोधन कार्यालय के रूप में भी जाना जाता है। उद्बोधन नाम की एक पाक्षिक बंगाली पत्रिका यहां से प्रकाशित होती है।

२७ फरवरी, १६२० मे उन्हें कलकत्ता वापस लाने का प्रबन्ध किया। माँ की दशा उस समय बहुत दयनीय थी और वह हड्डियो का ढाँचा दीखती थीं, जो कि एक पतली-सी झिल्ली से ढका था। वह एकदम कालिख की भाँति काली हो गई थी। अगले पाँच महीने वह इसी प्रकार कष्ट सहती रही। कभी-कभी माँ का ज्वर १०३ डिग्री तक पहुँच जाता था और पूरे शरीर में एक तीव्र-सी जलन होती, जिससे उन्हें बड़ा कष्ट होता था।

मृत्यु से एक महीना पहले पवित्र माता ने अपने कमरे से श्री रामकृष्ण का चित्र उतरवा कर दूसरे कमरे मे लगवाया और अपना बिस्तर भूमि पर लगवाया। स्वास्थ्य की इतनी दीन-हीन अवस्था मे भी वे जो कुछ खातीं, खाने से पूर्व अपने स्वामी को उसका भोग अवश्य लगाती। मृत्यु के कुछ दिन पूर्व माँ ने अपने मन को राधू और राधू के छोटे बच्चे की ओर से, जो उन्हें बहुत प्रिय थे, हटा लिया। स्वामी शारदानन्द और अन्य भक्तों को उस समय यह ज्ञात हो गया कि अब माताजी अधिक जीवित नहीं रहेंगी।

रक्ताल्पता के कारण उनकी टाँगों में सूजन आनी शुरू हो गई और इस सूजन के कारण वह अपने बिस्तर से भी नही उठ सकती थी। अन्तिम क्षणों से कुछ दिन पूर्व एक स्त्री ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया और यह कहती हुई सुबक पड़ी कि—"माता जी, आपके बाद हम पर क्या बीतेगी?" पवित्र माता ने कठिनाई से सुनाई देने वाली धीमी आवाज मे उसे सान्त्वना दी और कहा—"तुम क्यो डरती हो— तुमने स्वामी जी को देख लिया है।" कुछ क्षण रुकने के पश्चात माँ ने फिर कहा—"लेकिन मैं तुम्हें एक बात बताती हूँ कि यदि तुम मन की शांति चाहती हो तो दूसरों के दोषों की ओर दृष्टिपात मत करो। अच्छा है कि तुम अपने ही दोषों को देखो। सारे विश्व को अपना बनाना सीखो, मेरी बच्ची, इस संसार में कोई भी पराया अथवा अजनबी नही है। यह पूरा संसार तुम्हारा अपना है।" शायद इन शब्दों में समस्त विश्व के लिए उनका अन्तिम सन्देश भी छिपा हुआ है।

अपने जीवन के अन्तिम तीन दिन वह एकदम शान्त थी। उन्होंने एक बार स्वामी शारदानन्द को बुला कर कहा "शरत्, मैं जा रही हूँ। योगीन, गोलाप तथा अन्य सब यहाँ हैं। इनकी देख-भाल करना।"

२० जुलाई, १६२० को परमानन्द की अन्तिम अनुभूति के बाद वह रात में डेढ़ बजे निर्वाण को प्राप्त हुई। उनका शव बेलूर मठ में लाया गया। और अन्तिम संस्कार वहीं किया गया। कई हजार व्यक्ति, भक्त तथा श्री रामकृष्ण के शिष्य वहाँ उपस्थित थे।

माँ की आध्यात्मिक महानता

पावन जननी का सरल और आडम्बर रहित जीवन इतना गम्भीर है कि उसकी असाधारण प्रवृत्ति को साधारण प्रशंसा की सीमा मे नहीं बाँधा जा सकता। काल की दृष्टि से वह हमारे बहुत निकट थीं। साधारणतः प्राचीन काल के सन्तों और महात्माओं के नाम के साथ प्राचीनता के कोहरे में अनेक उपाख्यान और परम्पराएँ घनीभूत हो जाती है लेकिन शारदा देवी के सम्बन्ध में हमें जो कुछ ज्ञात है वह इस प्रकार के उपाख्यानों और परम्पराओ द्वारा संग्रहीत नहीं। संसार ने ऐसी अन्य स्त्रियाँ नहीं देखीं जो इस पावन जननी की भाँति अपने पति के सँग रही हों। किसी भी अन्य स्त्री का जीवन माँ के समान नही है। पावन जननी निरन्तर इष्टदेव की आराधना मे तन्मय रही और उनकी आध्यात्मिकता इतनी गहन और गम्भीर थी कि माँ का बाह्य जीवन उतना ही साधारण नारी की भाँति दीख पड़ता था। शारदा देवी इतनी सात्विक, शांत और उज्ज्वल-आत्मा थी कि उनमें उनकी आध्यात्मिक शक्ति और महानता का बाह्य प्रदर्शन अशमात्र भी न था। श्री रामकृष्ण और उनके शिष्य तो उन्हें स्वयँ ही मूल शक्ति मानते है, जिन्हें दिव्य जननी कहा जाता है। एक बार श्री रामकृष्ण ने कहा "कोई प्राणी जो पवित्र जननी के सम्पर्क में निवास करता है, यदि कभी किसी कारणवश उनके क्रोध का पात्र बन जाता है तो उसकी रक्षा करना मेरी शक्ति से बाहर है।" "माँ का व्यक्तित्व भारतीय नारी के सर्वगुणादर्श, सहिष्णुता और कर्मण्यता से सार्वभौमिक गौरव ग्रहण किए हुए है।"[1] सामाजिक दृष्टि से शारदा देवी न पत्नी थीं और न जननी ही, फिर भी वह एक अन्य और ऊँचे अर्थ में जननी थीं। वह ईश्वरीय शक्ति का पुजीभूत प्रकाश थीं। भारतीय नारीत्व उनमें अपने शुद्ध भारतीय चरित्र के साथ पूर्णतः विद्यमान ही नहीं अपितु अवतरित था और संसार भर में वह उनकी महत्ता को सिद्ध करता है। जब हम उन्हें स्मरण करते है, तो हम ईश्वर को ही दैवी जननी के रूप में स्मरण करते हैं; पवित्र जननी और ईश्वर अभिन्न हैं।

उनकी शिक्षाएँ

कोई भी व्यक्ति पवित्र जननी की जीवनी का अध्ययन करने के पश्चात् यह स्वीकार किए बिना नहीं रहता कि स्वयँ परमात्मा उनके हृदय में निवास करता था।

---

[1] डा० एस० राधाकृष्णन्: 'ग्रेट वोमेन ऑफ इंडिया' (अद्वैत आश्रम, कलकत्ता) की भूमिका में।

उनकी शिक्षाएँ किसी विद्वान अथवा प्राज्ञ की शिक्षाएँ नहीं हैं अपितु परिज्ञाता की अभिव्यक्ति है। उनके अनुभवों के प्रतिफल के रूप में वे शिक्षाएँ विश्वगुरु की-सी अटूट शक्ति रखती। जितना भी हम उन पर विचार और मनन करते हैं, हृदय में उतनी ही सर्वज्ञता और मन में शांति अनुभव होती है। नीचे हम उनकी शिक्षाओं का कुछ संकलन प्रस्तुत करते हैं, जो पाठक को उनकी आत्मा के सौन्दर्य की एक झलक प्रदान करते हैं :—

आध्यात्मिक अभ्यास

१. यदि तुम परमात्मा की पूजा नहीं करते तो इससे परमात्मा के लिए कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह केवल तुम्हारा ही दुर्भाग्य होगा।

२. दिन और रात की संधि-वेला प्रभु के स्मरण करने का सबसे पवित्र समय होता है क्योंकि इसी समय मन पवित्र होता है।

३. मन्त्र, शरीर को पवित्र करता है। मनुष्य, प्रभु के नाम को रटने से पवित्र होता है। अतः सदैव उसके नाम का जाप करो।

४. ध्यान करने का अभ्यास करो। शनैः-शनैः तुम्हारा मन इतना शांत और पवित्र हो जाएगा कि तुम्हारे लिए ईश्वर से मन हटाना कठिन हो जाएगा।

५. अतीत के कर्मों से मनुष्य कभी विमुक्त नहीं हो सकता, लेकिन यदि किसी मनुष्य का जीवन प्रार्थनामय है तो इससे उसे अपने पूर्व कर्मों से प्राप्त होने वाले रोग का घाव केवल काँटे की चुभन के रूप में ही प्राप्त होगा।

६. निस्संदेह, तुम्हें कर्म करना चाहिए। कर्म मन को भटकने से बचाता है। लेकिन ध्यान और प्रार्थना भी आवश्यक हैं। तुम्हें अवश्य ही कम से कम एक बार प्रातः-सायं ध्यान में बैठना चाहिए। ध्यान नौका की पतवार के समान है। जब तुम सान्ध्य वेला में ध्यानावस्थित होते हो, तो तुम दिन भर के कर्मों का प्रत्यावलोकन करने का अवसर प्राप्त करते हो।

७. साधारण मानवीय प्रेम का परिणाम दुःख है। ईश्वर में किया गया प्रेम आनन्दप्रद है।

८. जीवन में ठोकरें खाने के पश्चात् प्रभु का नाम अनेक लेते हैं। परन्तु जो बचपन से ही एक फूल के समान अपने मन को प्रभु के चरणों में चढ़ा देते हैं, वही सुखी हैं।

९. अविवाहित व्यक्ति चाहे परमात्मा की उपासना करे या न करे वह अर्द्ध-मुक्त होता है। यदि वह उसके प्रति थोड़ा भी आकर्षण अनुभव कर ले, तो वह तीव्र गति से उसकी ओर बढ़ जाता है।

१०. प्राणायाम का अभ्यास थोड़ा ही किया जा सकता है अधिक नही, अन्यथा चित उत्तेजित हो उठता है। अगर मन स्वयं ही शांत हो जाए तो प्राणायाम के अभ्यास की आवश्यकता ही क्या है? प्राणायाम और आसनों का अभ्यास चमत्कार की शक्ति प्रदान करता है और चमत्कार की शक्ति मनुष्य को पथ-भ्रष्ट कर देती है।

११. खाते समय प्रथम ग्रास प्रभु को अर्पित करो। बिना भोग लगाए भोजन नहीं करना चाहिए। जैसा तुम्हारा आहार होगा वैसा ही रक्त होगा। पवित्र आहार से पवित्र रक्त बनता है, मन पवित्र रहता है और शरीर मे बल बढता है। पवित्र मन ही प्रेम-भक्ति पा सकता है।

१२. जीवन का लक्ष्य प्रभु को प्राप्त करना और सदैव उसके चिन्तन में लीन रहना है।

१३. मन पर ही प्रत्येक वस्तु निर्भर है। मन की पवित्रता के बिना कुछ भी प्राप्त नही किया जा सकता। कहा गया है—"साधक भले ही गुरु, प्रभु और वैष्णवों की कृपा प्राप्त कर ले, पर 'एक' की कृपा बिना वह अन्त में दुःख का भागी बनता है और वह 'एक' है मन। साधक का मन उसके प्रति कृपालु होना चाहिए।"

१४. परमात्मा की सिद्धि के पश्चात् मनुष्य कौन-सी विशेष वस्तु पा लेता है? क्या उसके दो सीग उग आते है? नहीं, उसका मन पवित्र हो जाता है और मन की पवित्रता से वह ज्ञान और जागृति प्राप्त करता है।

१५. मन ही सब कुछ है। मन ही है, जहाँ मनुष्य पवित्रता एवं अपवित्रता का बोध प्राप्त करता है। अतः सर्वप्रथम मनुष्य को अपने मन को दोषी बनाना चाहिए, तभी वह दूसरों के दोष देख सकता है।

१६. जिस प्रकार वायु के प्रवाह से बादल छिटक उठते हैं, उसी प्रकार नाम-जप के प्रभाव से भौतिक सुख की प्यास बुझ जाती है।

१७. अत्याधिक जिज्ञासाओं के द्वारा मन को भ्रांत मत करो। एक ही वस्तु की साधना कठिन हो जाती है। पर मनुष्य मन को अनेक वस्तुओं से भर कर भ्रांत हो जाता है।

आध्यात्मिक जीवन में सतर्कता

१८. मैं तुम्हें एक बात बतलाती हूँ । यदि तुम्हें मन की शांति चाहिए, तो दूसरों के दोषों की ओर मत देखो । बल्कि अपने दोषों पर दृष्टि डालो । सारे सँसार को अपना बनाना सीखो, मेरे बच्चे ! कोई भी पराया नहीं है । यह सम्पूर्ण विश्व तुम्हारा अपना है । जब मनुष्य दूसरों के दोष देखने लगता है, तो उसका अपना मन पहले ही दूषित हो जाता है ।

१९. किसी को वाणी से भी चोट मत पहुँचाओ । बिना आवश्यकता के अप्रिय सत्य भी मत कहो । निष्ठुर शब्दों का प्रयोग करने वाले का स्वभाव भी निष्ठुर हो जाता है । यदि तुम्हारा वाणी पर नियन्त्रण नहीं है, तो तुम्हारा विवेक नष्ट ही हो चुका है । श्री रामकृष्ण कहा करते थे—'लँगड़े व्यक्ति से यह नहीं पूछना चाहिए कि वह लँगड़ा कैसे हुआ ।'

२०. दर्शन के तर्क-वितर्क, शुष्क विवाद को छोड़ दो । परमात्मा को तर्क के द्वारा किसने जाना है ?

२१. रुपया मन को दूषित कर देता है, तुम भले ही सोचो कि तुम धन के लोभ से ऊपर उठ चुके हो और कभी भी इसके प्रलोभन में नहीं पड़ोगे । तुम भले ही यह सोचो कि तुम कभी भी उसे त्याग सकते हो । नहीं, मेरे बच्चे, अपने मन में इस विचार को प्रश्रय मत दो । तनिक भी छिद्र पाकर यह तुम्हारे मस्तिष्क में घुस जाएगा और तुम्हें धीरे-धीरे अपना शिकार बना लेगा ।

२२. जब तक मनुष्य में इच्छाएँ हैं उसके आवागमन का कोई अन्त नहीं, इच्छाएँ ही उसे एक शरीर से दूसरे शरीर में जन्म लेने को विवश करती हैं । यदि तुम्हारे मन में चीनी का एक टुकड़ा खाने की इच्छा भी शेष रह गई है तो तुम्हें उसके लिए फिर जन्म लेना होगा ।

२३. अपने गुरु के प्रति पूर्ण भक्ति होनी चाहिए । गुरु का स्वभाव कैसा भी क्यों न हो, शिष्य गुरु के प्रति अटूट भक्ति से ही मुक्ति पा लेता है ।

२४. किसी भी वस्तु को हेय न समझो, चाहे वह वस्तु कितनी ही तुच्छ क्यों न हो । यदि तुम वस्तु का सम्मान करोगे, तो वह भी तुम्हारा सम्मान करेगी । महत्त्वहीन कर्म को भी सम्मान के साथ पूरा करना चाहिए ।

२५. मनुष्य कितना भी आध्यात्मिक क्यों न हो, उसे अन्तिम साँस तक शरीर के उपयोग का किराया देते रहना चाहिए ।

दिव्य-स्वरूप

२६. **प्रश्न**—माँ, मैंने तप और जप का इतना अभ्यास किया है, पर मुझे कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ !

उत्तर—परमात्मा मछली तरकारी जैसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे तुम मूल्य देकर खरीद सकोगे।

२७. **प्रश्न**—माँ, मैं आपके पास प्रायः आता रहता हूँ और मैं समझता हूँ कि मैंने आपकी कृपा पा ली है, पर मैं कुछ अनुभव नही कर पाता हूँ।

उत्तर—मेरे बच्चे, समझो कि तुम बिस्तर पर नींद में हो और कोई तुम्हे बिस्तर समेत दूसरे स्थान पर हटा ले जाता है। उस अवस्था में जागने पर क्या तुम एकदम समझ जाओगे कि तुम किसी नए स्थान पर पहुँच गये हो ? बिलकुल नहीं ! जब तुम्हारी खुमारी उतर जाएगी, केवल तभी तुम यह जान पाओगे कि तुम नये स्थान पर आ गए हो ।

२८. **प्रश्न**—परमात्मा का दर्शन किस प्रकार होता है ?

उत्तर—केवल उसकी कृपा द्वारा ही उसका दर्शन सम्भव है। पर तुम्हे ध्यान और जप का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। इससे मन की अपवित्रता नष्ट होती है। उपासना आदि आध्यात्मिक साधनों में लगे रहना चाहिए। जिस प्रकार फूल को हाथ में लेने पर ही उसकी सुगन्ध प्राप्त होती है अथवा जिस प्रकार चन्दन को पत्थर पर घिसने से ही उसकी सुगन्धि प्राप्त होती है उसी प्रकार प्रभु के निरन्तर चिन्तन से आध्यात्मिक जागृति प्राप्त होती है।

२९. ईश्वर के नाम का सदैव अपने अन्तरतम हृदय से उच्चारण करो और पूर्ण श्रद्धा-भक्ति से उसकी शरण ग्रहण करो । इस बात की तनिक भी चिन्ता न करो कि तुम्हारा मस्तिष्क आसपास के वातावरण का कैसे प्रतिकार करता है और आध्यात्मिक पथ पर तुम कितनी उन्नति कर रहे हो । अपनी उन्नति का निर्णायक स्वयं बनना अहंकार का प्रतीक है । अपने गुरु और ईश्वर में विश्वास रखो ।

३०. जो शिशु सौ बार प्रार्थना करने पर भी अपनी वस्तु देने को तत्पर नहीं होता, सम्भव है वह केवल एक बार की प्रार्थना से वही वस्तु तत्काल दे दे, इसी प्रकार जगन्नियन्ता प्रभु की अनुकम्पा पाने के लिए कोई निर्धारित नियम नहीं है।

श्री रामकृष्ण के सम्बन्ध में

३१. स्वामी और सत्य अभिन्न थे। वह प्राय: कहा करते थे कि इस कलियुग में सत्य ही तप है। सत्य ही चिरन्तन है। मनुष्य सत्य से ही ईश्वर को पा सकता है।

३२. स्वामी मुझे इस नश्वर संसार में इसीलिए छोड गए हैं कि मै विश्वेश्वर के अपने प्राणियों के लिए मातृत्व प्रेम को प्रदर्शित करूँ।

३३. यदि तुम निरन्तर परमेश्वर की प्रतिमा के सम्मुख प्रार्थना करो तो वह उस प्रतिमा मे प्रकट होगे। जहाँ भी प्रभु की प्रतिमा को रखा जाए वही पवित्र मन्दिर बन जाता है।

आशा

३४. प्रारब्ध के व्यादेश और निदेश भी प्रभु की शरण लेने पर परिवर्तित हो जाते हैं। प्रारब्ध अपने हाथो स्वयं मनुष्य की उन भाग्य-रेखाओ को बदल देता है जो पहले उसने स्वयं लिखी थी।[1]

---

[1]पुण्यात्मा माँ श्री शारदा देवी के जीवन और उनकी शिक्षाओं का संक्षिप्त वर्णन जो इस परिच्छेद में प्रस्तुत किया गया है, वह इस विषय पर उद्बोधन कार्यालय, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित की गई बंगाली पुस्तकों तथा रामकृष्ण मठ, मद्रास द्वारा अंग्रेजी में प्रकाशित "श्री शारदा देवी, दी होली मदर" पर आधारित है।

परिच्छेद १४

श्री रामकृष्ण के जीवन से सम्बद्ध कुछ पवित्र सन्त महिलाएं

महान् पुरुषों का जीवन हजारों लाखों मनुष्यों के जीवन को अनुप्राणित करता है। जब ज्वार उठता है तब नदी, झरने, तालाब, नाले और गड्ढे सब जल से भर जाते हैं। जल उतना ही भर पाता है, जितनी जगह होती है। इसी प्रकार स्त्री-पुरुष जो भी महान् पुरुषों के सम्पर्क में आते हैं वे उनसे अत्यधिक बल पाते हैं। उनमें से जो उनके पद-चिन्हों पर अपनी सम्पूर्ण भक्ति-भावना और श्रद्धा के साथ चलते हैं, वे सन्त हो जाते हैं।

स्वाभाविक है कि श्री रामकृष्ण के महान् व्यक्तित्व से न केवल पुरुषों को ही प्रेरणा मिली, जिनमें से कुछ तो साधु हो गए और कुछ गृहस्थ, बल्कि अनेकों स्त्रियों को भी इन्होंने प्रेरणा दी है। उनमें से कई ने जोगिनों का जीवन बिताया और शेष ने निष्ठावान गृहस्थिनों का।

उनसे मिलने वाली महान् महिलाओं में से एक तो उनसे आयु में बड़ी थी और जो उनके गुरुओं में से थी। दूसरी, एक ऐसी आध्यात्मिक महिला थी जिन्हें बाल-गोपाल के दर्शनों के अद्भुत अनुभव थे। उनकी भतीजी उनकी शिष्या बन गई। उनकी अन्य शिष्याओं में बहुधा गृहस्थ स्त्रियाँ अथवा पुजारिनें थीं जिन्होंने पवित्र माँ शारदा देवी के सिद्धाँतों को अपनाया था।

योगेश्वरी भैरवी ब्राह्मणी

श्री रामकृष्ण की महिला गुरु, योगेश्वरी भैरवी ब्राह्मणी के नाम से विख्यात थीं। वे योग के साथ ही साथ वैष्णव तथा ताँत्रिक क्रियाएं भी करती थीं। उनका जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के लगभग हुआ था, क्योंकि सन् १८६१ में रामकृष्ण से भेंट होने के समय उनकी अवस्था प्रायः पैंतालीस साल की थी। रामकृष्ण उस समय करीब पच्चीस वर्ष के थे। योगेश्वरी माँ के माँ-बाप ब्राह्मण थे जो जैसोर (बंगाल) के रहने वाले थे। ये जीवन पर्यन्त कुँवारी रहीं और उन्होंने योग की अपार शक्ति के द्वारा अद्भुत रहस्यपूर्ण शक्ति प्राप्त की थी।

१८६१ में घूमते-घूमते भैरवी ब्राह्मणी दक्षिणेश्वर आईं। जब उनकी भेंट रामकृष्ण से हुई तो उनकी आँखों से आनन्दाश्रु छलक आए और उन्होंने अत्यन्त स्नेह-पूर्वक कहा

"मेरे बच्चे, तुम मुझे मिल गए। मुझे पता था कि तुम कहीं गंगा के किनारे मिलोगे, इसी से मैं तुम्हे खोजती फिरती थी और अब मैंने तुम्हें ढूंढ लिया है।" रामकृष्ण उनसे कुछ ऐसे प्रभावित हुए जैसे एक बालक अपनी मां की ओर खिंचता है। उन्होंने पूछा—"तुम्हे मेरे बारे में कैसे पता लगा मां!" "सर्वशक्तिमयी मां की कृपा से ही मुझे यह आभास मिला था कि मै तुम तीनों से मिलूगी। दो से तो मै मिल चुकी हूं—वे है चन्द्र और गिरिजा, जो पूर्व बंगाल में है और तुम यहां हो!"

उन दिनों रामकृष्ण कठिन तपस्या कर रहे थे और उन्हे भांति-भांति के अनुभव प्राप्त हो रहे थे। वे बालक की भांति भैरवी ब्राह्मणी के समीप बैठ कर उन्हें अपने पारलौकिक अनुभवों की कहानी सुनाया करते। उन्होंने समाधि-स्थिति में अपनी बाह्य चेतना के लुप्त हो जाने का और अपने समस्त शरीर की जलन, तथा निद्रा आदि के बारे मे बताया। उन्होने भैरवी से बार-बार पूछा—"क्या आप बता सकती है कि यह क्या है और क्यों है? लोग कहते है कि मैं पागल हूँ, क्या आप भी यही सोचती हैं कि मैं पागल हो गया हू?" रामकृष्ण के ये अनुभव सुन कर भैरवी आनन्दातिरेक से भर उठी क्योंकि ऐसे पारलौकिक अनुभव भाग्य से ही होते हैं। उन्होंने कहा—"कौन तुम्हें पागल कहता है मेरे बेटे! यह पागलपन नहीं है। तुम्हें एक विलक्षण और अलौकिक अवस्था प्राप्त हुई है, जिसे महाभाव कहते है जिसके उन्नीस बाह्य रूप है—जैसे अश्रु, शरीर-कम्पन, रोमांच तथा पसीने से लथपथ हो जाना। जिसने ऐसा अनुभव प्राप्त न किया हो वह इसे समझ ही नहीं सकता और इसी से संसारीलोग तुम्हें पागल कहते है।" उन्होंने यह बताया कि राधा और श्रीगौरांग ने भी इसी दशा का अनुभव किया था। यह सब सुन कर श्री रामकृष्ण को अत्यन्त सन्तोष हुआ।

सन्ध्या-समय भोजन बना कर, ब्राह्मणी ने सबसे पहले अपने आराध्य रघुवीर को भोग लगाया, जिनकी प्रतिमा सदा उनके गले में झूलती रहती थी। ध्यान के समय उन्हें दिव्य दृश्य दीखे कि रामकृष्ण की पंचवटी जाने की उत्कट इच्छा हुई थी जहां पवित्र पंच वृक्ष थे और वे वहां चले गये। विक्षिप्त मनुष्य के समान रामकृष्ण पाषाण-प्रतिमा के समक्ष रखे भोज्य पदार्थ खाने लगे। जब ब्राह्मणी की आंखें खुली तो वह रामकृष्ण को भोग-सामग्री खाते देख आह्लादित हो गईं क्योंकि उन्होंने ध्यानावस्था में भी ऐसा ही दृश्य देखा था। रामकृष्ण अपने आपे मे न थे और जब वे खा चुके तो उन्होंने ब्राह्मणी से क्षमा-याचना करते हुए कहा—"मुझे पता नहीं, मैं कैसे यह सब कर गया? लगता है कि जैसे मैं अर्द्ध-विक्षिप्त हो गया हूँ।" ब्राह्मणी ने कहा—"तुमने बहुत ही अच्छा किया पुत्र! यह तुमने नहीं किया है बल्कि उसने किया है जो तुम्हारे अंदर है। मुझे ध्यान करते समय ही पता लग गया

था कि किसने ऐसा किया है और क्यों किया है। अब मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि अब मुझे किसी भी साधना की आवश्यकता नहीं है। मेरी साधना का फल मुझे मिल गया है।" ऐसा कह कर उन्होंने बचा हुआ प्रसाद खा लिया और रघुवीर की प्रतिमा जिसकी उन्होंने वर्षों पूजा की थी, गँगा में विसर्जित कर दी, क्योंकि उन्हें विश्वास हो गया था कि रघुवीर रामकृष्ण की देह में प्रत्यक्ष हो गये थे।

ब्राह्मणी को अब पूर्ण विश्वास हो गया था कि श्री रामकृष्ण ने अपने अपार प्रेम, प्रभु-भक्ति और कठोर आध्यात्मिक नियमों के सफल अभ्यासो द्वारा पारलौकिक अनुभव प्राप्त कर लिये हैं। प्राय: उनके अनुभव चैतन्य महाप्रभु के अनुभवों के सदृश हैं। एक बड़ी अद्‌भुत घटना घटी। श्री रामकृष्ण सिहोर की ओर जा रहे थे। उन्हें ऐसी अनुभूति हुई कि दो तेजस्वी बालकों का उनके शरीर से प्रादुर्भाव हुआ है, जिनको ब्राह्मणी ने चैतन्य और उनके साथी नित्यानन्द के रूप में पहचाना। तीव्र जलन जो रामकृष्ण अपने शरीर पर अनुभव कर व्यथित रहते थे, इस पवित्र महिला ने बड़ी सरल विधि से उनका उपचार कर दिया। एक बार श्री रामकृष्ण ऐसी अपरितोष-णीय क्षुधा से व्याकुल थे कि चाहे जितना भोजन दिया जाये उनकी क्षुधा शान्त नहीं हो रही थी। ब्राह्मणी जानती थी कि जो महान् आत्मायें उच्च आध्यात्मिक स्तर पर पहुँच जाती है उन्हें कभी-कभी ऐसी अनहोनी स्थितियों से भी गुज़रना पड़ता है। उन्होंने श्री रामकृष्ण को ऐसा उपचार बताया जिससे वह तीन दिन की अवधि में स्वस्थ हो गये।

ब्राह्मणी ने श्री रामकृष्ण को ६४ प्रमुख तँत्रों के विभिन्न नियम-उपनियमों का प्रशिक्षण दिया। उन्होंने बाद मे बताया "पवित्र माता की असीम अनुकम्पा ने अनेक विपत्तियों और अग्नि-परीक्षाओं के समय मेरी रक्षा की। कुछ परिस्थितियाँ तो इतनी भयँकर थीं कि कोई भी जिज्ञासु पथ-भ्रष्ट हो सकता था।"

इस सन्त महिला ने प्रथम बार श्री रामकृष्ण में अवतार होने के लक्षणों की विवेचना की और अपने इस विश्वास को निर्भीकता से व्यक्त किया। दक्षिणेश्वर मन्दिर की स्वामिनी के जवाई मथुरानाथ विश्वास ने समकालीन कुछ ऐसे व्यक्तियों को निमन्त्रित किया जो अपनी विद्वत्ता और आध्यात्मिकता के लिए प्रसिद्ध थे। इनमें से वैष्णवचरण, पण्डित गौरीकान्त तर्कालँकर उल्लेखनीय हैं। इस गोष्ठी का उद्देश्य था ब्राह्मणी के विवेचन पर वाद-विवाद करना। उस समय पण्डित गौरीकान्त ने सुस्पष्टत: घोषित किया कि, "हे, रामकृष्ण! मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम उस अनन्त पारलौकिक शक्ति के भण्डार हो जिसका आँशिक प्रादुर्भाव इस नश्वर सँसार में समय-समय पर अवतार रूप में होता रहता है। मेरा हृदय ऐसा अनुभव करता है

और धर्म ग्रन्थ तथा शास्त्र मेरे साक्षी हैं, इनके आधार पर मैं अपनी इस धारणा को संसार की किसी भी शक्ति के सम्मुख सिद्ध करने को प्रस्तुत हूँ।"

भैरवी ब्राह्मणी ने अपने अन्तिम दिन भक्ति एवं अन्य आध्यात्मिक अनुशासनों में व्यतीत किये। जब श्री रामकृष्ण तीर्थ-यात्रा पर बनारस गये हुए थे तब वहाँ उनकी भेंट उससे हुई और उन्होंने उसे वृन्दावन में अपना शेष जीवन बिताने की मंत्रणा दी। तदनुसार उस तीर्थ-स्थान के लिए उसने उनके साथ प्रस्थान किया, जहाँ कुछ समय पश्चात् वह परलोक सिधार गईं।

अघोरमणि देवी

[गोपाल की मां के नाम से विख्यात]

अघोरमणि देवी एक रहस्यमयी रमणी थी जिनके अलभ्य आध्यात्मिक अनुभव थे। उनके जीवन वृत्त एवं उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियों का अध्ययन करने पर प्रत्येक व्यक्ति रोमांचित हो उठता है।

उनका जन्म सन् १८२२ मे कामारहाटी मे एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। नौ वर्ष की अवस्था मे ही उनके पिता काशीनाथ भट्टाचार्य ने ग्राम पैघाटी, बोदरा के समीप स्थित, जिला चौबीस परगना के एक निम्न स्तर के नवयुवक से उनका वाग्दान (सगाई) कर दिया, किन्तु दुर्भाग्यवश सगाई के तुरन्त बाद वह विधवा हो गई। उस समय वह इतनी अबोध थी कि विवाहित जीवन के मर्म को न समझ सकती थी। कुछ समय अपने श्वसुर-गृह में रहने के पश्चात् वह अपने पिता के घर लौट आई। उसके अग्रज (बड़े भाई) नीलमाधव भट्टाचार्य ग्राम के राधामाधव मन्दिर में पुजारी थे। शनैः-शनैः अघोरमणि देवी मन्दिर, उसके पुष्पोद्यान एवं बगिया की ओर आकर्षित हुई। वहाँ मन्दिर के निर्माता भक्त गोविन्द चन्द्रदत्त की विधवा रहा करती थी। शीघ्र ही तरुणी अघोरमणि का उससे परिचय हो गया और वह स्थायी रूप से वहीं रहने लगी। गँगा के तट पर उद्यान मे उसकी कुटी बनवा दी गई। वहाँ वह भक्ति और अध्यात्म में लीन रहने लगी।

उसे एक वैष्णव गुरु से दीक्षा मिली। बालकृष्ण उसका जीवनादर्श, उसके हृदय का आराध्य देव था। अपनी कुटी मे तीस वर्षों तक वह माला जपना, भक्ति करना आदि धार्मिक कार्यों में प्रवृत्त रही। वह इनमें इतनी तल्लीन रहती कि अन्ततः उसे भगवान का, दैवी बालक के रूप में साक्षात्कार हुआ।

१८८४ में गोविन्ददत्त की विधवा के साथ वह दक्षिणेश्वर गई जहाँ उसकी श्री रामकृष्ण से प्रथम भेंट हुई। उन्होंने उनका सस्नेह स्वागत किया और पुनः आने

का निमन्त्रण दिया। अपनी पहली भेंट के दिन से ही वह रामकृष्ण की ओर आकर्षित हो गई। वह पुनः दक्षिणेश्वर गई और उनके अधिकाधिक समीप आती गई। उसकी उपस्थिति में वे स्वयं को बालक के समान अनुभव करते थे और ठीक उसी प्रकार मिष्टान्न व अन्य पदार्थों के लिए उससे हठ करते जैसे बाल गोपाल (श्रीकृष्ण का अन्य नाम) यशोदा के गृह में रहते हुए करते थे। उसके व श्री रामकृष्ण के मध्य, मधुर एवं मृदु सम्बन्ध विकसित हुए। उनका या इस महान् रहस्यपूर्ण महिला जिसकी आत्मा दैवी संसार में विचरती थी, जिसकी साधारण नाशवान् प्राणियों को झलक भी न मिलती थी, के उन रोमांचकारी अनुभवों का वर्णन करना कठिन है। एक दिन जप-समाप्ति के पश्चात् भोग के फल उसने आराध्य देव को अर्पण कर दिये किन्तु वह अपनी गोद में बैठे मुस्काते हुए श्री रामकृष्ण, जिनके दाँए हाथ की मुट्ठी बँधी थी, को देख विस्मित हो गई। तत्पश्चात् उसका स्पर्श करने के लिए उसने अपना हाथ बढ़ाया किन्तु आकृति अर्न्तधान हो गई और उसके स्थान पर दर्शन हुए घुटनों चलते, उसकी ओर आते बालकृष्ण के, जो अपना एक हाथ उठाकर माखन माँग रहे थे। इस दृश्य का वर्णन करती हुई वह कहती है—

"मैं इतनी अवाक् थी! मैं हर्षातिरेक मे चिल्ला उठी और उनसे कहा, खेद है मै एक निर्धन विधवा हूं, मेरे बच्चे! मैं तुम्हारे लिए माखन और दूध कहाँ से लाऊँ?" किन्तु गोपाल ने एक न सुनी। 'मुझे खाने को कुछ दो' उसने बार-बार कहा। मेरी आँखों में अश्रु थे। मै उठी और जाकर कुछ सूखे मीठे गोले, जो मेरे पास थे, उसके लिए ले आई। गोपाल मेरी गोद में बैठ गया। मेरी माला छीन ली, मेरे कन्धों पर कूदा और कुटी में उसी प्रकार घूमने-फिरने लगा कि मेरे मन्त्रोच्चारण के सारे प्रयत्न निष्फल रहे।"

अगले प्रातःकाल उसने बाल-गोपाल को, जिसके लालिमा लिये हुए छोटे-छोटे पैर थिरक रहे थे, अपने वक्ष से लगाये हुए दक्षिणेश्वर को प्रस्थान किया। उस दिन उसने अपने आराध्य देव को वास्तव में पा लिया था। अध्यातम-मग्नावस्था में विस्फारित नेत्रों से अपना मार्ग तय किया। उसके आँचल का छोर पृथ्वी को छू रहा था। ज्यों ही वह रामकृष्ण के कक्ष में जाकर बैठी, वह (रामकृष्ण) हर्षातिरेक की अवस्था में बालक के सदृश उसकी गोद में आ बैठे और उसने उनसे इस प्रकार बातें कीं जो साधारण मनुष्यों की समझ के बाहर है। उसने कहा—"यह गोपाल मेरी गोद में है—अब यह तुम्हारे अन्तर में प्रवेश करता है—अब यह बाहर आ गया—आओ, मेरे दुलारे, अपनी माँ के पास आओ।" इस प्रकार भावुकतावश वह अतिचैतन्यावस्था में प्रवेश कर गई।

उस दिन के पश्चात् श्री रामकृष्ण व अन्य लोग उसे 'गोलाप की मां' के नाम से सम्बोधित करने लगे ! अपने आध्यात्मिक अनुशासनों एवं उपलब्धियों के कारण यह विधवा देवी बालकृष्ण की माँ के रूप मे परिवर्तित हो गई। श्री रामकृष्ण ने उसे सारे दिन रोके रखा, स्नान एवं भोजन कराया। जब उसकी आध्यात्मिक भावुकता कुछ कम हो गई तो उन्होंने उसे उसके गाँव वापस भेज दिया। वहाँ भी वही दैवी क्रीड़ाएँ चलती रहीं। एक बार रामकृष्ण ने उससे कहा—"तुमने असम्भव को प्राप्त कर लिया है। जैसी अनुभूति तुमको हुई है ऐसी इस युग में दुर्लभ है।"

१८८६ मे श्री रामकृष्ण का निर्वाण उसके लिए एक दारुण घटना थी। उसकी आयु निरन्तर बढ़ती जा रही थी किन्तु बालकृष्ण के साथ उसकी स्वर्गिक क्रीड़ाये अब भी जारी थी। कभी-कभी उसे सर्वत्र और प्रत्येक वस्तु मे उनकी अनुभूति होती।

१९०४ में वह रोग-ग्रस्त हुई और उन्हे कलकत्ता में बलराम बोस के घर रखा गया। पुत्री के सदृश बहन निवेदिता ने उनकी सेवा-सुश्रूषा की। सन्त (पवित्र) माँ कभी-कभी उनसे मिलने आतीं। उसके अन्तिम समय मे उसे गँगा-तट पर लाया गया। उसकी मृत्यु से पहले उसके पैरो को पवित्र गँगाजल का स्पर्श कराया गया। ८ जुलाई, १९०६ को उसका देहावसान हुआ किन्तु उस समय भी उसके मुख पर मृदुता एवं शान्ति स्थिर रही थी।

लक्ष्मीमणि देवी

[लक्ष्मी दीदी के नाम से विख्यात]

लक्ष्मीमणि देवी अर्थात् लक्ष्मी दीदी (बहन लक्ष्मी) श्री रामकृष्ण की भतीजी थी। वह उनके द्वितीय बड़े भाई रामेश्वर चट्टोपाध्याय की पुत्री थी, और एक बहुत बड़ी सन्त महिला हुई है। उनका जन्म कामारपुकुर में ११ फरवरी, १८६४ को हुआ और इस प्रकार पवित्र माँ श्री शारदादेवी से, वह १० वर्ष छोटी थी। रामलाल, जो श्री रामकृष्ण की सेवा-सुश्रुषा करता था, उसका बड़ा भाई था और शिवराम छोटा भाई।

लक्ष्मीदेवी को स्कूल में किसी प्रकार की साहित्यिक शिक्षा प्राप्त न हुई। बाद के वर्षों मे उसने पढ़ना सीखा और अपने ज्ञान का सदुपयोग रामायण, महाभारत और इसी प्रकार की अन्य बंगाली पुस्तकों के पढ़ने मे किया।

स्वभावतः वह बड़े लजीले स्वभाव की थी और अपने निकट के सम्बन्धियों के अतिरिक्त किसी से न बोलती थीं। बल्यावस्था में ही वह हिन्दू-देवी देवताओं की भक्ति मे लीन रहती थीं जिनमें शीतला और रघुवीर उसके आराध्य थे। जब वह ६ वर्ष

की थी तो उसके पिता रामेश्वर का देहान्त हो गया। १२ वर्ष की अवस्था में उसका वाग्दान हुआ। कुछ मास पश्चात् उसके अग्रज रामलाल ने उसके वाग्दान की सूचना श्री रामकृष्ण को दी। रामकृष्ण तत्काल अन्तर्लीनता की अवस्था में पहुंच गये और फिर वे बोले—"शीघ्र ही यह विधवा हो जायेगी।" उनके भतीजे, हृदय को, जो उनके पास ही खड़ा था, बड़ा आघात पहुँचा और उसने पूछा कि आशीर्वाद देने के स्थान पर उन्होंने दुखद शब्दों का उच्चारण क्यों किया? रामकृष्ण ने उत्तर दिया—"मैं क्या कर सकता था? देवी माँ मेरे माध्यम से बोलीं। लक्ष्मी, माता शीतला देवी का एक आध्यात्मिक रूप है, जबकि उसका पति एक सामान्य नश्वर प्राणी है। लक्ष्मी कभी ऐसे प्राणी की साथिन नहीं हो सकती। वह अवश्य विधवा हो जायेगी।" वास्तव में लक्ष्मी का पति वृत्ति की खोज में अपने घर से चला गया और तत्पश्चात् किसी ने उसके विषय मे कुछ न सुना। बारह वर्ष तक उसके सम्बन्धियों ने उसकी खोज का निष्फल प्रयास किया और उसका कोई चिन्ह न मिलने के कारण इतने दिन से स्थगित की गई उसकी अन्त्येष्टि क्रिया कर दी गई। श्री रामकृष्ण की इच्छानुसार उसने अपने पति की सम्पत्ति पर किसी प्रकार का कोई दावा नहीं किया।

जब लक्ष्मी १४ वर्ष की थी तो उसकी भेंट पावन माँ से हुई। श्री रामकृष्ण ने उसे वैष्णव सम्प्रदाय में दीक्षित किया। १३ वर्ष अर्थात् १८७२ से १८८५ तक वह श्री रामकृष्ण और पावन माँ के सहवास में रही, अतः उसका जीवन उनके पवित्र जीवन के अनुरूप ढला। वह कहा करती थीं—

"पावन माँ के साथ मैं सत्संग भवन में, एक छोटे कमरे में, जिसमें दैनिक प्रयोग एवं उपयोग की वस्तुएँ रखी थीं, बहुत दिनों रही। माँ रसोई पकाया करती थीं और मैं उनकी तन्मयतापूर्ण सेवा में सहायता किया करती थी। उस समय, दिन में हर समय भक्तों का ताँता लगा रहता था और प्रत्येक व्यक्ति की रुचि के अनुसार हमें समय-असमय भोजन तैयार करना पड़ता था। हमारी सभा-आयोजन क्षमता को देखकर श्री रामकृष्ण हमें शुक और सारी के नाम से पुकारते थे और सत्संग भवन की एक पिंजड़े से तुलना किया करते थे। चूंकि हमारे रहने का स्थान पिंजड़े के सदृश बहुत ही सीमित था किन्तु ये सब होते हुए भी उस स्वर्गीय वातावरण में रहने का आनन्द माँ के सत्संग में दिन-प्रतिदिन की शिक्षा और आध्यात्मिक अमृत-पान, कहीं अन्यत्र सम्भव नहीं हो सकता था। यह अमृतधारा ईश्वरीय ज्ञान के प्रतीक स्वामी और पावन जननी के सत्संग से बहती थी।"

श्री रामकृष्ण की रोगावस्था में यह सन्त महिला पवित्र माता के साथ श्यामपुकुर

और काशीपुर उद्यान में उनकी सेवा-सुश्रूषा में रही । उनके देहावसान के पश्चात् वह माँ के साथ तीर्थयात्रा करने गई तथा वृन्दावन में एक वर्ष आध्यात्मिक नियमों का पालन करती रही। जब माँ पुरी गईं तो लक्ष्मीदेवी भी उनके साथ थी। इसके अतिरिक्त यह, अन्य अनेक तीर्थ स्थानों पर गई जिनमें से गँगासागर, नवद्वीप, त्रिवेणी प्रयाग, गया, बनारस, हरिद्वार उल्लेखनीय हैं। यथासम्भव लक्ष्मी दीदी पावन जननी के साथ ही रहती, कभी-कभी यह कामारपुकुर भी जाती। जब इनके भाई रामलाल की पत्नी का देहान्त हो गया तो उसने लक्ष्मीदेवी को अपने साथ रहने को आमन्त्रित किया। तब वह प्राय: १० वर्ष तक दक्षिणेश्वर में रहीं।

लक्ष्मी दीदी अक्तूबर, १६२२ को पुरी चली गई। वहाँ उनके लिये म्युनिसिपैलिटी से कुछ जमीन लेकर एक मकान बना दिया गया। इन्होंने फरवरी, १६२४ में गृह-प्रवेश किया और अपने अन्तिम दिन पुरी में व्यतीत किये। २४ फरवरी, १६२६ में ६२ वर्ष की अवस्था में लक्ष्मी दीदी ने इहलीला समाप्त की। उस समय इनकी अनेक शिष्याएँ थी।

सिस्टर निवेदिता अपनी पुस्तक "दी मास्टर एज़ आई सा हिम" में लिखती हैं—

"बहिन लकी अथवा लक्ष्मी दीदी—जो कि उसका भारतीय नाम है—श्री रामकृष्ण की वास्तव में भतीजी है और शेष स्त्रियों से आयु में छोटी है, उसकी ओर प्राय: सब शिक्षिका और आध्यात्मिक निर्देशिका की भावना रखते हैं। लक्ष्मी दीदी अत्यन्त प्रतिभाशालिनी और मधुर साथिन है। प्राय: वह धार्मिक वाद-विवाद के पन्ने के पन्ने दोहराती रहती और अपनी यात्राओं तथा धर्म-सम्बन्धी नाटकों का विवरण देती रहती है। कभी-कभी वह कमरे के शान्त वातावरण को मधुर मनोरंजन से भर देती है। अपने समूह के विभिन्न व्यक्तियों को धार्मिक नाटकों के विभिन्न पात्र बना दती हैं। कभी कोई काली है तो कभी सरस्वती और कुछ देर के बाद वही जगद्धात्री है तो वही कदम्ब वृक्ष के नीचे कृष्ण का रूप धारण किये खड़ी है। नाटकोपयुक्त वस्तुओं और ध्वनि-संयोजन से वह सुन्दर दृश्य उपस्थित कर देती है।"

योगीन्द्रमोहिनी बिस्वास

[योगीन माँ के नाम से प्रसिद्ध]

योगीन्द्रमोहिनी बिस्वास का जन्म उत्तरी कलकत्ता में १६ जनवरी, १८५१ में हुआ। इनके पिता श्री प्रसन्नकुमार मित्र एक सफल डाक्टर थे जो कलकत्ता मेडीकल कालेज में माननीय पदाधिकारी थे।

बालिका योगीन का पाणिग्रहण ६ वर्ष की अल्पावस्था में ही चौबीस परगना के खरदा निवासी जमींदार परिवार के सुन्दर धनी युवक अम्बिकाचरण बिस्वास से हो गया था। इनके पति कुकर्मों में अपना समय नष्ट करते और धीरे-धीरे अपना सारा धन व्यसनों में खो बैठे। योगीन के केवल एक पुत्री थी। उसका विवाह हो जाने पर योगीन पूर्णतः घरेलू कर्त्तव्यों से निवृत्त हो गई थी। अब वह पति से विदा लेकर अपनी विधवा माँ के पास बागबाजार में रहने लगी। उक्त वृत्तान्त से तो यह स्वतः सिद्ध है कि अल्पावस्था में ही माता योगीन्द्रमोहिनी को एकाकीपन और अन्य अनेक यातनाएँ सहनी पड़ीं।

मानसिक व्यथा के इन दिनों में ही श्री रामकृष्ण परमहंस के गृह-सेवक बलराम दास जो योगीन माँ के ससुराल के नाते से दूर के सम्बन्धी भी थे, श्री रामकृष्ण के दर्शनार्थ उसे अपने घर ले गये। धीरे-धीरे उनके जीवन में परिवर्तन आने लगा और उनकी आत्मिक शान्ति की तृषा तृप्त होने लगी। दैवी माँ पवित्र पथ की पथिका तो पहले ही बन गई थीं अब श्री रामकृष्ण ने उन्हें कुछ मन्त्र सिखाये और उनके पथ-प्रदर्शन का उत्तरदायित्व लेने को सहमत हो गये। श्री रामकृष्ण ने योगीन के बारे में कहा था—"योगीन वह अविकसित साधारण कली नहीं जो शीघ्र ही प्रस्फुटित हो उठे। किन्तु हजारों पत्तियों के कमल की वह कली है जो धीरे-धीरे पुष्पित होगी।"

दक्षिणेश्वर में योगीन का पावन जननी से साक्षात्कार हुआ। मां को तत्काल ही आभास हुआ कि उसकी जीवन साथिन उसे मिल गई है। योगीन माँ, जिस नाम से श्री रामकृष्ण के अनुयायी उन्हें सम्बोधित करते थे, प्रायः सप्ताह में एक बार दक्षिणेश्वर आती थीं और रात माँ के पास बितातीं। दोनों सन्त महिलाओं में परस्पर बड़ा प्रेम था।

श्री रामकृष्ण और पावन जननी का पवित्र जीवन योगीन माँ के लिए आध्यात्मिक नियमों के पालन और आत्मोन्नति के उच्च स्तर को पाने की प्रेरणा का स्रोत बना। योगीन माँ की ईश्वर-सिद्धि की उत्कण्ठा तीव्रतर हो गई। उन्होंने महाकाव्य रामायण, महाभारत, पुराण और चैतन्य महाप्रभु की जीवनी का अध्ययन किया। अपनी असाधारण स्मरणशक्ति से वह प्रायः इन ग्रन्थों में वर्णित घटनाओं को कण्ठस्थ कर सबको सुनातीं। इस प्रकार उन्होंने सिस्टर निवेदिता को उनकी पुस्तक 'क्रेडल टेल्स ऑफ हिन्दुइज्म' (हिन्दू धर्म की कथाएँ) लिखाने में बड़ी सहायता दी।

जुलाई, १८८५ में श्री रामकृष्ण इस सन्त महिला के घर आये। योगीन माँ ने इस सुअवसर पर स्वामी से याचना की कि वह उसके निजी कमरे (शयन कक्ष) में

पदार्पण करें और वही भोजन ग्रहण करें। उसको अटूट विश्वास था कि उनके चरण कमलों से उसका शयन कक्ष वाराणसी की तरह पवित्र हो जायेगा और वह वहाँ देहावसान कर जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जायेगी। योगीन माँ की इस प्रार्थना को स्वामी ने सहर्ष स्वीकार किया।

१८८६ में श्री रामकृष्ण के निर्वाण की सूचना योगीन माँ के लिए सबसे बड़ा शोक-समाचार था। उस समय वह वृन्दावन में कठोर तप करने मे निमग्न थी। इस सन्त महिला को असह्य व्यथा यह थी कि स्वामी के अन्तिम दिनो में वह वहाँ उपस्थित न हो सकी। जब पवित्र माता वृन्दावन गईं तो योगीन माँ से मिलीं। दोनो ने स्वामी की विरह वेदना की चर्चा कर एक-दूसरे को सान्त्वना दी। इन शोकातुर महिलाओं को श्री रामकृष्ण की अनुभूति हुई। स्वामी ने प्रकट होकर कहा—'तुम इतना क्यों रोती हो? क्या मैं तुम्हें छोड़ कर कहीं चला गया हूं? कदापि नही। मेरा जाना तो ऐसे है जैसे एक कमरे से दूसरे कमरे में जाना।' इस अनुभूति ने इन महिलाओ को बड़ी सान्त्वना दी।

एक बार योगीन माँ जब लाला बाबू के मन्दिर में ध्यान-मग्न थी तो अकस्मात् वह समाधिवस्था में आ गई। परिणामस्वरूप पवित्र माँ जो योगीन माँ के निवास स्थान पर आई हुई थीं उनके आने में असाधारण विलम्ब का अनुभव कर उस स्थल पर पहुँची और योगीन माँ को पूर्णतः समाधि में खोई हुई पाया। इस स्थिति का वर्णन करती हुई योगीन माँ ने बाद में बताया—"उस समय मेरा तन और मन इतना ध्यान-मग्न था कि मैं बाह्य जगत् से पूर्णतः अनभिज्ञ थी। मुझे सर्वत्र अपने इष्ट ही दृष्टि-गोचर होते। यह स्थिति तीन दिन तक रही।"

अपने पैतृक गृह में रहते हुए भी योगीन माँ को ऐसा अनुभव हुआ था। एक बार स्वामी विवेकानन्द ने उन्हें कहा—"योगीन माँ, तुम्हारा अन्त समाधि अवस्था में ही होगा क्योंकि जब कोई व्यक्ति एक बार इस आनन्दावस्था का अनुभव कर लेता है तो इसकी मधुर स्मृति उसके देहावसान के समय जागृत होती है।" योगीन माँ कृष्ण के बालस्वरूप की पूर्ण श्रद्धा से उपासना करतीं। वह कहती हैं—"एक बार जब मैं पूजा में मग्न थी तो क्या देखती हूँ कि दो अति सुन्दर बालक मुस्कराते हुए मेरे सम्मुख प्रकट हुए और दोनों भुजाएँ फैला कर उन्होंने मुझे आलिंगन किया। मेरी पीठ पर थपथपाते हुए मुझ से पूछने लगे "जानती हो हम कौन हैं?" मैंने कहा "हां, मैं जानती हूं तुम शूरवीर बलराम हो और तुम कृष्ण हो!" यह सुनकर छोटे कुमार बोले "तुम हमें याद नहीं करोगी?" मैंने कहा "क्यों?" तो कुमार ने मेरे दौहित्रों की ओर इंगित कर के कहा—"इनके कारण!" वास्तव में योगीन माँ की पुत्री की मृत्यु

के बाद उनका समय प्राय: तीन निस्सहाय शिशुओं की देखभाल में व्यतीत होता जिससे उनके एकाग्रचित्त होकर पूजा करने के क्रम में विघ्न पड़ने लगा था।

योगीन माँ का जीवन तप और त्याग का जीवन था। जिन आध्यात्मिक नियमों का वह पालन करती थीं उनमें से कुछ एक तो बड़े कठोर थे। इन्होंने पवित्र माता के साथ पंचाग्नि यज्ञ[1] भी सम्पन्न किया था। श्री रामकृष्ण के प्रमुख शिष्य स्वामी शारदानन्द जी ने योगीन माँ को पुरी में तान्त्रिक संन्यास की औपचारिक दीक्षा दी थी किन्तु वह अपना काषाय वस्त्र केवल पूजा के समय ही धारण करती थीं।

पावन जननी प्राय: कहा करती थीं—"योगीन एक महान् तपस्विनी और एकमात्र ज्ञानी महिला है।" योगीन माँ ने ४ जून, १६२४ मे इहलीला समाप्त की।

गोलाप सुन्दरी देवी

[गोलाप माँ के रूप मे विख्यात]

गोलाप सुन्दरी देवी (जो बाद में गोलाप माँ के नाम से प्रसिद्ध हुई) का जन्म १८६४ के लगभग कलकत्ता के उत्तरी भाग में पुराने विचारों के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनका दाम्पत्य-जीवन दु:खी था। युवावस्था में उनके पति, एक पुत्र और एक पुत्री को छोड़ कर इस संसार से चल बसे थे। कुछ समय के पश्चात् उनके पुत्र की भी मृत्यु हो गई। इकलौती पुत्री चण्डी का विवाह पथरिया घाट, कलकत्ता के एक युवक सुरेन्द्रमोहन ठाकुर से हुआ किन्तु शीघ्र ही वह भी अकाल काल का ग्रास बन गई। गोलाप का संसार में अपना कोई न रहा और वह खिन्न रहने लगी।

योगीन माँ पड़ोसिन थीं वह उन्हें एक दिन अपने साथ दक्षिणेश्वर ले गई। रामकृष्ण-गोलाप भेंट ने गोलाप के जीवन में एक परिवर्तन ला दिया। वह उनके सामने रो पड़ी ; उन्होंने उसकी दु:खभरी गाथा बड़ी सहानुभूतिपूर्वक सुनी और कहा कि वह बड़ी भाग्यवान् है क्योंकि भगवान की अराधना के अतिरिक्त अब उसे और किसी के विषय में नहीं सोचना पड़ेगा। उसे बड़ी सान्त्वना मिली। श्री रामकृष्ण ने उसका पवित्र माँ से जो उस समय मन्दिर के सत्संग-भवन में निवास करती थीं, परिचय कराया। शीघ्र ही वह पवित्र माँ की घनिष्ठ साथिन बन गई।

एक बार श्री रामकृष्ण ईंटों के बने उस टूटे-फूटे मकान में, जिसमें वह अपने भाइयों व बहन के साथ रहा करती थी उसको देखने गये। उस स्थान पर उनके दर्शन पा वह आत्म-विभोर हो गई और उसने कहा कि उसकी सारी वेदना व पीड़ा का लोप हो गया है।

[1] पिछले परिच्छेद में "तपस्या और परमानन्द" के अन्तर्गत दिए गए फुटनोट को देखिए।

उन्होंने पवित्र माँ को, गोलाप माँ का, जो उनके जीवन में परछाई की तरह रहेगी, विशेष ध्यान रखने के लिये कहा।

गोलाप माँ ने पवित्र माँ की उनके अन्तिम क्षणों में ३६ वर्ष तक अनवरत तन्मयता-पूर्वक सेवा की। श्यामपुर व काशीपुकुर गार्डन में भी गोलाप माँ श्री रामकृष्ण की अन्तिम रुग्णावस्था में उनकी सेवा-सुश्रूषा में, पवित्र माँ की सहायता करती रहीं। उनके देहावसान के पश्चात् वह उत्तर भारत में बनारस एवं वृन्दावन और दक्षिण भारत में मदुरा तथा रामेश्वरम् में भी पवित्र माँ के साथ रही। वह पवित्र माँ की अनवरत परिचारिका रही।

उनका दैनिक जीवन सादा था। भोर होते ही वह चार बजे उठ जाती व अपने कक्ष में ही जप एवं भक्ति में तल्लीन हो जाती। तदनन्तर वह सब्जियाँ बनाती और गंगा-स्नान के लिये पवित्र माँ के साथ जाती। श्री रामकृष्ण की पूजा-अर्चना के पश्चात् वह भक्तों और सेवकों में प्रसाद का वितरण करती। मध्यान्ह को वह भगवद्गीता, महाभारत एवं रामकृष्ण और विवेकानन्द की शिक्षाओं का अध्ययन करती। सन्ध्या के पश्चात् साढ़े-नौ बजे तक वह जप एवं आराधना करतीं। तत्पश्चात् भोजन करके सो जाती। पवित्र माँ कहा करती थी—"गोलाप ने जप द्वारा आलोक प्राप्त कर लिया है।"

गोलाप माँ निर्धनों से प्यार करती थी। उनकी आधी आय निर्धनों की आवश्यकता पूरी करने में व्यय हो जाती थी। पवित्र माँ के देहान्त के पश्चात् वह चार वर्ष तक जीवित रही। १६ दिसम्बर, १६२४ को ६० वर्ष की अवस्था में वह परलोक सिधारी।

गौरीमणि देवी

[गौरी माँ के रूप में विख्यात]

हावड़ा के सिवपुर ग्राम में गौरीमणि देवी का जन्म सन् १८५७ में श्री पार्वतीचरण चट्टोपाध्याय की चौथी सन्तान के रूप में हुआ। उनकी धार्मिक वृत्तिवाली माँ, गिरिबाला देवी संस्कृत और बंगला की विदुषी थी तथा फारसी और अंग्रेजी का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था।

गौरीमणि देवी, जिनको बचपन में प्यार से मृदाणि भी कहा जाता था, स्थानीय मिश्नरी स्कूल में प्रविष्ट हुई। मिस मरिया मिलमैन, कलकत्ता के बिशप की बहन व स्कूल की एक संगठनकर्त्री, बालिका को इतना स्नेह करती थीं कि इंग्लैंड में उसके लिए उच्च शिक्षा की व्यवस्था करने की इच्छुक थीं, किन्तु किशोरी बालिका

को अपने धर्म के प्रति क्रिश्चियन अध्यापकों के व्यवहार को देखकर बड़ा क्षोभ हुआ और उसने सदैव के लिये स्कूल त्याग दिया। अब तक उसने संस्कृत के बहुत से श्लोक, गीता, चण्डी तथा रामायण और महाभारत के अनेक अनुच्छेद कण्ठस्थ कर लिये थे। साथ ही संस्कृत-व्याकरण का प्रारम्भिक ज्ञान भी अर्जित कर लिया था।

बाल्यावस्था में ही मृदाणि आत्मज्ञानी थी। जब वह दस वर्ष की थी तब उसने एक ब्राह्मण धर्म-गुरु, से जो उसके घर आया था, दीक्षा ली। उसका यथेष्ट समय श्री दामोदर (श्री कृष्ण का नाम) जिनकी पवित्र मूर्ति उसे एक महिला भक्त द्वारा प्रदान की गई थी, की आराधना मे व्यतीत होता था। जीवन पर्यन्त वह मूर्ति उसके पास रही।

उसकी माता व अन्य सम्बन्धी उसकी शीघ्रतापूर्वक बढ़ती हुई धार्मिक भावुकता को देख चिन्तित हुए और शीघ्र ही जब वह १३ वर्ष की थी उसके विवाह का प्रबन्ध कर दिया। उसने अपनी माँ को इन शब्दो में चेतावनी दी "मैं केवल उस वर का पाणिग्रहण करूँगी जो अमर हो" जिसका स्पष्ट अर्थ था कि वह केवल श्री कृष्ण को ही अपना आराध्यदेव स्वीकार करेगी! विवाह के एक दिन पूर्व उसे एक कक्ष में बन्द कर दिया गया ताकि वह गृह-त्याग न कर पाये। किन्तु वह अपने सम्बन्धियों से अधिक चतुर थी। अतः रात के समय वह पलायन करने में सफल रही। यद्यपि पता लगा कर उसे घर ले आया गया किन्तु तत्पश्चात् उसे विवाह करने के लिये कभी विवश नहीं किया गया।

तुरन्त ही उसे अनुभूति हुई कि घरेलू जीवन उसके भाग्य में नही बदा है। १८ वर्ष की आयु में अपने सम्बन्धियों के साथ गंगासागर की तीर्थ-यात्रा पर जाते समय वह बगैर कुछ कहे उनका साथ छोड़ गई। तदन्तर कुछ साधु और साधुनियों के सग उसने हरिद्वार की यात्रा की। उसने गृहस्थियों के सम्पर्क से अपने को बचाये रखा। कभी-कभी घने वनों में से होकर यात्रा की, और कष्ट पाये। वह कृत-संकल्प थी। दामोदर की पाषाण-मूर्ति, जो उसने गले में लटका रखी थी, उसकी एकमात्र रक्षक थी। दैनिक आवश्यकताओं की कुछ वस्तुओं के अतिरिक्त गीता, कुछ अन्य पवित्र ग्रन्थ और श्री गौराँग तथा काली माता के चित्र उसकी सम्पूर्ण निधि थे। वह केदारनाथ, बदरीनाथ, ज्वालामुखी, अमरनाथ, वृन्दावन, द्वारका और पुरी आदि स्थानों की यात्रा करने में सफल रही। पहाड़ों और मैदानों से विचरते हुए तीर्थाटन के समय वह गेरुआ वस्त्र धारण करती थी। यदा-कदा अपने वास्तविक व्यक्तित्व को छिपाने के लिये वह अपने शरीर पर मिट्टी अथवा भभूत मल लिया करती थी या ढीले-ढाले वस्त्र और पगड़ी पहन कर पुरुष-वेष धारण कर लेती थी अथवा उन्मत्त व्यक्ति का छद्म व्यवहार करती थी। द्वारका में उसे आश्चर्यजनक आत्मिक अनुभूतियाँ हुई।

१८८२ में वह कलकत्ता लौट आई जहाँ वह बलराम बोस, श्री रामकृष्ण के प्रसिद्ध गृहस्थ शिष्य के बागबाजार स्थित गृह में ठहरी। एक दिन वे अपनी पत्नी एवं कुछ अन्य भक्तों के साथ उसे दक्षिणेश्वर ले गये और श्री रामकृष्ण से उसका परिचय कराया। रामकृष्ण ने उससे पुनः आने के लिये कहा और अगले दिन प्रातःकाल वह अकेली दक्षिणेश्वर गई। प्रेमपूर्वक वे उसे सत्संग-भवन में ले गये और पवित्र माँ से उसका परिचय कराया। तत्पश्चात् गौरी माँ यदा-कदा पवित्र माँ के साथ रहा करती और श्री रामकृष्ण की शिष्या बन गई।

एक दिन भोर के समय जब गौरी माँ उद्यान में फूल तोड़ रही थी तो श्री रामकृष्ण उससे बोले "गौरी माँ, मैं पानी डालता जाता हूँ और तुम माटी गोड़ो।" गौरी माँ ने इसको शाब्दिक अर्थों में लिया किन्तु उन्होंने मुस्कराते हुए कहा—"ओह, तुमने मेरा आशय नहीं समझा। मेरे कहने का तात्पर्य है कि इस देश की स्त्रियों की दशा शोचनीय है। तुम्हें उनकी सेवा करनी चाहिए।" गौरी माँ ने उनके कथन का आशय जान लिया किन्तु भीड़-भड़क्के और कोलाहल-पूर्ण नगरों में कार्य करने में कुछ अरुचि दिखाई। फिर भी उसने श्री रामकृष्ण के आदर्शानुरूप, यदि आवश्यकता हो तो युवा कन्याओं को नीरव वातावरण में प्रशिक्षित करने की इच्छा अभिव्यक्त की। निश्चित और स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा—"तुम इसी नगर में स्त्रियों के शिक्षण का कार्य करो! तुमने यथेष्ट आत्मिक योग किया है। अब इस जीवन को स्त्रियों की सेवा में अर्पित कर दो।" इस प्रकार उन्होंने उसे स्फूर्ति दी तथा महिलाओं और कन्याओं के सेवार्थ उसके भारी कार्य के प्रति बहुमूल्य आशीर्वाद दिया।

१८८६ में श्री रामकृष्ण के सुझाव पर उसने वृन्दावन में आत्मिक अभ्यास का कार्यक्रम चलाया जो ९ मास तक चला। इसकी समाप्ति से पूर्व ही काशीपुर में श्री-रामकृष्ण का देहान्त हो गया। वह इस दुःख से इतनी कातर हुई कि उसने कठिन तप-श्चर्या से अपने जीवन का अन्त करने का निर्णय कर लिया किन्तु श्री रामकृष्ण के स्वप्न में दर्शन होने के उपरान्त उसे अपना निश्चय बदलना पड़ा। उनके देहावसान के पश्चात् पवित्र माँ जब वृन्दावन गईं तो उन्होंने उसकी खोज की और राउआ की एक निर्जन गुफा में उससे भेंट हुई।

पवित्र माँ के एक वर्ष के वृन्दावन-निवास के अनन्तर प्रस्थान करने के पश्चात् हिमालय के लिए द्वितीय तीर्थाटन के अतिरिक्त वह इसी पवित्र स्थल के निकट ही रहती थी। कलकत्ता आने के पूर्व उसने कुल मिलाकर १० वर्ष उत्तर भारत में व्यतीत किये।

अपने देश-व्यापी भ्रमण, अपनी तीव्र पर्यवेक्षण क्षमता, भारतीय बालिकाओं

और महिलाओं की दयनीय स्थिति के ज्ञान, अपनी अथाह विद्वत्ता, अपनी महान् संगठन योग्यता के कारण वह स्वयं श्री रामकृष्ण द्वारा सौंपे गये कार्य के सर्वथा उपयुक्त थी।

१८९५ में उसने कलकत्ता के निकट बैरकपुर में गंगा के किनारे पर कपालेश्वर में पवित्र माँ शारदादेवी की स्मृति में शारदेश्वरी आश्रम की स्थापना की। यह समृद्ध और विकसित हुआ। १९११ में किराये का मकान लेकर इसे कलकत्ता स्थानान्तरित कर दिया गया और १९२४ में, २६, महारानी हेमन्त कुमारी स्ट्रीट, श्याम बाजार, कलकत्ता, अपने वर्तमान गृह में आ गया।

१९३२ के लगभग उसका स्वास्थ्य क्षीण होने लगा। उस समय उसकी आयु लगभग ७५ वर्ष की थी। अन्तिम बार वह पुरी जगन्नाथ जी के दर्शनार्थ गई। दो वर्ष पश्चात् वह जलवायु-परिवर्तन के लिए वैद्यनाथ और एक वर्ष के अनन्तर नवद्वीप गई।

फरवरी, १९३८ में पुनीत शिवरात्रि के दिन, जो कि मास का अन्तिम दिन था, उसने कहा कि उसकी जीवन-लीला का अन्त निकट है। रात्रि होने पर उसने दामोदर जी की मूर्ति लाने के लिये कहा। मूर्ति देखकर वह कहने लगी "सुन्दर! मैं उसे अपलक और सपलक मुद्राओं में स्पष्ट रूप से देख सकती हूँ। मुझे सदैव उसी का ध्यान रहता है।" उसने अपने सिर से मूर्ति का स्पर्श किया, तत्पश्चात् उसे वक्ष पर रखा, तदनन्तर मुख्य आश्रमवासी को उसे सौंप दिया।

अगले दिन भगवान् का स्मरण करने के पूर्व तीन बार उसके मुख से निकला—"गुरु, रामकृष्ण" और शाम को ८ बज कर १५ मिनट पर वह परलोकगामिनी हुई।

गुरु होने के नाते उसने सैकड़ों खोजियों को शिष्य बनाया और उनका मार्ग-दर्शन किया।[1]

---

[1] **इस अध्याय की सामग्री 'श्री रामकृष्ण, दी ग्रेट मास्टर' और 'वेदान्त केसरी' (पवित्र मां स्मृति अंक) श्री रामकृष्ण मठ, मयलापुर, मद्रास द्वारा प्रकाशित एवं उद्बोधन १९५४ के अंकों से, उद्बोधन कार्यालय, बागबाजार, कलकत्ता से ली गई है।**

भाग २

बौद्ध तथा जैन धर्म की सन्त महिलाएँ

परिच्छेद १५

बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म में महिलाओं का उच्चस्थान

परिचयात्मक

जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म की विशेषताएं

जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म कई अर्थों में हिन्दू धर्म से भिन्न हैं इसलिए ये दोनों धर्म हिन्दुओं द्वारा बहुत-कुछ उदार समझे जाते हैं। सभी वर्गों तथा सभी जातियों के पुरुषों तथा महिलाओं को सामाजिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से एक समान देखना इन दोनों धर्मों की सबसे बड़ी विशेषता है।

वैदिक धर्म तथा वैदिक युग की सामाजिक व्यवस्था में वर्ण-व्यवस्था को मान्यता प्रदान की गई थी जो आगे चलकर जातिप्रथा के नाम से चल पड़ी। वैदिक युग में समाज के प्रथम दो वर्णों अथवा वर्गों के सदस्यों को जो सामाजिक तथा आध्यात्मिक अधिकार प्राप्त थे (और इन दोनों में से पुरोहित [ब्राह्मण] वर्ग उच्चतर था,) वे अधिकार उत्तर वैदिक युग में चौथे वर्ण के लोगों (जिनमें श्रमिक आदि सम्मिलित थे), दस्यु तथा अन्य निम्न जातियों के लोगों को प्राप्त नहीं थे क्योंकि ये लोग आर्य लोगों के समाज से बाहर समझे जाते थे। ये अधिकार वैश्यों को भी प्राप्त नहीं थे, जो तीसरे वर्ण के थे। वास्तव में दस्यु तथा अन्य निम्न जातियों के लोगों को ऐसे कोई भी सामाजिक अथवा आध्यात्मिक अधिकार प्राप्त नहीं थे जो उन्हें मानव के नाते मिलने चाहिये थे।

सभी लोगों के लिए आध्यात्मिक समानता का उपदेश सर्वप्रथम उत्तर वैदिक युग के महानतम उपदेशक तथा श्रीमद्भगवतगीता के रचयिता श्री कृष्ण ने ही दिया था।[1] उन्होंने तात्कालिक समाज में सामाजिक समानता के विचार का भी समावेश करना चाहा, किन्तु वह इस दिशा में बहुत अधिक सफल न हो सके।

शताब्दियों पश्चात् महावीर तथा बुद्ध ने भी लोगों को बताया कि धर्म समान रूप से सभी जातियों तथा वर्गों के लोगों और सभी पुरुषों तथा महिलाओं के लिए होता है।

---

[1] भगवद्गीता—अध्याय ९–३०–३२

पुरुषों तथा महिलाओं की आध्यात्मिक समानता का अधिकार जो वैदिक युग में उच्चतरवर्गों के लोगों को ही प्राप्त था, अब निम्नतर वर्गों के लोगों (पुरुषों तथा महिलाओं) को भी दे दिया गया। ये दोनों धर्मगुरु सभी जातियों तथा वर्गों के सभी लोगों को ही नहीं वरन् देश की सभी महिलाओं को भी सामाजिक समानता का अधिकार देने के पक्ष में थे। भारत में महिलाओं की सामाजिक तथा आध्यात्मिक स्थिति (सम्मान के अर्थ में) में परिवर्तन लाने का श्रेय सर्वप्रथम महावीर (५९९–५२७ ई० पू०) को ही प्राप्त है जो बुद्ध (५६०–४८० ई० पू०) के समकालीन थे परन्तु आयु में बड़े थे।

दो परस्पर-विरोधी शक्तियाँ

प्राचीन कट्टरपन्थी विचारधारा तथा उसके बाद की उदार विचारधारा का भारत के धार्मिक तथा सामाजिक, दोनों प्रकार के जीवन पर अत्यन्त प्राचीन समय से बारी-बारी से प्रभाव इस ढँग से पड़ता रहा है जिससे हमें मनुष्य के हृदय के संकुचन तथा विस्तार की याद हो आती है। कट्टरपन्थी तथा रूढ़ परम्पराओं के कारण समाज तथा धर्म के क्षेत्रों में स्वतन्त्रता की भावना को जब-जब ठेस पहुँची अथवा उसका अपहरण हुआ, तब-तब उदार विचारधारा का जन्म हुआ और पुरुषों तथा महिलाओं को समानरूप से सामाजिक तथा धार्मिक समानता के अधिकार मिले। उसी प्रकार उदार विचारधारा की उदार प्रवृत्तियाँ जब अपना उपयोग खो बैठीं और देश के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन को विरोधी शक्तियों से संकट उत्पन्न हुआ, तब कट्टरपन्थी विचारधारा के फिर से अपनाए जाने से ही धर्म तथा समाज की रक्षा हुई। इस प्रकार, भारत के राष्ट्रीय जीवन में ये दोनों प्रवृत्तियाँ अपना-अपना योगदान देती रहीं।

बौद्ध धर्म

हिन्दू धर्म की रूढ़ आध्यात्मिक परम्पराओं से मुक्त होकर ही बौद्ध धर्म का विकास हुआ, और विचारों की इसी स्वतन्त्रता की प्रतिच्छाया हमें बौद्ध समाज, बौद्ध रीति-रिवाजों तथा बौद्ध-जीवन में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। शान्ति तथा शालीनता के दूत भगवान् बुद्ध ने हमें यह बताया कि जाति, वर्ग अथवा लिंग-भेद के भेद-भाव से दूर रहकर ही धर्म सब के लिए समान रूप से सुलभ होता है। उनके द्वारा स्थापित भिक्षुसंघों में उन्होंने सभी वर्गों के धनी तथा निर्धन, ऊँच तथा नीच कहलाने वाले और शिक्षित तथा निरक्षर, सभी प्रकार के व्यक्तियों को समानरूप से शरण दी। इसी प्रकार भिक्षुणियों के संघ में भी, जिसकी स्थापना के लिए उन्होंने अपनी अनुमति दी,

सभी प्रकार की स्त्रियों—विवाहित स्त्रियों, अविवाहित स्त्रियों तथा सभी जातियों की विधवाओं आदि—को भी प्रवेश प्राप्त करने का अधिकार दिया।

संघ में केवल आध्यात्मिक विकास पर ही ध्यान दिया जाता था और इसलिए इसमें आई हुई स्त्रियों के प्रति अन्य किसी प्रकार का कोई भेदभाव नहीं बरता जाता था। यहाँ तक कि वेश्यावृत्ति-जैसा अधम व्यवसाय अपनानेवाली स्त्रियों को भी सघ में प्रवेश करने की अनुमति दे दी गई थी, और उनके साथ उनके विगत जीवन को देखते हुए हीनता अथवा तिरस्कारपूर्ण व्यवहार न करके अन्य स्त्रियों-जैसा ही व्यवहार किया जाता था; संघ मे दीक्षित भिक्षुणियों तथा अन्य नयी भिक्षुणियों को ठीक उसी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी जैसी दीक्षित भिक्षुओं तथा नये भिक्षुओं को मिलती थी। बौद्ध धर्म स्वीकार करने वाली स्त्रियों को भी बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का अभ्यास कराया जाता था।

बौद्धकाल में यद्यपि महिलाओं को पहले से ऊँचा स्थान दिया गया, तथापि भिक्षुणियां भिक्षुओं से नीच ही समझी जाती थी। वास्तव में प्रारम्भ में बुद्ध, सघ में स्त्रियो को प्रवेश प्राप्त करने की अनुमति देने के पक्ष मे नहीं थे, किन्तु संघ मे उनके प्रवेश को अनुमति न देना तथा उन्हें दीक्षा न देना उनके सन्देश के मूलभूत सिद्धांतों के ही विरुद्ध था इसलिए अन्त में उन्हें भिक्षुणियों के संघों की स्थापना के लिए अपनी स्वीकृति देनी पड़ी। परन्तु भिक्षुणियों के संघों के लिए फिर भी उन्होंने कुछ कड़े नियमों की व्यवस्था कर दी।

बौद्ध भिक्षुणियों के संघ की स्थापना कैसे हुई

सभी बौद्धकालीन अभिलेखों के अनुसार महाप्रजापति गौतमी तथा उसकी पांच सौ दासियाँ ही पहली स्त्रियाँ थीं जिन्होंने संसार का परित्याग कर भिक्षुणी संघ की स्थापना की। बुद्ध की धर्ममाता तथा राजा शुद्धोदन की दूसरी रानी गौतमी ही सबसे पहली स्त्री थी जिसने अपने केश कटवाकर भिक्षुणी के पीले वस्त्र धारण किये। बुद्ध उस समय कपिलवस्तु में निग्रोधाराम में थे। वह उनका दर्शन करने वहाँ गई और उनके सामने नत्मस्तक होकर उसने कहा : 'हे देव ! यदि स्त्रियों को संसार तथा अपने घरबार का परित्याग कर संघ की शरण में आने और तथागत द्वारा बताये गये नियमों का आचरण करने की अनुमति दे दी जाय तो बहुत अच्छा हो।' 'ओ गौतमी ! इतना बहुत है। मुझे इसके लिए लज्जित न करो कि स्त्रियों को संघ में लेने की अनुमति दे दी जानी चाहिये।' गौतमी ने यह प्रार्थना दुबारा तथा तीसरी बार फिर दोहरायी, किन्तु बुद्ध अपने निश्चय पर अड़े रहे और उन्होंने वही उत्तर दिया। तब

गौतमी अत्यन्त दुखी होकर रोती हुई वहाँ से चली गई। कुछ दिन बाद, बुद्ध वैशाली की ओर गये। वैशाली पहुँचने पर उन्होंने महादवन कुटागार भवन में आश्रय लिया। गौतमी वैशाली गयी जहाँ आनन्द ने उसे उस भवन के प्रवेश द्वार के नीचे प्रतीक्षा करता हुआ पाया। उसने उससे उसके आने का कारण पूछा कि वह इस प्रकार बुरी दशा में नंगे पैर, जो धूल से सने हुए थे, दुखी अवस्था में तथा रोती हुई यहाँ क्यों आई है। उसने उत्तर दिया कि तथागत ने स्त्रियों को भिक्षुणी बनने की अनुमति नहीं दी। तब आनन्द तथागत के पास गया और उसने यह कहते हुए महाप्रजापति गौतमी के आने की सूचना दी : 'भगवन्, यदि स्त्रियों को वैसा करने की अनुमति दे दी जाये जैसा कि वह चाहती हैं तो आपकी बड़ी कृपा होगी।' किन्तु बुद्ध ने कहा : 'आनन्द इतना पर्याप्त है। तुम तथागत को इसके लिए लज्जित न करो कि स्त्रियों को संघ में प्रवेश की अनुमति दे दी जाये।' आनन्द ने फिर यही प्रार्थना दूसरी तथा तीसरी बार दोहरायी और उसको वही उत्तर मिला। अन्त में आनन्द ने बुद्ध से अन्य शब्दों में इस प्रकार पूछा : 'भगवन्, क्या स्त्रियों को संसार तथा घरबार का परित्याग कर देने के बाद तथागत द्वारा बताये गये सिद्धांतों तथा अनुशासन का पालन करने के लिए संघ में आने पर सामूहिक मन्त्रणा (वार्तालाप) अथवा द्वितीय मार्ग अथवा तृतीय मार्ग अथवा अर्हत की स्थिति का लाभ उठाने का अधिकार है ?' 'बुद्ध ने उत्तर दिया : 'हाँ आनन्द, उनको इस प्रकार का अधिकार है।' 'भगवन्, यदि उनको यह अधिकार प्राप्त है और महाप्रजापति गौतमी ने तथागत की बड़ी सेवा की है—तथागत की माता की मृत्यु के बाद, तथागत को अपने ही स्तनों से दूध पिलाया है—तो यह कितना अच्छा हो कि स्त्रियों को संसार तथा घरबार का परित्याग करके संघ में शरण लेकर तथागत द्वारा बताये गये सिद्धांतों तथा अनुशासन का पालन करने की अनुमति दे दी जाये।'

'आनन्द, यदि ऐसी बात है तो महाप्रजापति गौतमी संघ के अष्ट मार्गों को शिरोधार्य कर उनका पालन करने की दीक्षा ले।'

अष्ट मार्ग

मुख्य आठ नियम ये थे :—

१. प्रत्येक भिक्षुणी को चाहे उसकी आयु सौ वर्ष ही क्यों न हो, प्रत्येक नये भिक्षु के सम्मुख प्रणाम करना होगा। (पहले महाप्रजापति गौतमी ने इस नियम का विरोध किया, किन्तु तथागत की इच्छा मानकर उसे यह स्वीकार करना पड़ा)
२. भिक्षुणी को वर्षा ऋतु ऐसे स्थान पर नहीं बितानी होगी जहाँ कोई भिक्षु न हो।

३. वर्षा ऋतु की समाप्ति पर प्रत्येक भिक्षुणी को, उसके द्वारा देखे गये, सुने गये, अथवा सोचे गये किसी भी दोष के लिए, भिक्षु संघ तथा भिक्षुणी संघ, दोनों से क्षमा-याचना करनी होगी।
४. पाक्षिक सभा (उपोसाथ) तथा प्रवचन (ओवाद) की तिथि निर्धारित करने से पूर्व प्रत्येक भिक्षुणी को भिक्षु से आदेश लेने होंगे।
५. कोई गम्भीर अपराध होने की स्थिति में प्रत्येक भिक्षुणी को दोनों संघों से क्षमा-याचना करनी होगी।
६. प्रत्येक भिक्षुणी को दो वर्षों तक ६ नियमों के पालन का अभ्यास कर लेने के बाद उपसम्पदा (बड़ी दीक्षा) के लिए दोनों संघों से अनुमति लेनी होगी।
७. भिक्षुणी को भिक्षु के दोष निकालने तथा बताने का अधिकार नहीं होगा, किन्तु भिक्षु भिक्षुणी को उसके दोष का ध्यान दिला सकता है।
८. भिक्षुणी को किसी भी भिक्षु के विषय में अपशब्द कहने का अधिकार नहीं होगा।[1]

भिक्षुणी संघ के लिए और भी कई नियम थे जिनका पालन करना भिक्षुणियों के लिए आवश्यक था। ये नियम बहुत ही कड़े थे। इन नियमों से उनकी पवित्रता, शुद्धता और मानसिक तथा आध्यात्मिक अनुशासन का नियमन होता था। उपर्युक्त नियम वास्तव में, प्रशिक्षण लेने वाली भिक्षुणियों के लिए होते थे।

भिक्षु संघों तथा भिक्षुणी संघों की व्यवस्था बुद्ध के लिए स्वभावतः चिन्ता का विषय बनी रहती थी, और इसीलिए उन्होंने भिक्षुणियों के लिए इतने कड़े नियम बनाये। इन नियमों के अनुसार भिक्षुणियाँ भिक्षुओं के अधीन रखी गई और इसलिए भिक्षुणियों के लिए भिक्षुओं के साथ सहवास आवश्यक-सा हो गया जिसका परिणाम बाद में बहुत ही बुरा निकला। कुछ समय पश्चात् बौद्ध भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के संघ भारत में लुप्त हो गये। ईसा की पाचवीं शताब्दी से स्त्रियों को बौद्ध संघों में लेने की प्रथा समाप्त हो गई।

जैन धर्म

महावीर बहुत ही उदार विचारवाले व्यक्ति थे और उन्हें जैन धर्म में स्त्रियों के प्रवेश के सम्बन्ध में कोई संकोच नहीं था। उनके अनुयायी चार वर्गों में बांट दिये गये थे—भिक्षु, भिक्षुणियाँ, गृहस्थ तथा गृहणियाँ।

---

[1] डा० बी० सी० ला रचित 'वोमेन इन बुद्धिस्ट लिट्रेचर'

जैन धर्म दो मुख्य पन्थों में बाँट दिया गया जो दिगम्बर तथा श्वेताम्बर पन्थों के नाम से प्रसिद्ध हैं। दिगम्बर पन्थ के अनुयायियों का कहना है कि स्त्रियों को मोक्ष नहीं मिल सकता। इसलिए वे संघ में स्त्रियों को नहीं लेते। किन्तु श्वेताम्बर पन्थ के अनुयायी पुरुष जिज्ञासुओं तथा स्त्री जिज्ञासुओं में कोई भेद नहीं करते और इसलिए संघ में प्रवेश करने के लिए दोनों स्वतन्त्र हैं। महावीर के समय में १४,००० पुरुषों की तुलना में ३६,००० स्त्रियों ने संसार का परित्याग कर भिक्षुणी धर्म स्वीकार किया। महावीर की दूर की बहन चन्दना (कुछ व्यक्तियों के अनुसार उनकी चाची) भिक्षुणी संघ की अध्यक्षा थी। वे भिक्षुणियाँ जिनमें पौमाबाई जैसी रानियाँ और धनी तथा प्रतिष्ठित महिलाएँ सम्मिलित थीं, अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखी जाती थीं।

परिच्छेद १६

बौद्ध तथा जैन सन्त महिलाएं

१. बौद्ध सन्त महिलाएँ

भारत के इतिहास में बौद्ध काल का अपना एक विशेष महत्त्व है जो अन्य देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार तथा अपनी मातृभूमि में बौद्ध जीवन तथा दर्शन के प्रसार के लिए समान रूप से विख्यात है। इस काल में कई भद्र तथा सन्त महिलाओं का प्रादुर्भाव होना इस युग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। गौतम बुद्ध के जीवन तथा उपदेशों से प्रेरणा लेकर इनमें से कई महिलाओं ने घरबार तथा परिवार का परित्याग कर नव-स्थापित भिक्षुणी-संघ में सम्मिलित होकर बौद्ध धर्म की दीक्षा ली जो सँसार में अपने प्रकार का पहला ही संघ था। ये भिक्षुणियाँ अपने आध्यात्मिक भाइयों 'भिक्षुओं' की भांति या तो आश्रमों में रहती थीं या परिव्राजिकाओं के रूप में देश-देशान्तरों का भ्रमण कर लोगों को सत्य तथा ज्ञान का उपदेश देती रहीं।

धर्म में स्वयँ अपनी आस्था तथा एकाग्रता का अधिक-से-अधिक विकास करना ही अन्य लोगों को आध्यात्मिकता की ओर स्वेच्छा से प्रवृत्त करने का सरलतम उपाय है। इसलिए, ये भिक्षुणियाँ जहां-कहीं भी गईं, वहाँ के लोगों पर इनके जीवन की पवित्रता तथा इनके आदर्शों का गहरा प्रभाव पड़ा और असंख्य लोगों ने इनके उपदेशों को सुना तथा हृदयंगम किया, और सागर की एक उत्ताल तरंग की भांति बौद्ध जीवन तथा दर्शन संसार के एक बड़े भाग पर छा गया और लोग इसकी ओर आकर्षित होते गये।

गोपा

इन बौद्ध भिक्षणियों में सर्वप्रथम स्थान गौतम बुद्ध (सिद्धार्थ) की पत्नी 'गोपा' को ही प्राप्त था। ज्ञान तथा बोध प्राप्त करने की लालसा से जब राजकुमार सिद्धार्थ एक दिन अर्द्धरात्रि के समय गोपा को उसके नन्हें शिशु के साथ सोती हुई अकेली छोड़-कर चले गये तो उसने न तो इस वियोग के लिए बहुत अधिक पछतावा ही किया और न उसने राजकुमार को इसके लिए दोष दिया, हालांकि दुःख उसको बहुत हुआ। वह अपने पति के हृदय की विशालता को भली-भाँति समझती थी जो संसार

एक अवसर पर स्वामी विवेकानन्द[1] ने, जो गौतम बुद्ध के सम्बन्ध में बहुधा स्मरण दिलाया करते थे, कहा, 'उनका एक सबसे बड़ा शिष्य स्वयं उनकी पत्नी ही थी जिसको भारत की महिलाओं में बौद्ध धर्म की चेतना भरने का सबसे अधिक श्रय प्राप्त है।'

किन्तु एक अन्य मत के अनुसार बौद्ध भिक्षुणी संघ का संगठन करने तथा उसकी स्थापना का श्रेय बुद्ध की विमाता गौतमी को ही दिया जाता है।

गौतमी (महाप्रजापति)

बुद्ध की माता 'मायादेवी' की 'गौतमी' नामक एक छोटी बहन थी जिसका विवाह भी राजा शुद्धोदन के साथ ही हुआ था। सिद्धार्थ का जन्म होने के सात दिन बाद ही जब मायादेवी की मृत्यु हो गई तो गौतमी अत्यन्त दुखी हुई और राजा भी अपने पुत्रतथा उत्तराधिकारी के पालन-पोषण के लिए बहुत ही व्याकुल तथा चिन्तित हो उठे। इसी समय कुछ दिनों पश्चात् गौतमी ने भी एक पुत्र को जन्म दिया। गौतमी के हृदयमें मातृहीन शिशु के लिए इतना अधिक वात्सल्य था और उसे अपने पति राजा के प्रति भी अपने कर्त्तव्य का इतना अधिक ध्यान था कि उसने अपने पुत्र के पालन-पोषण का भार तो एक धाय पर छोड़ दिया और माँ के हृदय की अपनी सारी ममता तथा वात्सल्य अपनी मृत बहन के पुत्र पर ही न्योछावर कर डालने का निश्चय किया। सिद्धार्थ भी उसको अपनी सगी माँ-जैसा ही प्रेम करता था। यद्यपि हम इससे इन्कार नहीं कर सकते कि राजकुमार सिद्धार्थ में भावी बुद्ध के जन्मजात गुणों के विकास के संकेत तो उसके बाल्यकाल में ही मिलने लगे होंगे, तथापि इसमें रत्ती-भर भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि उसमें जो-जो गुण बाद मे परिलक्षित हुए वे गौतमी के संस्कारों के ही परिणाम थे। वह तो उससे बहुत ही अधिक प्रभावित हुई और समय आने पर उसी के मार्गदर्शन तथा नेतृत्व में शाक्य वंश की ५०० महिलाएँ बुद्ध के पास गई और उन्होंने भिक्षुणियों के रूप में बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। उसने आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा की स्थिति प्राप्त की और अपना सम्पूर्ण जीवन नये धर्म के प्रचार में ही लगा दिया। बुद्ध को सम्बोधित करते हुए उसने 'थेरीगाथा' में लिखा : 'ओ सुगत, जब तुम शिशु थे, तब तुम्हें निरख कर तथा तुम्हारी मधुर तोतली वाणी को सुनकर मेरी आंखों तथा मेरे कानों को परम सुख प्राप्त होता था, किन्तु उसकी मेरे इस आनन्द से तुलना नहीं की जा सकती जो तुम्हारे आज के ज्ञानपूर्ण गूढ़ शब्दों को सुनकर मेरे हृदय में भारी उछालें भर रहा है।'

इन शब्दों से प्रकट हो जाता है कि गौतमी, बुद्ध की एक परम शिष्या होने के साथ-

[1]स्वामी विवेकानन्द "कम्पलीट वर्कस" खंड VII पृष्ठ ७६।

ही-साथ अन्त तक उनकी प्रिय माता भी बनी रही। उसे 'महाप्रजापति' की उपाधि से भी विभूषित किया गया और इस प्रकार इसी नाम की अन्य महिला शिष्या से उसे पृथक् करने के लिए विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया।

किसा गौतमी

गौतमी नाम की एक अन्य महिला एक गरीब घर में पैदा हुई जिसको उसके पति के सम्बन्धियों की ओर से बहुत ही बुरा व्यवहार प्राप्त हुआ। इस प्रकार यह दुबली-पतली तथा दुखी महिला बाद को 'किसा गौतमी' के नाम से प्रसिद्ध हुई—पाली भाषा का 'किसा' शब्द, संस्कृत भाषा के शब्द 'कृश' का ही अपभ्रंश है जिसका अर्थ है दुबला-पतला। किन्तु गौतमी के गर्भ से एक पुत्र का जन्म होने के फलस्वरूप उसके गृहस्थ जीवन में काफी कुछ परिवर्तन हुआ: उसके अतृप्त हृदय का सारा प्यार उसी नये शिशु में केन्द्रित हो गया और भविष्य के सम्बन्ध में उसमें एक नयी आशा तथा साहस का संचार हुआ और तब से वह केवल उसी सन्तान के लिए ही जीवित रही, किन्तु खेद है कि उसकी यह प्रसन्नता कुछ ही समय के लिए रही। एक दिन जब वह बालक बगीचे में खेल रहा था तो उसे एक जहरीले सांप ने काट खाया। वह वहाँ तुरन्त ही मर गया और किसा गौतमी फिर दुखिया-की-दुखिया ही रह गई। अपने छोटे बालक का शव अपने हाथों में लिये-लिये वह एक पागल औरत की भाँति ऐसी जड़ी-बूटी की खोज में घूमती रही जिससे उसका प्रिय पुत्र फिर से जीवित हो उठता। ठीक उसी समय गौतम बुद्ध तथा उनके शिष्य अकस्मात् उधर से निकले। उनके शान्त तथा तेजस्वी मुख को देखकर उसके हृदय में फिर से एक नयी आशा का संचार हुआ। उसने अपने पुत्र का शव उनके चरणों में रखकर रोते हुए उनके सामने घुटने टेक कर कहा, 'पुत्र के बिना सारा संसार मेरे लिए अँधेरा है। कृपया इसको पुनः जीवित कर मेरा दुःख दूर कीजिये।' बुद्ध ने उत्तर दिया, 'हे कल्याणी, उठो तथा जाकर एक तोले भर (औंस का दो-पंचमांश) सरसों के दाने ले आओ और मैं तुम्हारे पुत्र को पुनः जीवित कर दूंगा, किन्तु एक बात का ध्यान रखना कि सरसों के ये दाने ऐसे घर से आने चाहिये जिसमें कभी किसी की मृत्यु न हुई हो।' दुःख से पीड़ित तथा सरल हृदय वाली गौतमी को भगवान् बुद्ध के इन व्यंगपूर्ण शब्दों के पीछे छिपा हुआ गूढ़ अर्थ समझ में नहीं आया। एक मुट्ठीभर सरसों के दानों के लिए वह घर-घर गई, किन्तु उसे एक घर भी ऐसा न मिला जहां मृत्यु की छाया न पड़ी हो। अन्त में निराश होकर थकी-मांदी, गौतम बुद्ध के पास लौट कर आयी और अत्यन्त दुःख के साथ उसने बताया कि यद्यपि सरसों के दाने देने वाले तो उसे अनेक मिले परन्तु वह उनकी

यह शर्त पूरी न कर सकी कि ये दानें ऐसे घर से आने चाहिये जहाँ कभी किसी की मृत्यु न हुई हो। तब बुद्ध ने अत्यन्त नम्रता के साथ कहा, 'हे कल्याणी, संसार में जन्म तथा मृत्यु का चक्र इसी प्रकार चलता ही रहता है। जैसा कि तुम स्वय अभी देख चुकी हो यह दु:ख केवल तुम पर ही आकर नहीं पड़ा है।' भगवान् बुद्ध के इन शब्दों ने उसके आहत हृदय पर औषधि-जैसा चमत्कार कर दिखाया, निराशा के स्थान पर उसके हृदय में त्याग उत्पन्न हो गया और उसके हृदय की दारुण पीड़ा अब वैराग्य के रूप में परिणत हो गई। उसने अपने पुत्र का अन्तिम दाह-संस्कार किया और भगवान्-बुद्ध के उपदेशों के फलस्वरूप जीवन के एक नये दृष्टिकोण से आलोकित अपने हृदय में नयी उमंग लेकर उनके चरणों में आत्मसमर्पण कर दिया। इसके साथ-साथ घरबार तथा परिवार का परित्याग कर वह एक भिक्षुणी बन गई। समय बीतते जाने के साथ-साथ उसके हृदय में आध्यात्मिक ज्ञान का विकास होता गया और अन्त में वह अर्हत (मोक्ष की) स्थिति को भी प्राप्त हो गई।

सभी धर्मप्रवर्तकों ने इस बात पर बार-बार बल दिया है कि बाह्य आडम्बरों तथा बाह्य वातावरण में स्थायी शान्ति की खोज करना बड़ी मूर्खता है। बाह्य वातावरण तो केवल एक साधन होता है, जिसकी सहायता तथा जिसके उपयोग से हमें अपने जीवन को अपना एक लक्षित रूप देना होता है, और वह भी उसके सामने हथियार डाल कर नहीं बल्कि उससे आगे जाकर तथा उससे ऊपर उठकर। उपर्युक्त मार्मिक घटना से, जो जीवन के एक अत्यन्त सरल तथा वास्तविक सत्य से सम्बन्धित है, यदि वह उद्देश्य पूरा नहीं होता जिससे पुत्र की मृत्यु पर गौतमी के हृदय में ज्ञान की जागृति हुई तो यह घटना बिलकुल व्यर्थ ही रहती। उसकी युक्तियाँ भी 'थेरी गाथा' में लिपिबद्ध हैं और उसका जीवन उस शाश्वत् शान्ति का एक ज्वलन्त उदाहरण है जो आध्यात्मिक जीवन की अन्तिम परिणति के रूप में प्रकट होती है, इसी के आधार पर सत्य का एक सच्चा जिज्ञासु सुख-दु:ख की भावना से ऊपर उठ सकता है जो इस असार संसार की प्रत्यक क्षणभंगुर वस्तु के साथ उसकी प्रतिच्छाया की भाँति सम्बन्धित रहती है।

इस कथानक से पवित्र जीवन की आवश्यक विशेषताओं के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रमपूर्ण धारणाओं पर भी प्रकाश पड़ता है। एक साधारण मनुष्य की दृष्टि में भौतिक जीवन ही एकमात्र वास्तविकता है और वह रोगियों को रोगमुक्त करने तथा मृतकों को पुन: जीवित कर देने—जैसे चमत्कारों को ही मानवमात्र के लिए सबसे बड़ा वरदान मानने के अलावा और कुछ भी कल्पना कर ही नहीं सकता। किन्तु हम देखते हैं कि संसार द्वारा प्रेम तथा शान्ति के महानतम दूत के रूप में ही माने तथा देखे जाने वाले गौतम बुद्ध ने इस अथवा ऐसे किसी अवसर पर भी चमत्कारपूर्ण कार्य कर दिखाने

अथवा जादू टोने से किसी को रोगमुक्त करने की कभी कोई चेष्टा नहीं की । दूसरी ओर वह ऐसे चमत्कारपूर्ण कार्यों को सत्य की खोज में एक सबसे बड़ी बाधा के रूप में ही देखते आये हैं । एक बार उनके शिष्यों ने उनको एक ऐसे व्यक्ति के विषय में बताया जिसने बहुत अधिक ऊँचाई से एक अदृश्य पात्र अपने हाथ में रोक कर दिखाया था । बुद्ध ने वह पात्र लिया और उसे अपने पैरों से तोड़-फोड़ डाला तथा अपने शिष्यों से इस प्रकार के चमत्कारों पर कभी भी विश्वास न करने का अनुरोध किया । वह जो कुछ कहते-करते थे, उसमें मानव की मर्यादा से परे की कोई बात नहीं होती थी जैसा कि एक घटना से स्पष्ट रूप से प्रकट है कि उन्होंने एक बकरी की रक्षा के लिए अपना ही जीवन न्योछावर कर देने का प्रस्ताव रखा था । इसलिए, हम देखते हैं कि उनके अनुयायियों के जीवन में कोई असाधारण घटना अथवा बात को भी कोई महत्त्व न दिये जाने के ही प्रयास किये गये और इसी मे उनकी महान् शक्ति तथा उनका आत्मिक बल निहित है ।

सुप्रिया

सुप्रिया श्रावस्ती के 'अनाथ पिणाद' नामक एक सुप्रसिद्ध लखपती सामन्त की पुत्री थी । उसके माता-पिता ने उसका लालन-पालन अत्यन्त लाड़-चाव तथा विलासिता पूर्ण ढंग से किया था और उन्होंने अपनी लाड़ली पुत्री के पालन-पोषण तथा शिक्षा आदि पर अपना सारा वात्सल्य तथा धन न्योछावर कर दिया था । कहा जाता है कि वह असाधारण विद्वान थी । अपने बाल्यकाल में ही उसे अपने पूर्व जन्म की सारी बातें स्मरण थीं और अक्सर वह अपने विगत जीवन की कई घटनाओं का उल्लेख भी किया करती थी । गौतम बुद्ध की विमाता तथा मौसी 'महाप्रजापति गौतमी' ने सात वर्ष की किशोरावस्था में ही उसको बौद्ध धर्म की दीक्षा दी थी । सुप्रिया अपने गुणों तथा आध्यात्मिक ज्ञान के लिए काफी प्रसिद्ध थी किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह एकान्तप्रिया थी अथवा एकाकी जीवन व्यतीत किया करती थी । ध्यान, उपासना तथा पूजा-पाठ के कार्यक्रम के साथ-साथ वह रोगियों की सेवा-सुश्रूषा के कार्य में सहायता करने और गरीबों तथा अनाथ व्यक्तियों की देखभाल करने के लिए भी अपना कुछ-न-कुछ समय देती ही रहती थी । उसके बाल्यकाल की एक महत्त्वपूर्ण घटना से उसके नैतिक साहस तथा उसके चरित्र-बल का एक सुन्दर परिचय मिलता है जो आज भी हमारे लिये स्पष्ट रूप से स्मरणीय है ।

एक समय जब भगवान् बुद्ध जेतवन के विहार (मठ) में रह रहे थे, उस समय श्रावस्ती जैसे समृद्ध तथा विकासशील नगर में भयंकर अकाल पड़ा हुआ था । खाद्याभाव

के कारण पुरुष तथा महिलाएँ सूख कर केवल हड्डियों के ढाचे मात्र ही रह गये और वे अत्यन्त दुर्बल हो गये थे। इस प्रकार वे सरलता से रोगों के शिकार हो गये और नगर में चारों ओर मृत्यु का ही बोलबाला हो उठा। लोग हजारों की संख्या में मरते जा रहे थे और चारों ओर निराशा-ही-निराशा छाती चली जा रही थी। ऐसी कोई बात नहीं थी कि श्रावस्ती नगर अपने वासियों के लिए खाद्य-पदार्थ खरीदने के पर्याप्त साधनों से हीन तथा इस भयंकर संकट पर विजय प्राप्त करने में असमर्थ था, किन्तु स्वार्थ-परायणता तथा लोभ ने धनी-मानी नागरिकों के हृदयों को भी, जो खाद्य-पदार्थों तथा धन आदि से पर्याप्त सहायता कर सकते थे, कठोर बना दिया था। अपने साथी नागरिकों की कष्टपूर्ण स्थिति से विचलित न होकर उन लोगों को न तो अपने भाइयों की इस दुर्दशा की ओर ध्यान ही देने की चिन्ता हुई और न उन्हें उनकी हृदयविदारक तथा दर्दभरी चीत्कार ही सुनने का ध्यान हुआ जिससे नगर के वे सारे-के-सारे भाग बुरी तरह ग्रस्त थे जहाँ गरीब लोग रहते थे। दूसरी ओर, इस आशंका से कि गरीब लोग भुखमरी से तंग आकर कानून आदि की उपेक्षा कर कहीं अपने भाग्यशाली पड़ोसियों की सम्पत्ति तथा उनके जीवन के लिए ही संकट न उपस्थित कर दें, उन्होंने अपनी सुरक्षा के उपायों को और भी दृढ़ करना आरम्भ कर दिया।

एक दिन विहार के प्रवेशद्वार पर एक बालक औंधे मुंह अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण अवस्था मे पड़ा हुआ देखा गया। उसकी इस अत्यन्त दयनीय अवस्था को देखकर गौतम बुद्ध के प्रमुख शिष्य 'आनन्द' को बहुत ही दया आयी और उसने बुद्ध के पास जाकर उनसे कहा, 'आस-पास के लोग नगर में भूखों मर रहे है। ऐसी स्थिति में हमारे संघ (बौद्ध भिक्षुओं के संघ) का क्या कर्त्तव्य है ?' तथागत के उपदेश सुनने के लिए श्रावस्ती के कई धनी-मानी नागरिक वहाँ आये हुए थे और उस समय भी वे वहाँ उपस्थित थे। उनको सम्बोधित करते हुए बुद्ध ने कहा, 'आप सब सज्जन धनी तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति है। यदि आप चाहें तो आप लोग इस प्रकार मर रहे हजारों लोगों के जीवन की रक्षा कर सकते हैं।' तथागत के इन शब्दों को सुनकर प्रत्येक धनी-मानी व्यक्ति ने कुछ-न-कुछ बहाना बना दिया। कुछ व्यक्तियों ने कहा, 'हमारे अनाज के गोदाम खाली है।' अन्य ने कहा, 'श्रावस्ती एक बड़ा नगर है और यहाँ की जनसंख्या भी काफी है। सबको भोजन देना बिलकुल असम्भव है।' इस अवसर पर बुद्ध का अनन्य शिष्य 'अनाथ पिणाद' वहाँ उपस्थित नहीं था। तथागत ने चारों ओर देखा और फिर कहा, 'क्या यहाँ कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जो अपने भाइयों की इस भयंकर अकाल से रक्षा कर सके ?' किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया, किन्तु कुछ क्षण तक

स्तब्धता छाये रहने के बाद एक बालिका अपने स्थान पर खड़ी हुई और निर्भयता-पूर्वक तथा विश्वास के साथ बोलते हुए उसने कहा, 'हे देव, यह दासी आपकी आज्ञा-पालन के लिए उद्यत है। लोगों की सेवा करने में समर्थ होना एक बहुत बड़ा सौभाग्य है चाहे इसके लिए अपना जीवन ही क्यों न न्योछावर करना पड़े।' कहने की आवश्यकता नहीं, यह बालिका और कोई नहीं बल्कि इसी वृतान्त की नायिका 'सुप्रिया' थी। श्रोतागण विस्मित-से रह गये, किन्तु उन्होंने सोचा कि उस बालिका ने अपनी आयु का ध्यान न रखते हुए बिना कुछ सोचे-समझे ऐसे ही कुछ कह दिया था। तथागत ने उसकी बात पर हँसते हुए कहा, 'मेरी बच्ची, तुम इतने असंख्य लोगों का पेट कैसे भर सकोगी?' इस पर सुप्रिया ने उत्तर दिया, 'हे देव! आपकी कृपा से! मेरा भिक्षा-पात्र कभी भी खाली नहीं होगा। यह भूखों को भोजन देगा और मरते हुओं को पुनः जीवन-दान। और श्रावस्ती का अकाल कुछ ही समय में एक बीती हुई घटना-मात्र रह जायेगा।'

सुप्रिया के अमृत-जैसे मधुर वचनों को सुनकर 'आनन्द' का हृदय आनन्द से विभोर हो उठा और बालिका को आशीर्वाद देते हुए उसने कहा—'बालिका के रूप में, हे माँ, भगवान् अमिताभ तुम्हारी हृदय की मनोकामना पूरी करें।' तथागत ने भी उसे आशी-र्वाद दिया और तब सभा विसर्जित हो गई।

यह समाचार कि अनाथ पिणाद की पुत्री तथा महाप्रजापति गौतमी की प्रिय शिष्या 'सुप्रिया' ने श्रावस्ती से अकाल की स्थिति समाप्त करने का व्रत लिया है, दावानल के समान नगर भर में तुरन्त ही फैल गया। लोगों के कठोर हृदयों में भी दया का वास हो गया और उन सब में एक नया उत्साह छा गया। सबने एक स्वर में कहा, 'सुप्रिया का भिक्षा-पात्र खाली नहीं रहेगा।' सुप्रिया भिक्षा लेने के लिए घर-घर गई। मानवता के प्रति उसका प्रेम प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में गुंजारित हो ही चुका था और नगर का प्रत्येक पुरुष, महिला तथा बालक-बालिका उसकी सहायता करने के लिए तैयार थे। प्रभात होने के साथ-साथ जिस प्रकार रात्रि का घनघोर अन्धकार हटता चला जाता है, उसी प्रकार सुप्रिया के ज्वलन्त व्यक्तित्व ने प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में फिर से विश्वास तथा आशा का संचार कर दिया। इस प्रकार श्रावस्ती का अकाल समाप्त हो गया और अपने इसी कार्य के कारण वह बौद्ध साहित्य के ग्रन्थों में सदा-सदा के लिए अमर हो गई।

पटाचारा

पटाचारा का जन्म श्रावस्ती के एक व्यापारी-परिवार में हुआ था। उसके पूर्ण

यौवन प्राप्त कर लेने पर उसके माता-पिता ने उसके योग्य एक सुन्दर, चरित्रवान तथा उनकी जैसी सामाजिक स्थिति वाले नवयुवक वर की खोज की, किन्तु पटाचारा उसके साथ विवाह नहीं करना चाहती थी। उसने अपनी रुचि के ही एक नवयुवक के साथ अपना विवाह किया। इससे उसके पिता-माता क्रुद्ध हो गये और वह अपने माता-पिता के घर तथा नगर को छोड़कर अपने पति के साथ रहने के लिए किसी अन्य स्थान को चली गई।

कई वर्ष बीत गये। दो पुत्रों की माता बनने के बाद पटाचारा ने एक बार फिर अपने माता-पिता के दर्शन करने चाहे। इसलिए, अपने पति तथा बच्चों के साथ वह श्रावस्ती क लिए चल पड़ी। मार्ग में जब वे लोग एक वन में से होकर जा रहे थे उसके पति को एक जहरीले सांप ने काट खाया। आस-पास से कोई चिकित्सा सुलभ न हो सकी और उसका पति मर गया। अपनी शक्ति-भर इस अनपेक्षित क्षति को सहन करके बुरी तरह रोती हुई पटाचारा ने अपनी यात्रा आगे जारी रखी, किन्तु दुर्भाग्य ने अभी-भी उसका पीछा नहीं छोड़ा। उसके बच्चे जब एक वृक्ष की छाया में सोये पड़े थे कि एक जंगली पक्षी आया और छोटे बच्चे को उठाकर ले गया, किन्तु दुर्भाग्य का यहीं पर अन्त नहीं हुआ। उसका बड़ा पुत्र भी एक छोटी नदी पार करते समय उसकी तेज धारा में बह गया। इस प्रकार उसके दुःख का घड़ा ऊपर तक भर गया। अपने छोटे-से परिवार के सभी सदस्यों को खोकर पटाचारा अत्यन्त दुखी हुई और बिना कुछ समझे-बूझे कि वह क्या करे, पागलों की भाँति आगे बढ़ती चली गई। उसका हृदय इतना भारी हो चुका था और वह इतनी बेसुध हो गई थी कि उसे इस बात का कोई भान ही नहीं रहा कि वह किधर जा रही है। दुःख की इस घड़ी में भी उसे जो अन्तिम आशा लगी हुई थी, वह थी अपने माता-पिता से पुर्नमिलन की। किन्तु, ईश्वर के प्रिय व्यक्तियों को सभी प्रकार के सांसारिक मोह तथा ममता को छोड़ कर केवल 'उसी' पर आश्रित रहना सीख लेना चाहिये, और यह सीखने के लिए पटाचारा को सम्भवतः एक और निराशा का सामना करना बदा था।

इस समय तक वह श्रावस्ती नगर के निकट आ चुकी थी, किन्तु यहाँ पहुंचने पर उसे अपने बाल्यकाल वाला घर नहीं मिला। पूछने-ताछने पर उसे पता चला कि उसकी अनुपस्थिति में उसके माता-पिता के घर की छत गिर पड़ी थी और उसके माता-पिता, दोनों-के-दोनों उस मकान के मलवे के नीचे दब गये थे। इस समाचार को पाकर तो उसके होश-हवास बिलकुल ही गायब हो गये और वह जोरों से फूट-फूट कर बिलखती हुई तथा मिलने वाले प्रत्येक व्यक्ति से अपनी आप-बीती सुनाती हुई नगर में ही चारों ओर चक्कर लगाती रही।

उस समय भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में थे। दुखिया पटाचारा उनके पास पहुंची और उनके चरणों में गिरकर उसने अपने सभी प्रिय स्वजनों की मृत्यु का समाचार सुनाया। बुद्ध ने उसे सान्त्वना देते हुए उपदेश दिया कि संसार में जीवन किसी भी प्रकार से स्थायी नहीं है। उनके उपदेश से उसे शान्ति मिली? उसने संघ में शरण ली और वह बौद्ध भिक्षुणी बन गई। इसके बाद उसने अपना जीवन मानवता की सेवा में, नये धर्म के प्रचार-कार्य में तथा अपने साथी अन्य लोगों से, धर्म के अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करने का अनुरोध करने में व्यतीत किया। अपनी जीवन-पर्यन्त साधना में उसे इतनी अधिक आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हुई कि वह हजारों नर-नारियों के सन्तप्त हृदयों को शान्ति प्रदान करने में असाधारण रूप से समर्थ हुई। पिटक में बताया गया है कि ५०० महिलाओं की सभा में उपदेश देते हुए पटाचारा के शब्दों से उन पर इतना अधिक गहरा प्रभाव पड़ा कि वे सब-की-सब भगवान् बुद्ध की दीक्षित शिष्या बन गई। सार्वजनिक रूप से भाषण (उपदेश) देकर ही इतने अधिक व्यक्तियों को प्रभावित करना इतिहास की एक अद्भुत घटना है, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके शब्दों को जो इतना बल प्राप्त हुआ, वह उसके पवित्र जीवन तथा चरित्रबल के कारण ही सम्भव हुआ था। पटाचारा एक ऐसी भिक्षुणी का ज्वलन्त उदाहरण है, जिसने अपने जीवन को सामान्य सांसारिक स्तर से ऊपर उठाकर आध्यात्मिक आनन्द तथा शाश्वत शान्ति की इस स्थिति तक स्वयं अपने ही प्रयास के बल पर पहुंचाया, और वह अन्य लोगों का भी पवित्र, सुन्दर तथा सच्चरित्र जीवन बिताने के मार्ग का मार्ग-दर्शन करने में सफल हो सकी।

अम्बपाली

वैशाली नगर में 'अम्बपाली' नामक एक सुन्दर वेश्या रहा करती थी। उसके पास काफी धन तथा सम्पत्ति थी। इस सम्पत्ति में से सबसे अधिक ख्याती प्राप्त सम्पत्ति नगर के बाहर स्थित एक बड़ा उद्यान था जो 'आम्र-वन' अथवा 'आम्रकुंज' के नाम से प्रसिद्ध था।

देश का भ्रमण करते हुए भगवान् बुद्ध तथा उनके शिष्य एक बार इस ओर भी आये। उद्यान के शान्त तथा शीतल वातावरण ने उनको अपनी ओर आकर्षित किया, और इस स्थान को अपने निवासस्थान के उपयुक्त समझ कर उन्होंने आम के पेड़ों के छायादार कुंज में अपना शिविर स्थापित करने का निश्चय किया। उनके आगमन का समाचार सुन अम्बपाली उनके दर्शनार्थ वहां गई। उसकी पोशाक तथा रत्न आदि तो साधारण थे किन्तु उसकी सुन्दरता की बहुत दूर-दूर तक ख्याति थी। बुद्ध ने

जब उसको अपनी ओर दूर से आते देखा तो वह सोचने लगे, 'अपनी सुन्दरता के अति-रिक्त, जिसके कारण बड़े-बड़े राजा-महाराजा तथा राजकुमार भी इसके वश में हो जाते हैं, वह अत्यन्त शान्त तथा धीर है। इस प्रकार की औरतें संसार में मिलनी वस्तुतः बहुत कठिन हैं।'

तथागत के समक्ष साष्टांग दण्डवत् की स्थिति में नमस्कार कर अम्बपाली शालीनता के साथ अत्यन्त आदरपूर्वक उनके निकट बैठ गई, और उसकी आस्था तथा विश्वास को देखकर भगवान् बुद्ध ने उसको धर्म का उपदेश दिया। उनके तेज तथा प्रतिभा को निरख कर उसकी सभी सांसारिक वासनाएँ लुप्त हो गईं, अम्बपाली का हृदय शुद्ध तथा पवित्र हो गया और उसको उनके उपदेश में अटूट श्रद्धा उत्पन्न हो गई। उसने तब तथागत से कहा, "हे देव! कल अपने शिष्यों के साथ मेरे से भिक्षा ग्रहण कर मुझे कृतार्थ करें।" तथागत ने अपनी मौन स्वीकृति दी। इसके कुछ ही समय बाद कुछ धनी नवयुवक सौदागर बहुमूल्य पोशाकें पहने तथा रत्न आदि धारण किये हुए अपने-अपने रथों पर बैठ कर वहां आये और उन्होंने अगले दिन तथागत को अपने यहाँ भोजन का निमन्त्रण दिया, किन्तु भगवान् बुद्ध अम्बपाली का निमन्त्रण पहले ही स्वीकार कर चुके थे। इसलिए, उन्हें उनका निमन्त्रण अस्वीकार करना पड़ा। उन्होंने अम्बपाली के निमन्त्रण को रद्द करवाने का भरसक प्रयत्न किया और उन्होंने तथागत को बहुमूल्य रत्न आदि देने का भी प्रलोभन दिया, किन्तु तथागत जब अपना साम्राज्य ही त्याग चुके थे, तो इस प्रकार की भौतिक सम्पत्ति के सहज प्रलोभन में वह कैसे आते और इस प्रकार अम्बपाली का ही निमन्त्रण कायम रहा।

अगले दिन अपनी योजना के अनुसार भगवान् बुद्ध अपने शिष्यों के साथ अम्बपाली के घर गये। एक लम्बे-चौड़े मैदान तथा एक सुव्यवस्थित उद्यान के बीच अम्बपाली का विशाल तथा भव्य भवन था जो किसी राजा-महाराजा के महल से किसी अर्थ में भी न कम ठाट-बाट का था और जो विलासी जीवन की सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं से भी भली-भाँति पूर्णतया सज्जित था। तथागत के स्वागत में भवन तथा उद्यान, दोनों ही खूब सजाये गये थे और उनके भोजन के लिए विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ तैयार की गई थी। उनके भोजन करने के उपरान्त अम्बपाली ने हाथ जोड़ कर उनसे कहा, "हे देव! मैं यह भवन, उद्यान, वस्त्र, रत्न-आभूषण आदि अपना सर्वस्व संघ के चरणों में समर्पित करती हूँ। इस तुच्छ भेंट को स्वीकार करके मेरे हृदय की मनोकामना पूरी करने की कृपा करें।"

तथागत ने अम्बपाली की भेंट स्वीकार कर ली और उसको अपनी शिष्या

बनाया। तथागत कुछ ही दिनों बाद वैशाली से चले गये किन्तु अम्बपाली अपने नगर के लोगों की सेवा के लिए वहीं रुकी रही। धर्म के अनुसार उसके नियमों के पालन में उसने अपना शेष जीवन दीन-दुखियों की सेवा करने में और अपने आचरण तथा विचारों में अधिक-से-अधिक पवित्रता लाने के प्रयास करने में बिताया। यद्यपि एक बार वह वेश्यावृत्ति-जैसा अधम व्यवसाय अपना चुकी थी, तथापि अब वह अपने जीवन को सुधारने तथा मानवता की महानता प्रकट करने में अपने वातावरण का उपयोग करने में सर्वथा सक्षम सिद्ध हुई।

संघमित्रा

संघमित्रा भारत के महान् सम्राट् अशोक की पुत्री थी। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि वह उसकी बहन थी, किन्तु वे, इस भारतीय परम्परा के विरुद्ध जिसके अनुसार संघमित्रा अशोक की पुत्री ही ठहरायी जाती है, कोई प्रामाणिक तथ्य प्रस्तुत नहीं करते।

बौद्ध धर्म स्वीकार करने के बाद अशोक ने अपना शेष जीवन धर्म के प्रचार में ही लगा दिया। बौद्ध धर्म, राष्ट्र-धर्म घोषित कर दिया गया, पशु-पक्षियों के वध का निषेध कर दिया गया, सारे राज्य-भर में पशु-पक्षियों के चिकित्सालय तथा मनुष्यों के लिए उपचारालय स्थापित कर दिये गये और निर्धनों तथा सुपात्र लोगों को खाद्यान्न तथा वस्त्रादि बांटे गये। सरकार की ओर से एक नया सार्वजनिक धार्मिक शिक्षा-विभाग स्थापित कर दिया गया, मठों को अनुदान तथा सरकारी सहायता दी गई और धर्म के पठन-पाठन का कार्य तीव्र गति से आरम्भ कर दिया गया। मन्दिरों तथा मठों की दीवारों पर, चट्टानी पहाड़ियों की चोटियों तथा स्तम्भों पर, कस्बों तथा नगरों में, सार्वजनिक चहल-पहल के स्थानों और भारत के कोने-कोने में निर्जन स्थानों तथा संसार के अन्य देशों तक में इस धर्म-परायण सम्राट् के नैतिक तथा धार्मिक आदेशों और आज्ञाओं को खुदवा कर लिपि-बद्ध कर दिया गया। सम्राट् के नियन्त्रण तथा संरक्षण में स्थान-स्थान पर सभाओं तथा सम्मेलनों का आयोजन किया गया जिनमें विद्वान भिक्षुओं तथा संन्यासियों ने धार्मिक समस्याओं पर परस्पर विचार-विमर्श किया, देश में एक छोर से दूसरे छोर तक सन्त-महात्माओं तथा योग्य उपदेशकों के उपदेश आदि करवाये गये और इन्हें बौद्ध धर्म के नये आचार-विचारों तथा सिद्धान्तों के प्रचार और प्रत्येक जीव-मात्र के प्रति प्रेम की भावना का उपदेश देने के लिए विदेशों में भी भेजा गया।

संघमित्रा तथा उसके भाई महेन्द्र की शिक्षा पर उनके पिता ने विशेष ध्यान दिया। इस समय राजकुमार की आयु २० वर्ष तथा राजकुमारी की आयु लगभग १८ वर्ष की थी। दोनों सुन्दर, मृदुभाषी, बुद्धिमान तथा अत्यन्त विनम्र स्वभाव के थे। भिक्षुओं के साथ उनके निकटतम सम्पर्क और उनके वातावरण की नैतिकता तथा आध्यात्मिकता की उन दोनों के सुकुमार हृदयों पर गहरी छाप पड़ी, उनमें धर्म के प्रचार कार्य के प्रति अपने पिता से कम उत्साह नहीं था और उनको यह कार्य अपने पिता की भाँति ही रुचिकर भी था।

एक बार जब अशोक ने अपने पुत्र को अपने उत्तराधिकारी के रूप में राजसिंहासन पर आरूढ़ करना चाहा तो एक उपदेशक उसके पास आया और बोला, "धर्म के आप ही तो सच्चे मित्र हैं जो अपनी सन्तानों को भी इस कार्य के लिए सदा उन्मुख कर सकते हैं।" सम्राट् ने उसकी बात पर ध्यान देकर अपने पुत्र तथा पुत्री की ओर अत्यन्त प्रेमभरी दृष्टि से देखते हुए उनसे पूछा, "क्या तुम दोनों जीवन-पर्यन्त निर्धनता, पवित्रता तथा संसार की सेवा में ही अपना जीवन बिताने के लिए उद्यत हो?" सम्राट् के इस प्रश्न पर पवित्र तथा सुकुमार हृदय वाले महेन्द्र तथा संघमित्रा की प्रसन्नता की कोई सीमा न रही। संघ की सेवा करने की परम अभिलाषा उनके हृदय में पहले से ही गुंजरित हो रही थी, किन्तु अब तक वे दोनों यही सोचा करते थे कि राजपरिवार में जन्म लेने के बाद उनके कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों के कारण उन्हें संसार का परित्याग करने की अनुमति नहीं मिल सकेगी। अब सम्राट् के इस प्रश्न को सुनकर वे दोनों एक-ही स्वर में बोल उठे, "यह हमारा परम सौभाग्य होगा यदि हमें भगवान् बुद्ध द्वारा दिये गये सार्वभौमिक प्रेम तथा शान्ति के सन्देश का प्रसार करने की सहर्ष अनुमति प्रदान की जाये। आप यदि हम लोगों को अपनी अनुमति देते हैं तो हम दोनों संघ में सम्मिलित होकर मानव जीवन के उद्देश्य तथा लक्ष्य की प्राप्ति में अपना भी योगदान दे सकेंगे।"

अपने पुत्र तथा अपनी पुत्री के मुंह से इन त्याग भरे शब्दों को सुनकर अशोक का हृदय प्रसन्नता से प्रफुल्लित हो उठा। उसने संघ को तुरन्त यह सन्देश भिजवा दिया कि अशोक ने अपनी दोनों सन्तानें भगवान् बुद्ध (तथागत) की सेवा में अर्पित कर दी हैं। यह समाचार बिजली की तरह पाटलिपुत्र नगर तथा मगध साम्राज्य में शीघ्रता के साथ फैल गया, और लोगों ने इस महान् निश्चय और माता-पिता तथा उनकी सन्तानों की इस निस्वार्थ सेवा परायणता की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

महेन्द्र को 'धर्मपाल' और संघमित्रा को 'आयुपाली' के नये नाम से विभूषित

किया गया। दोनों ने संघ की दीक्षा ग्रहण कर ली और भगवान् बुद्ध के पद-चिह्नों का अनुसरण करना आरम्भ कर दिया। ३२ वर्ष की आयु पार कर लेने पर महेन्द्र को सिंहल द्वीप अथवा श्रीलंका द्वीप भेजा गया। श्रीलंका का तात्कालिक सम्राट् 'तिष्ठा' आध्यात्मिक ज्ञान तथा तेज के प्रकाश से प्रदीप्त महेन्द्र के सुन्दर मुख को देखकर अत्यन्त विस्मित हुआ। श्रीलंका के सम्राट् ने अनन्य आदर तथा भक्ति के साथ उसका स्वागत किया, और उसके साथ राजकीय अतिथि-जैसा व्यवहार किया गया। महेन्द्र ने अपने उपदेश आरम्भ किये और हजारों नर-नारियाँ उसके अनुयायी हो गये।

कुछ समय पश्चात् श्रीलंका की राजकुमारी अनुला तथा उसकी ५०० सहेलियों न अपने-अपने घरबार तथा परिवारों का परित्याग कर बौद्ध भिक्षुणी संघ में शरण लेने का निश्चय किया। इस प्रकार बौद्ध धर्म में परिवर्तित इन नयी भिक्षुणियों की शिक्षा तथा इनके प्रशिक्षण के लिए उपयुक्त महिला उपदेशिका का खोजा जाना अत्यन्त आवश्यक हो गया था। महेन्द्र ने विचार किया कि इस अत्यन्त कठिन परिश्रमसाध्य कार्य के लिए उसकी बहन बहुत ही उपयुक्त सिद्ध होगी और इसलिए, उसने अपने पिता से यह लिखकर पूछा कि सिंहली महिलाओं में प्रचार-कार्य करने क लिए क्या वह संघमित्रा को सिंहली द्वीप भेज सकेंगे? संघमित्रा ने जब अपने भाई के इस अनुरोध की बात सुनी तो उसको अत्यन्त प्रसन्नता हुई और वह तुरन्त अपने नये गन्तव्य स्थान के लिए चल पड़ी।

भारत के इतिहास में यह पहला ही अवसर था जब एक महान् सम्राट् की पूर्ण रूप से प्रशिक्षण-प्राप्त तथा शिक्षित पुत्री एक अन्य देश की महिलाओं को शान्ति तथा प्रेम के सन्देश का पाठ पढ़ाने के उद्देश्य से विदेश गई। भारत के तत्कालीन लोगों ने इस समाचार का कितने उत्साह के साथ स्वागत किया होगा, आज हमारी कल्पना से बहुत परे की बात है। यह कहा जाता है कि जब संघमित्रा सिंहल द्वीप पहुंची तो द्वीपवासी उसकी तेजस्वी पवित्रता, उसके अत्यन्त त्यागपूर्ण परिधान और उसकी भौहों तथा मस्तिष्क पर स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ने वाली शान्ति तथा शालीनता को देखकर बहुत ही आश्चर्यचकित हुए और किसी चित्रित चित्र के मूक तथा गतिहीन पात्रों की भांति स्तम्भित-से रह गये। उसने शीघ्र ही एक भिक्षुणी संघ की स्थापना की और भिक्षुणियों के प्रशिक्षण का भार अपने ऊपर ले लिया। भाई तथा बहन, दोनों के अथक परिश्रम के परिणामस्वरूप सारे-के-सारे श्रीलंका द्वीप पर बौद्ध धर्म का साम्राज्य हो गया। द्वीप के मध्य में अनुराधापुर नामक एक महान् नगर बसाया गया। बड़े-बड़े स्तूपों तथा मीलों-लम्बे पत्थर के

भवनों के खण्डहरों से हमे उनके तात्कालिक विकास की स्थिति का दर्शन होता है। ध्यानावस्थित बुद्ध अथवा उपदेश देते हुए बुद्ध अथवा निर्वाण प्राप्त करते हुए बुद्ध की अनेकों विशालकाय मूर्तियां गढी गई और ये मूर्तिया हमे आज भी बौद्ध काल की समृद्धि तथा विकासोन्मुख स्थिति का स्मरण कराती है।

'महावंश' नामक एक बौद्ध ग्रन्थ मे लेखक कहता है, 'सघमित्रा ने पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था। द्वीप के अपने निवास-काल मे उसने धर्म के प्रचार के लिए कई प्रशंसनीय कार्य किये। उसकी मृत्यु के अवसर पर सिहल के सम्राट् ने उसकी स्मृति के अनुकूल बहुत ही प्रभावपूर्ण ढंग से उसका अन्तिम दाह-सस्कार किया।'

दो हज़ार वर्ष बीत चुके हैं, किन्तु महेन्द्र तथा सघमित्रा द्वारा प्रज्वलित प्रेम तथा सत्य के दीप आज भी श्रीलका द्वीप मे प्रज्वलित हो रहे है।

२. जैन सन्त महिलाएँ

जैन धर्म की सन्त महिलाओं का उल्लेख उसके दोनो मुख्य पन्थों— श्वेताम्बर तथा दिगम्बर पन्थो—के साहित्य मे मिलता है। यद्यपि इनमें से कुछ केवल काल्पनिक हैं, तथापि शेष वास्तविक रूप से ऐतिहासिक पात्र है। ये सन्त महिलाएँ ऐतिहासिक हों अथवा न हों किन्तु यह तो निश्चित ही है कि जैन धर्मावलम्बियों को, चाहे वे भिक्षु रहे हो अथवा साधारण गृहस्थ, कई पीढ़ियों तक इनसे प्रेरणा प्राप्त होती रही।

जैन धर्म मे श्रेष्ठतम आदर-भाव माता-पिताओं को ही दिया जाता है और जैनियों ने विशेषकर २४ तीर्थंकरों की माताओं के प्रति अधिकतम आदर-भाव प्रदर्शित किया है। आबू, गिरनार तथा अन्य स्थानों के जैन मन्दिरों में ऐसे शिलापटों की आज भी पूजा-उपासना की जाती है जिनमें ये माताए अपनी गोदों मे अपने-अपने शिशुओं को लिए बैठी दिखायी गई है।

'मरुदेवी' प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की माता थी। उसने जब यह सुना कि उसके पुत्र ने पुरीमताल नगर में 'कैवल्य-ज्ञान' प्राप्त कर लिया है तो वह हाथी पर चढ़कर अपने पूरे राजपरिवार के साथ उसको देखने गई। तीर्थंकर की आध्यात्मिक प्रतिभा से वह इतनी अधिक प्रभावित हुई कि वह एकदम ध्यानावस्थित की स्थिति को प्राप्त होकर समाधिस्थ हो गई।

मल्लिनाथ, जो एक राजकुमारी थी, उन्नीसवीं तीर्थंकर हुई। श्वेताम्बर जैनियों का कहना है कि वह मिथिला (आज का बिहार) के शासक कुम्भा की पुत्री थी और बहुत ही सुन्दर तथा विदुषी थी। कई राजा-महाराजाओं ने इससे विवाह करना

चाहा, किन्तु उसके पिता ने उन्हें विवाह की स्वीकृति न दी। इस अस्वीकृति से वे लोग क्रुद्ध हो गये और उन्होंने मिथिला पर भयंकर रूप से आक्रमण कर दिया। मल्लि के पिता जब पराजित ही होने वाले थे, तो उसने अपने पिता से सभी राजाओं को उसके कमरे में बुलाये जाने की अनुमति देने की प्रार्थना की जिससे वह उन सबसे मिल सके। उन लोगों ने ज्यों ही कमरे में प्रवेश किया त्यों ही अत्यन्त सुन्दर मल्लि को वहाँ खड़े देखकर वे लोग आश्चर्यचकित रह गये। कुछ ही देर में खड़ी हुई आकृति जितनी ही सुन्दर एक दूसरी आकृति ने दूसरे द्वार से कमरे में प्रवेश किया, और उनको यह बता कर कि उन लोगों ने पहले जो-कुछ देखा था, वह उसकी केवल एक स्वर्ण-प्रतिमा ही थी, उनका भ्रम दूर कर दिया। उसने तब प्रतिमा के सिर का ढक्कन खोला और उस प्रतिमा से दुर्गन्ध निकली। वह प्रतिमा खोखली थी और उसमें कुछ दिनों तक खाद्य वस्तुएँ भर कर रखी हुई थीं जो राजाओं के देखने के समय तक सड़-गल चुकी थी। मल्लि ने तब उन राजाओं को बताया कि उसके बाह्य सौन्दर्य के पीछे भी वैसा ही सड़ा-गला तत्व है। उसने उनको यह भी बताया कि वह सांसारिक सुख-भोग का परित्याग कर साधुनी बनने जा रही थी। यह सुन कर राजा-महाराजा बहुत पछताये। उन्होंने भी यह अनुभव किया कि वास्तविक शान्ति पवित्र आचरण तथा पूजा-उपासना के परिणामस्वरूप ही प्राप्त हो सकती है। इसलिए, उन्होंने अपना-अपना राज्य अपने-अपने उत्तराधिकारियों को सौंप दिया और मल्लि के पद-चिह्नों का अनुसरण कर वे लोग भी साधु बन गय।

यह स्वाभाविक ही था कि महिलाओं क प्रति आदर के भाव और महावीर द्वारा अभ्यास किये गये तथा बताये गये त्यागपूर्ण जीवन के आदर्शों से युक्त जैन धर्म में कई भिक्षुणियों का प्रादुर्भाव हो। जैन भिक्षुणी-संघ बौद्ध भिक्षुणी-संघ से अधिक प्राचीन मालूम होता है। इनमें से कुछ प्रसिद्ध जैन भिक्षुणियों के विषय में नीचे बताया गया है :—

(१) 'आर्य चन्दना' महावीर की समकालीन थी। यह धार्मिक विचारों-वाली महिला थी। यह महावीर की सर्वप्रथम महिला शिष्या तथा उनके जैन भिक्षुणी-संघ की अध्यक्षा बनी।

(२) 'जयन्ती' राजा शतानीक की बहन थी। यह महावीर के उपदेश सुना करती तथा उनके साथ जीवन तथा मरण की समस्याओं पर विचार-विमर्श किया करती थी। अन्त में इसने राजसी सुख-सुविधाओं से युक्त राजमहल के जीवन का परित्याग कर भिक्षणी-संघ में शरण ली।

(३) 'मृगावती' राजा शतानीक की सुन्दर रानी थी। इसको इसके सतीत्व तथा जौहर के प्रतीक-स्वरूप ही प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसकी सुन्दरता की ओर आकर्षित होकर उज्जयिनी के राजा 'प्रद्योत' ने शतानीक के कौशाम्बी राज्य पर आक्रमण कर दिया। शतानीक बीमार हो गया और अभी युद्ध चल ही रहा था कि उसकी मृत्यु हो गई। मृगावती ने अपनी घोषणा में बताया कि राजा अस्वस्थ हैं। सेना का नेतृत्व इसने स्वयं अपने हाथ में ले लिया और शत्रु को खदेड़ कर ही इसने राजा की मृत्यु का समाचार दिया। सेना थक चुकी थी और अब वह शत्रु की अपार शक्ति का और समाना करने में असमर्थ थी, इसलिए, मृगावती ने अपनी चालें बदल दीं और वह राजा के साथ इस शर्त पर चलने को तैयार हो गई कि वह उसके राज्य के चारों ओर चारदीवारी बना दे और उसके नवयुवक पुत्र 'उदयन' को एक स्वतन्त्र शासक के रूप में उसके राज सिंहासन पर आसीन कर दे। जब यह सब कुछ हो गया तो यह महावीर की सभा में गई और इसने प्रद्योत की सहमति से जैन भिक्षुणी बनने की अपनी इच्छा व्यक्त की। प्रद्योत जिस पर महावीर के उपदेशों का प्रभाव पड़ ही चुका था, उस समय अन्य सदस्यों के साथ उसी सभा में उपस्थित था। भूतकाल की अपनी भूलों के लिए प्रायश्चित करते हुए उसने उत्तम जीवन बिताने का निश्चय किया। उसने मृगावती के भिक्षुणी बनने पर अपनी सहमति भी तुरन्त दे दी; यही नहीं उसने अपनी कुछ रानियों को भी जैन भिक्षुणी संघ में सम्मिलित हो जाने की अनुमति दे दी और इन्हें स्वयं महावीर के हाथों ही दीक्षा लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

(४) 'स्थूल भद्र' (महावीर के लगभग १५० वर्ष बाद) की सात बहनें, यक्ष तथा अन्य सभी, जैन भिक्षुणियाँ बन गईं।

(५) 'याकिनी महत्तरा' ईसा की सातवीं शताब्दी की एक अत्यन्त विलक्षण तथा प्रतिभावान विदुषी थी। जैन धर्मग्रन्थों को प्रकाश में लाने का श्रेय अन्य भिक्षुणियों से अधिक इसी को प्राप्त है। इसने हरिभद्रसूरी नामक विद्वान ब्राह्मण को शास्त्रार्थ में हराया जिसने इसको अपना गुरु मान लिया और जैन धर्म स्वीकार कर लिया। हरिभद्र एक बहुत बड़ा जैन विद्वान हुआ जिसने आचारशास्त्र, योग तथा तर्कशास्त्र पर कई ग्रन्थ, प्राचीन ग्रन्थों की टीकाएं तथा कई कहानियाँ लिखीं। उसने जैन-सम्प्रदाय का सुधार भी किया। इस तथ्य से कि यह महान् विद्वान् अपने को जैन 'भिक्षुणी याकिनी' का पुत्र कहलाने में गर्व का अनुभव करता था, कोई भी समझ सकता है कि इसमें कितनी अधिक प्रतिभा होगी।

(६) 'गुणा साध्वी' एक बहुत-ही उच्च कोटि की तथा महान् विद्वत्तावाली

भिक्षुणी थी जिसका जन्म ईसा की ६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ था। ६०५ ई० में इसने सिद्धर्षि के अलंकारिक ग्रन्थ 'उपमितभव: प्रपंच-कथा' की पहली प्रतिलिपि तैयार की।

(७) १११८ ई० में 'महानन्दाश्री महत्तरा' तथा 'गणिनी वीरमती' नामक दो भिक्षुणियों ने जिनभद्र के 'विशेष-ग्रावश्यक-भाष्य' पर एक बहुत लम्बी टीका तैयार करने में 'मलधारि हेमचन्द्र' की काफी सहायता की।

(८) १३५० ई० में 'गुणसमृद्धि महत्तरा' ने 'ग्रँजना-सुन्दरी-चरित्र' शीर्षक प्राकृत ग्रन्थ की रचना की।

वौद्ध भिक्षुणी संघ के विपरीत, जिसकी प्रथा ईसा की पांचवीं शताब्दी के बाद समाप्त हो गई, जैन भिक्षुणी-संघ ग्राज भी जीवित है। ये भिक्षुणियाँ पवित्र, तेजस्वी तथा त्यागी होती हैं। ये प्रत्येक जीव को कोई हानि न पहुंचाने के ग्रपने ग्रादर्श के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। उपवास रखना इनकी एक योग्यता मानी जाती है, उपवास की ग्रवधि जितनी ग्रधिक हो, उनकी उतनी ही ग्रधिक योग्यता समझी जाती है। बहुत-सी महिलाग्रों ने, विशेष कर कर्नाटक में, 'सल्लेख' के व्रत (व्रत द्वारा मृत्यु) का पालन किया क्योंकि यह सबसे ग्रधिक योग्यता का परिचायक समझा जाता है।

परिच्छेद १७

बर्मा की एक पवित्र महिला——मि-काम्रो-बु

पन्द्रहवीं शताब्दी में रामम्न भूमि (लोग्रर बर्मा) एक ऐसे प्राणी के जीवन काल से धन्य हो गयी जिसके जीवन तथा शासन से भावी सन्तति के लिए, विशेषकर बर्मा के स्त्री-समाज के लिए, एक ऐसी पैतृक सम्पत्ति प्राप्त हुई जिसको आंकना बिल्कुल असम्भव ही है। वह प्राणी जितना ही दयालु तथा सहृदय था, उतना ही वह शक्तिशाली तथा निर्भय भी था। यद्यपि वह ही एकमात्र ऐसी रानी थी जिसको शासन की बागडोर सीधे उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थी और जिसने कभी इन पर शासन किया, तथापि उसको एक महान् शासक के रूप में उतना स्मरण नहीं किया जाता जितना कि एक आदर्श माता के रूप में। बर्मावासियों की दृष्टि में वह आज भी जीवित हैं तथा सदा उनके निकट ही रहती हैं, और संकट तथा कष्ट के समय में उसका अनजाने ही ध्यान हो आता है।

एक ऐसे प्राणी के विषय में लिखना जिसको अपने देश के लोगों के हृदयों में इतना उच्च स्थान प्राप्त है, मेरे लिए बहुत कठिन है। मैं केवल इतना ही कर सकता हूं कि मैं उसके जीवन की एक झांकी पर प्रकाश डालूं। तनासरीम में मोन भाषा में ताड़ के पत्रों पर लिखे हुए ऐतिहासिक अभिलेखों से उसके जीवन पर प्रकाश पड़ता है।

७७५ के माघ मास के कृष्ण-पक्ष की १२वीं तिथि को बुधवार के दिन हंसावतोई (पेगु) के सम्राट् 'राजाधिराज' तथा सम्राज्ञी 'शुद्धमाया' के घर एक पुत्री का जन्म हुआ जो अंग्रेजी पंचांग के अनुसार १३९३ की २५ जनवरी को पड़ती है।

अपनी दादी द्वारा मि-काम्रो-बु का नाम पाकर अपने नाम को पूर्ण रूप से सार्थक करते हुए उसका पूर्ण विकास होता गया——'मि' अर्थात् मां, 'काम्रो' अर्थात् पौत्री तथा 'बु' अर्थात् सुन्दर। सुन्दर पौत्री के रूप में उसे अपनी वृद्धा दादी के जीवन के अन्तिम वर्षों को सुखमय बनाना था, और अपनी अवस्था में उसे स्वयं मां बनना था, जिसके हृदय में थके-मांदे यात्रियों के लिए विश्राम का स्थान था, और 'श्याक दगूं' नामक बड़े पगोडा में उसकी सन्तानों (हमारे) के लिए रखे उसके चमकीले उत्तराधिकार का उद्देश्य हमें कल्पना के लोक में सबसे ऊंचे

पहुंचाने के लिए प्रेरणा देना था कि हम नित्य-प्रति के अपने जीवन की छोटी-छोटी बातों से ऊपर उठें ।

वह जब सात वर्ष की थी, उसके पिता की चाची दगू रंगून के निकटस्थ राज्य से उसे मिलने के लिए आयी । मोह-माया से निर्लिप्त दिखायी पड़ने वाली उसकी दादी भी अपने भतीजे की छोटी-सी सुन्दर बच्ची के प्रति आकर्षित हुए बिना न रह सकी । उसने राजाधिराज से इस बच्ची को अपने साथ अपने राज्य में ले जाने की अनुमति देने का अनुरोध किया जिससे वह इसकी ओर बौद्ध धर्म तथा संस्कृति के अनुसार अधिक-से-अधिक ध्यान देकर इसका पालन-पोषण कर सके । राजधिराज की सहमति से वह इसको अपने घर ले गयी जिससे वह अपने द्गु राज्य की भावी उत्तराधिकारिणी के रूप में इसे पदासीन कर सके । द्गु राज्य में मि-काम्रो-बु का उसके नये घर में पालन-पोषण हुआ । वह अपनी किशोरावस्था में ही उस राज्य की संस्कृति के आदर्शों के अनुरूप अपना जीवन व्यतीत करने लगी तथा उसके समझे बिना उन्हीं आदर्शों के अनुरूप उसका स्वतः विकास होता गया । एक सुकुमार उपजाऊ भूमि में एक नए स्वस्थ बीज की भांति उसकी दादी के नित्य-प्रति के जीवन की छाप उसके जीवन पर पड़ती रही और इस प्रकार इस बच्ची का वहां उत्तरोत्तर विकास होता गया, जिसको बाद में एक अद्वितीय तथा पवित्र फूल के समान एक सर्व-गुण-सम्पन्न सन्त के रूप में संसार के सामने आना था ।

धीरे-धीरे समय बीतता गया और आनन्द-प्रसन्नता के एक प्रेरणा-स्रोत के रूप में वह अपने पिता की चाची के अन्तिम काल को सुखमय बनाती चली गई । मि-काम्रो-बु अभी १२ वर्ष की ही थी कि उसकी दादी द्गु का राज्य उसके लिए छोड़कर स्वर्ग सिधार गयी । इसके तुरन्त बाद राजधिराज ने अपनी पुत्री को हंसावतोई राज्य वापस बुला लिया और जब वह २० वर्ष की हो गयी तो उसके पिता ने उसका विवाह मत्तमापति (मतबान) 'स्मिन सेतु' नामक एक सम्बन्धी के साथ कर दिया । मत्तमा राज्य में उसने एक युवती वधु के रूप में प्रवेश किया । पांच वर्षों तक वह यहां सुखमय विवाहित जीवन बिताती रही और इस अवधि में उसने तीन सन्तानों को जन्म दिया । दुर्दिनों के आने से पूर्व तक उसका इस प्रकार समय बीतता गया । २५ वर्ष की आयु में मि-काम्रो-बु अपनी तीन सन्तानों के साथ विधवा हो गयी । दुख की इस घड़ी में उसका ध्यान तथा मन द्गु की ओर गया और वह वहां वापस आ गयी । जहां वह अपनी सन्तानों के साथ कुछ समय तक रही । उसकी देखभाल का कार्य उसका छोटा भाई 'बय्य राम' करता रहा ।

द्गु के वापस आने के समय तक उसके पिता अभी भी हंसावतोई पर राज्य कर

रहे थे, किन्तु कुछ ही समय बाद एक घाव के विषाक्त हो जाने के कारण उनकी मृत्यु हो गयी, और उसका बड़ा भाई 'बय्य किम' गद्दी पर बैठा। राजधिराज की मृत्यु के उपरान्त उसके राज्य में शान्ति कायम न रह सकी, इसलिए अपने बड़े भाई के संरक्षण में रहने के लिए वह अपनी सन्तानों तथा अपने छोटे भाई के साथ हंसावतोई चली गयी। उस समय हंसावतोई पर 'बय्य किम' राज्य कर रहा था।

हंसावतोई से अक्सर वह पचास मील दूर स्थित 'क्याक दगु' की तीर्थयात्रा पर चली जाया करती थी।

आवा का राजा 'तिहातु' चार सेनापतियों की अधीनता में गुप्त रूप से सेना भेजने के लिए पहले से ही चालें चल रहा था। इन सेनापतियों को हंसावतोई तथा दगुं के बीच एक ऐसे निर्जन तथा सुनसान स्थान पर पड़ाव डालने का आदेश दिया गया जहां वे मि-काम्रो-बु तथा उसके साथ जाने वाले अन्य सभी व्यक्तियों के उधर से निकलने पर उन सब को पकड़ लें और उन्हें आवा ले आयें।

निश्चिन्त होकर आराम से धीरे-धीरे कदम रखते हुए अपना मार्ग तय करने में इस वन्य प्रदेश से होकर गुजरते समय अपने आस-पास से गुप्त रूप से निकलने वाले लोगों को आते-जाते देख उसको कुछ भी आश्चर्य न हुआ। थोड़ी ही देर में घोड़ों की हिनहिनाहट तथा हाथी के भारी पांवों से भूमि के रौंदे जाने के शब्द उसे सुनाई पड़े और तब उसे बहुत अधिक विस्मय होने लगा। अपनी स्थिति को समझने-बूझने का उसे समय भी न मिल पाया था कि उसने अपने आपको तथा अपने सभी साथियों को सेना के घेरे में घिरा हुआ पाया और इस समय उनका बच निकलना बिल्कुल ही सम्भव रह गया था। वह तथा उसके सभी साथी उत्तर की दिशा में आवा राज्य की ओर चलने के लिए बाध्य हो गये।

एक बर्मी दन्तकथा के अनुसार इस प्रकार वह राजा तिहातु के राज्य में आवा लायी गयी। राजधिराज की मृत्यु के बाद दोनों भाइयों में एक विवाद उ खड़ा हुआ। तिहातु आया और उसने मित्रतापूर्वक यह विवाद निपटा दिया। इस कृपा के बदले में इसके दोनों भाइयों ने तिहातु के प्रति अपना आभार प्रकट करते हुए उससे उऋण होने के लिए मि-काम्रो-बु का तिहातु के साथ विवाह कर दिया।

२९ वर्ष की आयु में मि-काम्रो-बु औपचारिक रूप से तिहातु की प्रमुख रानी बनी। ऐसी कठिन तथा जटिल परिस्थितियों से युक्त वातावरण में उसे भी उतनी ही कठिनाई हुई जितनी कि अन्य किसी भी व्यक्ति को होती। सौभाग्यवश उसकी प्रवृत्ति सदा बौद्धिक कार्यों की ओर ही अधिक रहती थी। इस प्रकार उसने अपने

को अध्ययन-अध्यापन में व्यस्त किये रखा । अपने नित्य-प्रति के जीवन मे वह राजमहल की स्त्रियों के अध्यापन तथा मार्गदर्शन में लगी रही जिसके कारण इस राज्य में उसके पांच वर्षों के आवास काल में संस्कृति आदि का काफी विकास हुआ ।

आवा में उसके पहुंचने के बाद एक-दो वर्षों में ही तिहातु की एक अन्य रानी ने राजा के एक शत्रु के साथ मिलकर राजा की उस समय हत्या कर डालने का षड्यन्त्र रचा जिस समय वह झील के खुदाई-कार्य के निरीक्षण में व्यस्त था। उसकी मृत्यु पर उसका सबसे बडा पुत्र गद्दी पर बैठा, किन्तु उसी रानी ने उसके भोजन में विप मिलवाकर उसे भी मौत के घाट उतार दिया। इस प्रकार उस रानी को अपने ही पुत्र को गद्दी पर बैठाने की योजना को सफल होते देख बहुत ही आनन्द हुआ, किन्तु यह अभागा राजा बहुत थोड़े ही समय शासन कर सका क्योंकि मोहन्यीन के राज्यपाल ने शीघ्र ही आवा पर चढ़ाई कर दी और नवयुवक राजा को हराकर उससे आवा की गद्दी छीन ली। इसी समय ३४ वर्ष की आयु मे मि-काओ-बुको बचकर रामय्य निकल भागने का एक सुअवसर हाथ लगा ।

यद्यपि उसने अपने-आपको व्यस्त रखना ही श्रेयस्कर समझा, तथापि उसे ऐसा नही लगा कि वह वहां अधिक समय तक रह सकेगी, क्योंकि उसका ध्यान सदा दक्षिण की ओर अपने घर तथा सन्तानों की ओर ही लगा रहता था। उसकी दासियां उसको बहुधा दक्षिण की ओर स्थित खिड़की के पास खड़ी तथा सामने की ओर दूर तक देखती हुई ही पातीं। आकाश में मडराते हुए घने बादलों को देख कर वह मान भाव से उनसे उसके भाई के पास सन्देश ले जाने का विचार प्रकट करती कि वे जाकर उसके भाई से कह दें कि वह घर ही वापस आना चाहती है।

अकस्मात् उसके अपने प्रदेश की ओर के दो ब्रह्मचारी घूमते-घामते आवा आये, मानो ये उसकी प्रार्थनाओं के फलस्वरूप ही आये हों। राजा की अनुमति से उसने इन दोनों ब्रह्मचारियों को भोजन के लिए आमन्त्रित किया। इनसे जब उसने यह सुना कि उसके बड़े भाई की मृत्यु हो चुकी है और उसके स्थान पर छोटा भाई ही राज्य कर रहा है, तो उसने इनको अपनी हार्दिक इच्छा कह सुनायी कि वह घर वापस जाना चाहती है और इन दोनों ब्रह्मचारियों ने ही उसके भाग निकलने की योजना बनायी ।

हंसाबतोई पहुंचने पर उसके भाई ने उसका बड़े प्रेम से स्वागत किया और उसको उसकी तीनों सन्तानों के साथ अपने राजमहल के निकट ही एक घर में ठहरा दिया जहां वह शान्तिपूर्वक कई वर्षों तक रही और उसकी सन्तानों का

अब उसी प्रकार पालन-पोषण होने लगा जिस प्रकार उसका अपना पालन-पोषण उसकी वृद्धा दादी के महल में हुआ था। यहां वह काफी लम्बे समय तक शान्ति-पूर्ण जीवन व्यतीत करती रही। अपनी सन्तानों के पालन-पोषण के अतिरिक्त अपना बचा हुआ समय वह भिक्षुओं, निर्धनों तथा अनाथ व्यक्तियों की सेवा में लगाती जिसके लिए वह सदा से लालायित रहती आई थी। केवल इतना ही नहीं, जब उसके भाई की मृत्यु हो गयी और उसका कोई उत्तराधिकारी न रहा तो ५० वर्ष की आयु में उसने हंसावतोई का राज-काज स्वयं सम्हाला। लोगों को उस पर अटूट श्रद्धा तथा पूरा विश्वास था।

उसका एक पुत्र छोटी आयु में ही मर गया था। उसकी बड़ी पुत्री का विवाह एक राजकुमार के साथ और छोटी पुत्री का विवाह 'धम्मसेटी' नामक एक विद्वान व्यक्ति के साथ कर दिया गया। अपने शासनकाल में उसे धम्मसेटी पर पूरा तथा अटूट विश्वास बना रहा जो उसको राजकीय मामलों की व्यवस्था आदि में बहुत परामर्श तथा सहायता किया करता था।

उसने अपनी बड़ी पुत्री तथा जामाता राजकुमार को फसेम (बसीन) भेजा जहां उन्हें नगर की रक्षा के लिए किलों आदि का निर्माण करने तथा उत्तर से आक्रमण होने की स्थिति में सेना से सज्जित होकर तैयार रहने का आदेश दिया गया। रानी से लगभग सभी प्रकार की सुविधाएं पाकर राजकुमार हंसावतोई पर आक्रमण करने की तैयारी करने लगा क्योंकि वहां उसे धम्मसेटी की बढ़ती हुई शक्ति असह्य हो उठी थी। यह समाचार गुप्त न रह सका और मि-काम्रो-बु ने इस योजना को आरम्भ में ही कुचल देने की व्यवस्था की। रानी ने अपनी पुत्री को वापस बुला लिया और उसके (पुत्री के) पहुंचने पर उसे (पुत्री को) बन्दी बना लिया गया। रानी की सेना फसेम की ओर चल पड़ी और वहां एक भीषण द्वन्द्व युद्ध में राजकुमार मार डाला गया। अपने पति की मृत्यु का समाचार सुन कर राजकुमारी के दुख का ठिकाना न रहा। उसने 'क्याक द्गु' जाने की अनुमति मांगी और वहां पहुंचने पर उसने अपने केश कटवा कर श्वेत वस्त्र धारण किये और व्रत लेकर वह एक भिक्षुणी की भांति रहने लगी।

एक दिन जब मि-काम्रो-बु पालकी में बैठी कहीं जा रही थी तो उल्टी दिशा से एक वृद्ध पुरुष उसकी ओर आता हुआ दिखायी दिया। उसकी पालकी ढोने वालों ने उस वृद्ध पुरुष को हट जाने के लिए कहा, किन्तु वह न हटने के लिए कटिबद्ध लगता था। और वह निस्संकोच भाव से सीधा उसकी ओर बढ़ आया तथा उसकी ओर देखता हुआ बोला, 'ओह, यह वही वृद्धा रानी है।' इन शब्दों

के साथ ही वह व्यक्ति तुरन्त अन्तर्धान हो गया। कोई भी यह न जान सका कि वह व्यक्ति किस दिशा में गया। रानी के अन्तर्मन में अनुभव हुआ कि कोई दयालु 'देवता' उसके लिए मनुष्य का रूप धारण कर इसीलिए आया था कि उसको मित्रतापूर्ण ढंग से यह स्मरण करा दिया जाये कि वह अब वृद्धा हो गयी है और उसे संसार तथा घर बार का परित्याग कर अपना जीवन अब भजन-भाव में ही बिताना चाहिए।

कुछ वर्ष और बीत जाने के बाद उसने अपने मन्त्रियों से राजसिंहासन से अवकाश ग्रहण करने तथा धम्मसेटी को अपना उत्तराधिकारी बनाने की बात बतायी। इस प्रकार धम्मसेटी (रामाधिपति) हंसावतोई का राजा बना। उसका शासनकाल अपनी सब से लम्बी अवधि और शान्ति तथा समृद्धि के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसने न्याय तथा शान्ति के साथ भली प्रकार शासन किया और बर्मा के राजाओं की भाषाओं में उसका नाम सब से पहले आता है, जो एक बहुत ही योग्य शासक था। उसने ऐसे सभी विधानों को रद्द कर दिया जो समयानुकूल नहीं थे तथा नयी परिस्थिति को देखते हुए अन्य कई नये विधान बनाये। ऐसे किसी भी शान्ति-पूर्ण तथा समृद्धि काल में धर्म तथा कला खूब फलते-फूलते हैं। धम्मसेटी के शासन-काल में ऐसे बहुत से स्मारकों तथा भवनों आदि का निर्माण किया गया जो रामण्य राज्य में आज भी विद्यमान हैं तथा उस समय का स्मरण कराते हैं।

दुर्ग के लिए प्रस्थान करते समय उसने इन शब्दों में सबसे विदा ली: 'अपना जीवन तथा अपने कार्यों के लिए धर्म के नियमों को ही अपना आधार बनाते हुए दया तथा न्यायप्रियता के साथ शासन करिए। जैसा कि सभी शासकों के लिए बनाया गया है: निर्वाण के द्वार आपके लिए स्वयं अपने आप ही खुल जाएंगे।' क्या इन शब्दों से हमें जीवन के चिरन्तन सत्य का बोध नहीं होता? क्या यह सत्य नहीं है कि न्यायप्रियता, 'अपरिग्रह' तथा 'निर्धनता' के फलस्वरूप ही उत्पन्न होती है? अपरिग्रह का पालन करने पर व्यक्ति को स्पष्ट रूप से विचार करने तथा न्याय-अन्याय का सही पता लगाने वाली दृष्टि प्राप्त होती है: इसलिए इसमें से 'न्याय' उत्पन्न होता है। और इसमें 'निर्भयता' कैसे आ सकती है? हम में 'अहं' जितना कम होगा, उतनी ही हम में निर्भयता आएगी। 'अहं' को निकाल फेंकने का सरलतम उपाय यही है कि हम 'आदर्श' की ओर आगे बढ़ें। इसलिए 'अपरिग्रह' से स्पष्ट तथा सही 'न्याय' का जन्म होता है तथा 'निर्भयता' से इस प्रकार से प्राप्त 'न्याय' को कार्यान्वित करने के साहस तथा बल का। इस प्रकार इन दोनों मुख्य गुणों से ही 'न्यायप्रियता' का जन्म होता है। और हम में

'दया' कैसे उत्पन्न हो सकती है। यह हम में उसी रूप मे प्रकट होती है—कम अथवा अधिक—जिस रूप में हम उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करते है। अब हमें यह देख लेना चाहिए कि शासक के लिए धर्म के नियम क्या हैं: उसके राज्याधिकार में शोषण तथा अतिक्रमण का दमन करना और शोषित तथा सताये हुए व्यक्तियों की रक्षा करना आता है। चुने गये शासक के रूप में उसके अधिकारों के साथ-साथ उसके दायित्व भी उतने ही हो जाते है और इसके लिए उसको अथक परिश्रम तथा साधना करनी होती है।

मि-काम्रो-बु राज्य का शासन कार्य धम्मसेटी के हाथ मे छोड़ रही थी क्योंकि वह अनुभव कर चुकी थी कि अब उसे इसमें नहीं पडना चाहिए। राज्य का भार सम्हालने के बाद उस पर अनेकों उत्तरदायित्व तो आ ही गये पर इतना ही नही, उसे तो अभी बहुत से कार्य करने थे। उत्तरदायित्व तो केवल निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के साधन-मात्र होते है, न कि स्वयं लक्ष्य। क्या वह निर्वाण की प्राप्ति के लिए साधनके रूप में उत्तरदायित्वों (कार्यों) के पालन के महत्व पर बल नहीं देरही थी ?

लोग उसके चले जाने पर बहुत दुखी थे और वह भी एक ऐसे अभाव के लिए जिसकी पूर्ति असम्भव थी। सारा नगर शोकमग्न था। वह अपने जाने के प्रति लोगों की प्रतिक्रिया पर भी ध्यान दिये बिना न रह सकी, और इसलिए उसने नगर में ढिंढोरा पिटवा दिया कि जो चाहे, उसके साथ चल सकता है। वह जैसे ही चलने को हुई तो तीन-चौथाई जनता भी उसके साथ चलने को तैयार हो गयी। यह एक बड़ा उत्तरदायित्व था, किन्तु उसने किसी को रोका नही। गन्तव्य स्थान पर पहुंचने पर उसने सब को आश्रय दिया और सब-के-सब वहां बस गए।

तब उसके सेवामय जीवन का सूत्रपात हुआ—सेवाकार्य तथा प्रार्थना के पूरे दस वर्ष का जीवन। उसने पगोडा के निर्माण-कार्य का बड़े ध्यान से स्वयं निरीक्षण किया और इसके निर्माण में उसने अपने सारे विचारों तथा भावनाओं को ठीक उसी प्रकार से मूर्त रूप दिया जिस प्रकार एक चित्रकार अपनी भावनाओं को अपने चित्र में उड़ेलता है। इस समय तक यह पगोडा बहुत छोटा तथा अपूर्ण था, किन्तु अब उसने अपना सारा समय तथा अपने समस्त साधन इस पगोडा को पूर्ण रूप से संवारने तथा इसे पूरा करने मे लगा दिये। उसने उस समय सम्भवतः शायद यह न सोचा हो, किन्तु आज हमें तो यही लगता है कि उसका ध्यान प्रार्थना तथा उपासना की ओर मोड़ देने में 'देवता' का उद्देश्य यही रहा होगा कि भावी सन्ततियों के लिये भगवान् के स्मारक का निर्माता तथा स्थापत्यकार बनने का श्रेय उसी को प्राप्त हो।

आज के 'क्याक द्गु' की प्रत्येक रेखा और आकृति तथा उसकी रचना की भव्यता-सुन्दरता में हमें 'मि-काग्रो-बु' की आत्मा के ही दर्शन होते है, जिस दर्शन से हमें उसके चरित्र-बल तथा चारित्रिक सौन्दर्य का पूर्ण आभास मिलता है और हमारे सामने यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि सौन्दर्य केवल शक्ति में ही परिलक्षित होता है।

७५ वर्ष की आयु में अपने लक्षित कार्य को पूरा कर और इस कार्य के द्वारा भगवान् की उपासना करके वह अपने पार्थिव शरीर को छोड कर अन्त मे 'उसमें' ही विलीन हो गयी। अपने अन्तिम क्षणों में उसने अपने आस-पास खडे लोगों से अपनी शय्या उस खिड़की के पास ले जाने को कहा जहा से वह 'उसकी' समाधि को देखती रह सके, और 'उसकी' ओर अपना सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित करते हुए वह अन्त में 'उसमे' ही पहुंचकर विलीन हो गयी। इस प्रकार एक ऐसे जीवन का अन्त हो गया जो प्रारम्भ में तो आनन्दपूर्ण तथा चिन्ताओं से मुक्त था, किन्तु बाद को विभिन्न परीक्षाओं तथा संकटों मे से होकर गुजर चुका था। जैसा प्रत्येक मानव-मात्र के लिए स्वाभाविक होता है, और अन्त मे एक ऐसी स्थिति को पहुंच गया जो दूसरों के प्रति प्रेम करने वालो के लिए आशीर्वाद स्वरूप है।

यद्यपि पांच शताब्दियाँ बीत चुकी है, तथापि उसका 'मि-काग्रो-बु' नाम जो बर्मी लोगों मे 'शिन शा बु' के नाम से प्रचलित है, आज भी जीवित है और यह लोगों को अभी-भी बहुत प्रिय है। सम्पूर्ण बर्मा देश मे यह नाम प्रेम, आदर तथा भक्ति के साथ लिया जाता है। उसको बन्दी बनाये जाने वाले स्थान पर जाकर लोग आज भी उसके जीवन के अनेक पुण्य-प्रसंगों का स्मरण कर उनका अभिनय करते हैं और भक्ति की भावनाओं से विभोर हो उठते है।

उसके सम्पूर्ण जीवन पर एक दृष्टि दौड़ाते हुए हम यही अनुभव करते है कि आवा में उसको बलपूर्वक ले जाया जाना तथा बन्दी बनाया जाना और उसके साथ-साथ उसके अत्यन्त कष्टपूर्ण क्षण, उसके जीवन में यों ही व्यर्थ नहीं गये बल्कि उनका भी अपना महत्व है। यदि उसका जीवन केवल एक साधारण सुखमय दाम्पत्य जीवन ही होता तो, मैं कह सकता हूं कि, वह एक साधारण स्त्री की भांति ही मर गयी होती। किन्तु जैसा कि उसके जीवन में घटा, उसके जीवन में आये उतार-चढ़ावों तथा इसके साथ-साथ उसके दुख-दर्द ने उसके सामने जीवन के नग्न सत्य को खोल कर रख दिया, और विषम परिस्थितियों का अत्यन्त यथार्थपूर्ण ढंग से सामना करने में उसे सेवा तथा परोपकार के द्वारा अपनी कठिनाइयों की ओर से अपना ध्यान दूसरी ओर मोड़ देने तथा निश्चित,

परन्तु अनजान 'निर्वाण' की ओर स्वयं अग्रसर होने में उसे सहायता मिली। इस दृष्टि से देखते हुए तिहातु तो उसके लक्ष्य की प्राप्ति में केवल एक निमित्त-मात्र रूप में ही आया क्योंकि इसी घटना से जीवन की कठिनाइयां उसके सामने प्रकट हुई और उसी से वह परोपकार तथा पर-सेवा में लगकर ही मुक्ति पा सकने में समर्थ हुई। इसी प्रकार, उसके जीवन की अन्य दुखपूर्ण घटनाओं ने भी उसके लक्ष्य को समीप लाने में सहायता ही दी।

विषम परिस्थितियों तथा कठिन परीक्षण-काल में भी, जबकि एक साधारण स्त्री तो अपनी सुध ही खो बैठती, मि-काम्रो-बु को अपने ऊपर पूरा-पूरा विश्वास रहा और वह अपने निश्चय पर अटल तथा दृढ़ रही। उस समय भी जब वह अत्यधिक दुखी थी, अपने को शान्त तथा सौम्य भाव से परोपकार तथा पर-सेवा में ही लगाये रखने के उसके कार्य से हमें अपने कठिन-से-कठिन क्षणों में भी बल तथा शक्ति प्राप्त होती है। महान विषादपूर्ण तथा विकट आपदाओं से घिरे क्षणों में भी वह एक शक्तिमान तेज पुंज की भांति शान्त दिखायी पड़ती है जो हमें अपने कष्टों को झेलकर शक्ति का अधिक-से-अधिक संचय करने का आवाहन देती है, और विकास की दिशा में एकमात्र यही एक मार्ग हमारे लिए सर्वोत्तम है।

प्रसिद्धि, धन-सम्पत्ति, सगे-सम्बन्धी तथा संसार की अन्य कोई भी वस्तु, शक्ति की तुलना में तुच्छ ही है। शक्ति से हीन होने पर संसार की सुन्दरतम वस्तु भी अपना सौन्दर्य खो बैठती है। शक्ति-सम्पन्न होने की स्थिति में जीवन की सामान्य-से-सामान्य तथा तुच्छ-से-तुच्छ वस्तु को भी आकर्षण-शक्ति प्राप्त होती है।

भाग ३

ईसाई धर्म की सन्त महिलाएँ

परिच्छेद १८

ईसाई या मसीही धर्म में नारी का स्थान

परिचयात्मक

पाइथागोरस का यह मत था कि 'स्त्रियां सामुदायिक रूप से भक्ति की ओर स्वभावतः अधिक आकृष्ट रहती हैं'। उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि उसने अपने नैतिक सिद्धान्तों का तत्व थेमिस्टोविलया नामक एक डेल्फिक (डेल्फिक की आकाशवाणी से सम्बन्धित) पुजारिन से ग्रहण किया था। तब यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि मानव की धार्मिक गति-विधियों में नारी का स्थान पाश्चात्य जगत् में बहुत पहले मान्यता प्राप्त कर चुका था। पाइथागोरस से पाये इस उत्तराधिकार को ही अफ़लातून (प्लेटो) अपनी पुस्तक 'परिसंवाद' (सिम्पोज़ियम) में डियोटिमा और सुकरात (साक्रेटीज़) के संवाद के रूप में धनीभूत करता दृष्टिगोचर होता है। बाद में मसीही धर्म के आगमन के साथ ही गिरजों के आरम्भिक पादरियों ने ग्रीक दार्शनिक विचार-धारा में प्लेटो की विचार-धारा को ही सैद्धान्तिक वाहन का आधार बनाया--नई शराब के लिए पुराने पात्र लिये—जो कि नये धर्म को ज्ञानात्मक रूप देने की प्रक्रिया में, आवश्यक गुणों को तनिक हानि पहुंचाये बगैर, बड़ी सरलता से स्वीकार किये जा सकते थे।

इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि मसीही धर्म अपनी आरम्भिक अभिव्यक्ति के लिए ग्रीक पद्धति का ऋणी है। प्रस्तुत प्रश्न से सम्बन्धित चेतना की गहराई का जहां तक प्रश्न है वह अतुलनीय है। इसके विपरीत, उसमें नारी के लिए गौरवपूर्ण स्थान पूर्व-निश्चित है। यदि अन्य किसी चीज़ से नहीं तो कम से कम संसार में उसके प्रवेश की आरम्भिक परिस्थिति इस तथ्य को मुखर करती है : कि उसके दैविक संस्थापक को, शरीर धारण के लिए नारी की मुक्त स्वीकृति की आवश्यकता पड़ी थी। उसकी यह बात भी बेजोड़ है कि वह कौमार्यावस्था को सम्मान देती रही है और उक्त नारी कुमारी ही थी। इस प्रकार जब इन बातों के लिए तथा दूसरी उच्च कोटि की यथार्थ और सत्य बातों के लिए दार्शनिक अभिव्यक्ति ढूंढ़ी जाती है, तब शताब्दियों तक ग्रीक प्लेटौनिक परम्पराओं में

ढलती रहने वाली मानव प्रज्ञा के लिए यह आधार एक चुस्त वस्त्राभरण के हेतु ढूंढ़ा गया, जैसा कि नाजरेथ की कुमारिका ने अपने कौमार्य तत्त्व को अपने दैविक प्रवर्तक के उपयुक्त शारीरिक आभरण के रूप में प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त धर्म ग्रंथ इस बात की साक्षी प्रस्तुत करते हैं कि अनेक स्त्रियों ने 'उस' के पार्थिव जीवन और कार्यों के प्रचार में महत्त्वपूर्ण भाग लिया ।

इसलिए इस प्रकार का आरम्भ होने के उपरान्त यह अपेक्षा करना स्वाभाविक है कि ईसाई गिरजों का इतिहास पवित्र स्त्रियों के तेजोमय स्वरूप से दीप्त होना चाहिए इनमें भी बहुमत कौमार्य स्थिति की उत्तम आत्मा से आलोकित होगा। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं कि गिरजे सदा की भांति इन तेजपुंज रूपों को श्रद्धा और प्रतिष्ठा, निरन्तरगति से दे रहे है और उनको निर्बाध रूप से अपने बच्चों के लिए प्यार और अनुकरण का ऊंचा आदर्श मानते है ।

'उस' की अपनी सृष्टि के मुक्त और स्वतन्त्र प्राणी के लिए—प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के लिए—दैविक सम्मान की स्वीकृति से ही श्रद्धा करने के इस एकाकी और विशेष गुण का आविर्भाव स्वतः ही हुआ है। यह दैविक सम्मान भी ऐसा कि जो प्राणि-शास्त्र के नियमों और आवश्यकताओं द्वारा प्रसूत उन समस्त दशाओं और बन्धनों को कुचल सके, जिन्हें हम मानव जीवन का अनुभव समझते हैं। दूसरे शब्दों में वह पूर्णतः यौन से असम्बद्ध है। यदि केवल उपर्युक्त लिखित प्रारम्भिक परिस्थितियों से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि वह दोनों लिंगों की अपेक्षा स्त्री-लिंग से अधिक पक्षपात-युक्त है। क्योंकि मानव बनने की शर्त और मानव रूप में प्रविष्ट होने के उत्तेजक कार्य के लिए पहले स्त्री को चुना गया जिसके द्वारा ईश्वर मनुष्य रूप में परिवर्तित हुआ।

मसीही गिरजों द्वारा शीघ्र ही उन इच्छुक महिलाओं के लाभ के लिए ऐसी व्यवस्था का बनाया जाना नितान्त स्वाभाविक था जिससे कि वे अपने स्वीकृत जन्मसिद्ध अधिकार का पूरा लाभ लेते हुए विशेष संकल्प द्वारा स्वयं को धार्मिक जीवन के गहरे आचरण में व्यस्त रख सकें। तदर्थ महिलाओं के प्रथम ख्रीष्टीय विहारों की स्थापना हुई जो सामयिक आश्रमिक व्यवस्था के अनुरूप नहीं था जबकि अन्ध-विश्वासी अबोध लोगों के समान ही ख्रीष्टी महिला वर्ग के बड़े भाग के लिए तृप्ति का सामान्य स्वीकृत मार्ग—विवाह और मातृत्व का प्राकृतिक मार्ग—ही कायम रहा, तब भी निरन्तर बढ़ने वाली संख्या (जो यद्यपि अल्पमत में ही रही) ऐसी स्त्रियों की थी जो दूसरे मार्ग के प्रति जागरूक थीं। ऐसे लोगों के लिए सर्वप्रथम गिरजों ने बहुत पहले (हिंसा और उत्पीड़ित के उन दिनों में)

अपने कौमार्य को उत्सर्ग करने की विशेष प्रतिज्ञा प्रतिष्ठापित की। यह प्रतिज्ञा विवाह-योग्य आयु की लड़कियां अपने परिवार के मध्य रहते हुए लेती थीं। बाद में जबकि उत्पीड़न समाप्त हुए और चर्च को खुली मान्यता प्राप्त हो गई, तब अधिक दूर व्यापी उपाय संभव हुए? पुरुषों की तरह महिलाओं के लिए भी धार्मिक प्रतिष्ठानों के निर्माण के लिए उपर्युक्त पद्धति को निष्प्रभ कर दिया गया। इन प्रतिष्ठानों को ऐसा रूप दिया गया जिससे कि वह एकान्त और शान्त परिस्थिति प्रदान कर सकें जिनमें आध्यात्मिक जीवन का पूर्णता के साथ पालन हो सके।

यह बात निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हो सकी कि कहां, कब और किसके द्वारा सर्व प्रथम ऐसे प्रतिष्ठान का निर्माण किया गया। इस सम्बन्ध में मत वैभिन्न्य है—(अ) लगभग २७१ ए० डी० में सेंट एंटोनी की संन्यासिन एक सिस्टर (जिसका नाम ज्ञात नहीं है) द्वारा मध्य मिस्र में, (ब) सेंट सिनक्लेटिका द्वारा चौथी शताब्दी के मध्य एलेक्ज़ेंड्रिया में, (स) सेंट मैक्रिना द्वारा ३७६ के पूर्व एनेसी (अनाटोलिया) में, (द) सेंट जेरोम के आश्रित मित्रों, सेंट पौला और इस्टोशियम द्वारा ३८८-९० के लगभग बैथलहम में।

पहले प्रतिष्ठान के समय से चर्च के विकास के साथ ही महिलाओं के लिए विहारों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है। ये प्रतिष्ठान पुरुषों के उद्देश्य-सिद्धि के लिए बनाए गए विहारों के समान स्तर के थे और समान गति से बढ़ रहे हैं। विशिष्ट प्रतिष्ठानों को धार्मिक मान्यता प्रदान करने की प्रक्रियाएं, मृत्यु-लेख और आत्म-कथात्मक प्रलेख तथा सामान्य अभिलेख वहां पर कभी-कभी प्राप्त की गई आत्मिक श्रेष्ठता के खुले प्रमाण हैं। उन पवित्र ख्रीष्टी महिलाओं के अतिरिक्त जिनका कि आगे के पृष्ठों में उल्लेख सम्भव हो सका है, कुछ प्रसिद्ध प्रतिष्ठापकों के नामों का (सेंट टेरेसा को छोड़ कर) इस प्रकार उल्लेख किया जा सकता है। छठी शताब्दी में पायटियर्स की सेंट रेडेगंड, सातवीं शताब्दी में सेंट वरबर्ग, सेंट ऐथलड्रेडा, सेंट ऐथलबर्ग, सेंट हिल्डा, बारहवीं शताब्दी में विग की सेंट हिल्डेगार्ड, तेरहवीं शताब्दी में सेंट क्लारे (सेंट फ्रांसिस की सहयोगिन), चौदहवीं शताब्दी में स्वीडन की सेंट ब्रिगिड, पन्द्रहवीं शताब्दी में रोम की सेंट फ्रांसिस, सेंट कालेट, ब्रिटेन की सेंट फ्रांसिस, बोलोना की सेंट कैथ्रीन, सत्रहवीं शताब्दी में सेंट मेरी मेगडालन डी पाज़ी, सेंट जीन फ्रै काइज़ डी चैण्टाल और सेंट मेरी डी इन्कार्नेशन (मैडम एकैरी) इनमें से अनेक ने (उदाहरणार्थ सेंट कालेट) बोलोना की सेंट कैथ्रीन और अन्तिम तीन ने रहस्यवादी आध्यात्मिकता के उच्चतम स्तर को प्राप्त कर लिया था।

इसके अतिरिक्त पृथक्कृत लोगों में से बहुत प्रख्यात थोड़े से लोगों का उल्लेख किया जा सकता है : उदाहरणार्थ—पेरिस की सेंट जेनेवी, जेनोग्रा की सेंट कैथ्रीन, लीमा की सेंट रोज़ और आश्चर्यचकित कर देने वाली सेंट जीन डी आर्क में : जिसमें कौमार्यावस्था का तेज इस घनत्व के साथ दीप्त हुआ कि वह 'दि मेड' (तरुणी) के नाम से प्रसिद्ध थी।

अवश्य ही, इसका यह अर्थ नहीं कि पूर्णतः एकाकी जीवन में अथवा विहारों के संकलित जीवन में स्त्रियों ने पवित्रता प्राप्त की है। मसीही चर्च ने, व्यक्तिशः आत्मा के अधिकारों के निर्बाध निर्वाह में, विवाह की सांस्कारिता की घोषणा कर एक अधिक सार्वदेशिक और अनुकरणीय मार्ग प्रदान किया, जिस पर चलकर भी उसी लक्ष्य की प्राप्ति की जा सकती थी। विवाह में, जिसे सांस्कारिक रूप में स्वीकार किया गया, स्त्री, सम्पत्ति, साधन अथवा अपने पति का अंश भी नहीं समझी गयी। इस स्थिति में स्वतन्त्र भागीदार के रूप में प्रवेश करते समय, यह सत्य है कि, वह कुछ वास्तविक उत्तरदायित्व ग्रहण करती है, जिनके विस्तार और भार का निश्चित ज्ञान वह प्रारम्भ में नहीं कर पाती। विवाह की स्थिति में उसकी समस्याएं, पूर्णता को प्राप्त करने की आत्मा की अकुलाहट के रूप में अपनी उस बहन की अपेक्षा कठिन है जो पवित्र कौमार्य जीवन में प्रविष्ट हुई है। तिस पर भी प्रख्यात उदाहरणों में चर्च का इतिवृत्त काफी व्यापक है। विवाहित स्थिति की प्रसिद्ध महिला सन्तों में ये नाम उल्लेखनीय हैं : सेंट मेशिल्दिस, एम्प्रेस ऑफ़ जर्मनी, सेंट मार्ग्रेट, क्वीन ऑफ़ स्काटलैंड, सेंट ब्लेंशे ऑफ़ कस्टाइल, फ्रांस की रानी (सेंट लुई की माता), पुर्तगाल की रानी सेंट एलिज़ाबेथ, (या इज़ाबेल), हंगरी की रानी सेंट एलिज़ाबेथ, पोलैंड की सेंट हेडविग (या जदविगा) और अन्ना-मरिया टैगी। सेंट जीन डी चाण्टाल अल्पायु में ही विधवा होने से पूर्व तक एक विश्वसनीय पत्नी और माता थीं। इसी प्रकार सेंट बार्बे एकेरी भी थी। दोनों ने ही विहारों में उसी कार्य को चलाया जो अपनी सांसारिकता में प्रारम्भ कर चुकी थीं। जेनेवा की सेंट कैथ्रीन अपनी तथा किसी अन्य शताब्दी की महानतम रहस्यवादी आत्मा थीं। वह शादी से दुखी थी परन्तु अपने पति का पूर्ण सुधार देखने के लिए जीवित रही।

ऐसे ही कुछ प्रकरण हैं जो विवाह की सांस्कारिता से सम्बन्धित चर्च के सिद्धान्त और व्यवहार पर संक्षिप्त विवेचन की मांग करते हैं। यह उसकी शिक्षा है कि सांसारिक प्रतिष्ठा अपनी पूर्णता के साथ अनुबन्ध के हर पक्ष तक अपना विस्तार करती है। प्रजनन और प्रजनन की क्रिया, इसीलिए आकर्षण की क्रिया

के साथ सम्बद्ध कर दिए गए हैं और अपने बच्चों के विशाल बहुमत के लिए चर्च अधिकतम शारीरिक प्राप्ति की व्यवस्था करता है। तब, इस तथ्य के रहते हुए भी, चर्च की यह भी शिक्षा है कि संस्कारों का सार उसके शारीरिक पक्ष में निहित नहीं है, परन्तु वह इस तथ्य में निहित है कि दो विरोधी लिंगों की मानव आत्माओं ने आजीवन सहयोगी रहने और परस्पर प्रेम करने का बंधन स्वतन्त्रता से चुना है और इस सम्पर्क की अवधि में शारीरिक सिद्धि सम्मिलित हो भी सकती है या नहीं भी हो सकती। इसीलिए अनेक अवसरों पर चर्च ने दृढ़तापूर्वक उस मत की निन्दा की है जिसमें कहा जाता है कि विवाह की स्थिति को पूर्णता तक पहुंचाने के लिए शारीरिक समापन की क्रिया आवश्यक है। उसने सेंट थामस एक्वीनास तथा कुछ दूसरे प्रकरणों में विवाह के सिद्धान्त को मैत्री के रूप में स्वीकार किया है। वास्तव में इसके विपरीत हो भी कैसे सकता है? जैसा कि वह जीज़स क्राइस्ट के जन्म को कुमारी में मान कर चलता है। उसी प्रकार अनिवार्य रूप से मानना पड़ता है कि उस पवित्र मां और उसके पति सेंट जोसेफ के मध्य अवस्थित अनुबन्ध का सार शारीरिक समागम के अतिरिक्त ही ढूंढना होगा, क्योंकि उसकी मान्यता है कि वह समागम हुआ ही नहीं। इस प्रकार मसीही पवित्रता की सूची में उन विवाहित युग्मों के लिए कोई स्थान नहीं है, जो आत्मा द्वारा अपने अनुबन्ध को उसी ढंग पर चलाने के लिए झकझोरे गए और जिन्होंने अपने सम्बन्धों को प्रारम्भ से ही शाश्वत कौमार्य-युक्त रखने का निश्चय किया, उनके निश्चय को विशेष प्रतिज्ञा द्वारा मुहरबन्द कर दिया गया। कुछ ऐतिहासिक उदाहरण पर्याप्त होंगे—ग्यारहवीं शताब्दी में पवित्र रोमन साम्राज्य की सेंट क्यूनेगुडा, सम्राज्ञी और सम्राट् सेंट हैनरी द्वितीय, तेरहवीं शताब्दी में पोलैंड की रानी सेंट क्यूनेगुड और राजा बालेस्ला (उपनाम चेस्ट), चौदहवीं शताब्दी में एरियानो के काउण्ट सेंट एल्ज़ीयर डि सब्रेन और सेंट डेल्फाइन डि ग्लेण्डिव डि यू मिशेल, स्वीडन की राजकुमारी सेंट कैथरीन (स्वीडन के सेंट ब्रिगिड की पुत्री) और एगार्ड लिडर्सन डि क्यरेन और पन्द्रहवीं शताब्दी में कार्बेरा की सेंट एनगेलिन्म और सिविटैल्ला का काउण्ट।

यह आशा की जाती है कि यह संक्षिप्त चित्र मसीही चर्च में नारियों द्वारा प्राप्त किये गये उच्च स्थान की झलक दे सकेगा।

परिच्छेद १६

मैकरिना

पाश्चात्य सभ्यता में प्रतिष्ठित और पूजनीय व्यक्ति के रूप में सन्तों का आविर्भाव ईसाई धर्म के प्रसार के समय में हुआ है। ग्रीक तथा रोमन घरेलू जीवन यद्यपि कई रूपों में प्रबुद्ध था, लेकिन किसी स्त्री के लिए इतना क्षेत्र न था कि वह अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके और अपना प्रभाव इस तरह फैला सके कि वह लोगों की दृष्टि में एक सम्पूर्ण जीवन की सफलताओं को उपलब्ध कर सके। इसके कुछ अपवाद जरूर थे। उदाहरण के लिए पेरिक्लीज की प्रिया अस्पसिया को लिया जा सकता है, जो अपनी चतुरता और बुद्धि के कारण पांचवीं शताब्दी ई० पू० के अर्द्ध भाग में ऐथेन्स के उच्चवर्गीय समाज में बहुत प्रभावशाली थी। यद्यपि अस्पसिया का पूर्ण और सुविकसित व्यक्तित्व था, लेकिन हम उसे सन्त नहीं कह सकते। ऐथेन्स के लोग अपनी स्त्रियों को घर पर रखते थे और पेरिक्लीज ने स्वयं एक बार कहा था कि किसी स्त्री के लिए सब से अच्छी बात यह है कि वह अपनी प्रसिद्धि घर से बाहर न फैलने दे। स्पार्टा में स्त्रियों के साथ पुरुषों का-सा समानता का व्यवहार होता था, लेकिन उनसे इस बात की आशा की जाती थी कि वे अपने बच्चों पर सख्ती और बर्बरता से अनुशासन करें जिससे उनके सामने मां का वह आदर्श रहे जो यह कहती थी कि युद्ध से या तो वे विजयी होकर लौटें या तलवार की धार का शिकार बनें। रोम की महिलायें भी स्पार्टा की इस मातृत्व की प्रतिरूप थीं। वहां स्त्रियां या तो ग्राची की मां कारनेलिया की तरह प्रभुतामयी कठोर अनुशासिका बन जाती थीं अथवा फिर रंगहीन आकृतियां या दासियां या फिर सिसरो के दुश्मन क्लाडियस की बहिन क्लाडिया की तरह च्युत अथवा समाज से बहिष्कृत।

फिर भी ग्रीक और रोमन साहित्य में यत्र-तत्र हमें ऐसी स्त्रियों का वर्णन मिलता है, जिनमें से बहुतों में सन्तों के गुण थे और जो चुपचाप रहती थीं, जिन्होंने अपना जीवन भक्ति में लगा दिया था और अनेक कष्टों को सहन करते हुए भी जिन्हें किसी यश की आकांक्षा न थी। दूसरी शताब्दी ई० पू० का एक समाधि-लेख है जिसमें संक्षेप में अच्छी पत्नी की विशेषताओं का वर्णन किया गया है,। उसके अन्त में लिखा है—'वह घर की देख-भाल करती थी, ऊन कातती थी।' इस प्रकार प्रशान्त

श्रद्धा और भक्ति का भाव का आदर्श शताब्दियों से मुखर होता रहा है। होमर के पेनलोप में ऐण्टीगोन की बहिन इसमीन मे इसका बहुत कुछ अंश है और आगस्टस के लेटिन शिलालेख में यह और भी स्पष्ट है। उस पर एक लम्बा समाधि-लेख है जिसको वेस्पिलो नामक एक विधुर ने अपनी पत्नी ट्यूरिया के नाम लिखा था। उसकी कोई सन्तान नहीं थी इसलिए उसने वंश-मूल को चलाने के लिए अपने पति को दूसरा विवाह कर लेने का आग्रह किया था। उसने कहा था कि मै सौत के बच्चे को अपने ही बच्चे जैसा प्यार करूंगी, अपना स्थान मै उस नई आने वाली के लिए छोड़ दूगी और हम दोनों बिना पति से अलग हुए साथ-साथ रहेंगी। इस बात पर वह भयभीत होकर कामना करता है कि काश, मैं ही पहले मर जाता और वही (मेरी स्त्री) मेरी अन्तिम क्रिया करती। पर अब तो वह अकेला है।

मैकरिना का जीवन इसी तरह की भक्ति और सन्त-चरित्र का परिचायक है, लेकिन वह संन्यास के अनेक बिखरे आदर्शों के माध्यम से अनेक धाराओं की ओर उन्मुख भी है। ग्रीक में उसके नाम का अर्थ है सौभाग्यशाली और यह नाम उसे ग्रीक रीति-रिवाजों के अनुसार दादी के नाम पर दिया गया था। इस महिला सन्त के विषय में हमें जो जानकारी मिलती है, वह उसके भाई नेसन के ग्रेगरी से मिलती है जिसने एक ऐटियोक ओलम्पियस नामक भिक्षु को अपने एक पत्र में अपनी बहिन की संक्षिप्त जीवनी लिखी थी। यह जीवनी अपनी विषमता में इस तरह की दूसरी जीवनियों से मिलती-जुलती है। यह पत्र मैकरिना के सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री देता है और उसमें मैकरिना की मृत्यु और अन्त्येष्टि क्रिया का वर्णन भी काफी बारीकी से किया गया है, ठीक उसी तरह, जिस तरह हर धर्म-ग्रन्थ में और कई बातों को छोड़ ईसा की मृत्यु पर बहुत कुछ कहा गया है। ग्रेगरी द्वारा लिखी गई अपनी बहिन की जीवनी डब्ल्यू० के० लोथर क्लार्क, बी० डी० द्वारा अनुदित हुई है और १९१६ में उसे एस० पी० सी० के० ने प्रकाशित किया है।

नेसन का ग्रेगरी करीब ३३५ ई० में सम्भवतः कप्पाडोसिया के केसरिया नगर में पैदा हुआ था। मैकरिना आठ बच्चों में सबसे बड़ी थी और ग्रेगरी सबसे छोटों में एक था। इसलिए सम्भवतः वह करीब ३२५ ई० में पैदा हुई थी। सन्त बेसिल महान् सब से बड़ा भाई था। और सबसे छोटा भाई पीटर सैबेस्ट का बिशप था। किसी परिवार के लिए यह बहुत बड़ा गौरव था। यह परिवार समृद्ध था और ज़मींदारी पर निर्भर करता था। करीब दो पीढ़ियों से ये लोग क्रिश्चियन थ, क्योंकि एक ऐसा संकेत मिलता है कि दादी मैकरिना को अपने

धार्मिक विश्वास के कारण दुःख उठाना पड़ा था। उसने ईसा को एक अभियोग के समय एक अच्छे तेजस्वी के रूप में माना है। ग्रेगरी की मां, जो स्वयं एक खूबसूरत स्त्री थी, अविवाहित जीवन की ओर आकृष्ट हुई थी लेकिन बाद में उसने उन सब लोगों से बचने के लिए जो उसे भगा लेना चाहते थे, ब्याह कर लिया।

उस समय ईसाई जगत में साधु-जीवन से लोग किस तरह आकर्षित होते थे, यह जानने के लिए कई पहलुओं को समझना होगा। स्वयं ईसा ब्रह्मचर्य जीवन के सशक्त उदाहरण थे, जिन पर ऐसेनेस के सिद्धान्तों के माध्यम से बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा था। तब परलोक-निवास के कारण लोग इस जगत् से घृणा करने लगे। लेकिन अभी भी गहराई से यह भाव जड़ें जमाये हुए था कि मनुष्य का सच्चा जीवन तब प्रकट होता है जब शरीर और उसकी इच्छाओं और बाहरी आमोद-प्रमोद पर मनुष्य विजय प्राप्त कर लेता है। उपनिषदों का और बुद्ध का यही आन्तरिक सिद्धान्त है। प्लेटो का भी यही कहना है कि आत्मा का सच्चा आनन्द तब प्रकट होता है जब इच्छाएं और कामनाएं मिट जाती हैं, दूसरे शब्दों में जब शरीर शान्ति में लीन हो जाता है। पाश्चात्य साधना में इस प्रकार की पवित्रता विद्यमान रही। मिस्र ईसाई धर्म-साधना का केन्द्र और प्रेरक रहा है, जहां सन्त जॉन की वाणी यह प्रकट करती है कि यहां दूसरी शताब्दी में ही ईसाई आकर बस गये थे।

धार्मिक साधना के विकास की दो अवस्थाएं थीं—पहले वे लोग आये जो अकेले थे, जिनमें थीब्ज़ के पाल सब से पहले थे और फिर जिस व्यक्ति ने अपने चारों ओर शिष्य जुटाने शुरू किए, वह था सन्त ऐण्टनी (२५०-३५६ ई०)। साधुओं के सम्पूर्ण सामुदायिक जीवन का संगठन पाखोम या पैचालियस (३४६ ई०) ने किया, जिन्होंने साधुओं का एक आत्म-निर्भर समाज बनाया और उन्हें कड़े अनुशासन में रखा। इसके सदस्य अपनी जीविका कमाने के लिए अनेक शिल्पों में जुटे रहते थे। इस आदर्श से जगत् का भला ही हुआ है और शारीरिक श्रम और चिन्तन के इस आदर्श के अनुयायी पूर्व में भी बन गये। बुद्ध का आदर्श उतना व्यावहारिक नहीं था, क्योंकि उन्होंने निर्धनता का जीवन बिताने का उपदेश दिया था लेकिन जापान के बौद्ध धर्मावलम्बी लोग कार्य और चिन्तन दोनों में सन्तुलन रख पाखोम के जन-जीवन पर छा गये। प्रो० डी० टी० सुजुकी का कथन है—"कार्य किसी भी साधु-सन्त के लिए महत्त्वपूर्ण वस्तु है। यह व्यावहारिक है। इसमें ये बातें भी शामिल हैं, जैसे झाड़ू देना, सफाई करना, खाना पकाना, लकड़ी

इकट्ठी करना, खेती करना या दूर गांवों में जाकर भिक्षा मांग कर लाना। कोई भी काम प्रतिष्ठा के विरुद्ध नहीं समझा जाता है और सब में जनतन्त्र और भ्रातृ-भाव व्याप्त दिखाई देता है। मामूली नजरिए से काम चाहे कितना ही मुश्किल और नीचे दर्जे का लगे, पर वे उससे भागेंगे नहीं।"

उनकी एक लोकप्रिय कहावत है—"जिस दिन काम नहीं, उस दिन खाना भी नहीं।" और प्रो० सुजुकी ने अपने विचार इस तरह व्यक्त किए हैं—"जब तक हाथ मस्तिष्क द्वारा काम करने के लिए अभ्यस्त न कर दिये जाएं, शरीर में रक्त समान रूप से प्रवाहित नही हो पाता। वह कहीं एक जगह खास कर मस्तिष्क में अवरुद्ध हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि शरीर ही अस्वस्थ नहीं रहता वरन् मानसिक जड़ता और आलस्य भी पैदा होता है। इस अवस्था में विचार, बिखरते बादलों का रूप धारण कर लेते हैं। उस दशा मे मनुष्य चेतनावस्था में तो रहता है, पर उसका मस्तिष्क स्वप्न और कल्पनाओं से भर जाता है, जो यथार्थ नहीं होतीं।" यह खतरा ब्रदर लारेन्स जैसे कई साधुओं ने महसूस किया है और विद्वान् एक्हार्ट ने भी कहा है—"मनुष्य चिन्तन में जो कुछ ग्रहण करता है, वह उसे प्रेम में समा देना चाहिए।"

दीर्घ काल तक मिस्र फिलिस्तीन की अपेक्षा पवित्र स्थान माना गया है, क्योंकि वहां असंख्य साधु-सन्त हुए, जिनके पास मेडिटेरेनीन जगत् से असंख्य यात्री आते रहते थे। इन यात्रियों में नीसा के ग्रेगरी का बड़ा भाई और मैकरिना का छोटा भाई सन्त बेसिल भी एक था। वह पाखोम द्वारा निर्धारित जीवन-प्रणाली से बहुत प्रभावित था और उसने निश्चय किया था कि वह पोण्टस की अपनी बस्ती में एक ऐसे ही समुदाय को बसायेगा। इसके लिए उसने नाजिन्यस के निवासी ग्रेगरी को बुलाया और इस प्रकार ग्रीक आश्रम-व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ। बेसिल की मां ऐमेलिया और बहिन मैंकरिना जो आइरिस नदी के किनारे पर रहती थीं पहले ही इस ओर आकर्षित हो चुकी थीं। बहुत ही जल्दी अनेसी के दो मठ उठ खड़े हुए जिसमें पुरुषों की अध्यक्षता मैकरिना के छोटे भाई पीटर ने की और स्त्रियों की स्वयं मैकरिना ने। ब्रदर ग्रेगरी ने अपने कुछ साल स्टुडियो में बिताये। बाद में वे बीसा के बिशप होने के लिए बुलाए गए। बेसिल १ जनवरी, ३७६ को मर गया और ग्रेगरी ने फिर जल्दी ही एण्टियोक में एक सभा में भाग लिया। उसके बाद वह मठ में मैकरिना के पास गया। जब वह वहां था तभी सन्त मैकरिना ने इहलीला समाप्त कर दी और उसने ओलम्पिय को एक पत्र में उसका जीवन-चरित्र लिख भेजा।

प्राचीन काल की अन्य जीवनियों की भांति ही ग्रेगरी द्वारा लिखा गया यह विवरण कलात्मक नहीं है, इसमें मैकरिना की मृत्यु का वर्णन अनुपात से ज्यादा है (मृत्यु-शैया के दृश्य ईसाई सुधारक लम्बे पसन्द करते हैं) और आवश्यक बातों की अपेक्षा उसमें साधारण बातों को आलंकारिक महत्त्व दिया गया है। इसके बावजूद भी हमें उसमें मैकरिना के सौम्य चरित्र का पता लगता है—वह सबल न होते हुए भी दृढ़ थी और चतुर भी। असल में वह नारीत्व की चरम उपलब्धि थी। यह हमें अप्रत्यक्ष संकेतों से पता चलता है। उदाहरण के लिए ग्रेगरी ने कहा है कि मैकरिना ने अपने को मानवीय गुणों की उच्चता तक दर्शन-शास्त्र के माध्यम से उठाया है।[1]

वेदान्त के विद्यार्थी के लिए 'दर्शन' शब्द बहुत अर्थपूर्ण है। चौथी शताब्दी में ईसाई धर्म में, बहुत कुछ ओरिजनक के उपदेश और दर्शन के सश्लेषण से, इसका अर्थ साधना या तपस्या हो गया। हिन्दू धर्म में भी एक ऐसी ही समानान्तर बात मिलती है कि सत्य को केवल बुद्धि से नहीं तपस्या और ध्यान से पाया जा सकता है, जिससे सत्य का प्रातिभ ज्ञान तर्क शक्ति की अपेक्षा अधिक शीघ्र हो सकता है। दर्शन का यह प्रारम्भिक रूप जीवन की कला के लिए भारत की एक बड़ी देन है और यहां चौथी शताब्दी में ग्रीक जगत् में दर्शन शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

मैकरिना का जन्म ऐसे स्वप्निल वातावरण में हुआ था जिसमें परियां प्रकट हुई थीं और उन्होंने शिशु को 'थेकला' कहकर पुकारा था, जो पौराणिक भाषा में सन्त पाल की समसामयिक कही जाती हैं (ऐक्ट्स ऑफ पाल एण्ड थेकला) इस तरह की अन्य पुस्तकों से अधिक सत्य है। इस बात से यह अभिप्राय लिया गया कि बच्ची को कुंआरा रहना पड़ेगा और सचमुच, उसकी मां, जो स्वयं एक असाधारण सुन्दर स्त्री थी, सरल और पवित्र जीवन को इतना अधिक पसन्द करती थी कि वह ब्याह करने की इच्छुक ही न थी।[2] बचपन से ही मैकरिना को मां ने बड़े लाड़-प्यार से पाला-पोसा और वह सामान्य पाठ्यक्रम को भी हेय और अनुपयुक्त समझती थी। कार्यक्रम के अन्तर्गत जैसा कि ग्रीक शिक्षा में होता था, मुख्यत. होमर की कविता पढ़ना आवश्यक था। ऐसा दुखान्त नाटक जिनमें मानवीय वासनाओं का चित्रण अधिक होता था, स्त्री-शिक्षा की अपेक्षा पुरुष की शिक्षा के लिए अधिक उपयुक्त था। मैकरिना को ऐसी शिक्षा देने के बजाय ओल्ड टैस्टामेण्ट—जैसे

1. ६६० सी

2. ६६०-ए

धर्म-ग्रन्थों का, उसमें भी पसाल्टर का, पारायण करवाया गया। यही शिक्षा उसकी सदा की साथिन थी। सोते-जागते, घर के काम-काज में खाना बनाते और खाते वह उसी में खोई रहती और अकस्मात् रात को प्रार्थना के लिए उठती।

मैकरिना का विवाह एक गुणवान् युवक के साथ निश्चित हुआ था, जो विवाह से पहले ही मर गया। वह उसकी स्मृति में इस प्रकार आबद्ध रही जैसे शारदादेवी रामकृष्ण से रही थी। मैकरिना तब भी यह सोचती रही कि जिस व्यक्ति से उसकी मंगनी हुई थी, वह मरा नहीं, वरन् ईश्वर के पास चला गया है। वह उसे एक ऐसा दूल्हा मानती थी जो उससे दूर चला गया है। उस युवक की मृत्यु के पश्चात् मैकरिना ने मां का साथ नहीं छोड़ा, बल्कि उसकी सेवा में उसने अपने शान्त और नियंत्रित जीवन को समर्पित कर दिया। 'और अपने जीवन की प्रक्रिया से उसने अपनी मां को उसी प्रकार का उच्च दार्शनिक कोटि का जीवन बिताने के लिए प्रेरित किया और धीरे-धीरे मां को भी उसी अभौतिक और पूर्ण जीवन की ओर खींच लाई।' वह अपनी मां के लिए अपने हाथों से खाना पकाती थी।

जब उसका भाई बेसिल यूनिवर्सिटी से समस्त काव्य-ज्ञान लेकर वहां पहुंचा तो उस पर मैकरिना का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि 'उसने इस संसार के ऐश्वर्य को छोड़ दिया और काव्य-ज्ञान के यश को घृणा करने लगा। उसने अपने को श्रम के कामों में जुटा दिया।' उसके प्रति यह सबसे बड़ी श्रद्धांजलि है कि उसने अपने भाई के जीवन को सुन्दर ही नहीं बनाया बल्कि उसे बदल भी दिया। वह शारदा देवी की तरह प्रभाव-शालिनी थी, जिसके विषय में ऐलबर्ट स्वेज़र ने इन अविस्मरणीय शब्दों में लिखा है—'हम सब आध्यात्मिक रूप से उस देन पर जीवित रहते हैं जो हमारे जीवन के अमूल्य क्षणों में लोग हमें दे जाते हैं।' ये महत्त्वपूर्ण क्षण कभी ऐसा नहीं कहते हैं कि हम आ रहे हैं, बल्कि वे अचानक आ जाते हैं। वे अपने आने का दिखावा भी नहीं करते, वे बिना दीखे गुजर जाते हैं। उनकी महत्ता का पता हमको तब लगता है जब हम पीछे मुड़ कर देखते हैं—जैसे किसी संगीत का स्वर या स्थल का सौन्दर्य हमारी स्मृति में आ जाता है। नम्रता, श्रद्धा, विराग, दया, क्षमा आदि की अवस्था में हम जो कुछ प्राप्त करते हैं, वह हम उस व्यक्ति के हाथों पाते हैं जिसमें वे गुण क्रियाशील होते हैं चाहे वे बड़ी मात्रा में हों, या छोटी। एक विचार जो कार्यरूप में परिणत होता है, पहले एक चिनगारी के रूप में प्रवेश करता है और फिर हमारे अन्दर एक नई ज्योति जला जाता है।[1]

दूसरी घटना जिसमें मैकरिना की आध्यात्मिक शक्ति का पता चलता है, वह

[1] 'मैमोयर्स आफ़ चाइल्डहुड एण्ड यूथ', पृ० ८६,६०।

उसके छोटे भाई नौकरेशियस की मृत्यु थी। वह सारे परिवार भर में बलवान और सुन्दर था। संसार का कोई भी कार्य उसके लिए असम्भव नहीं था। वह एक तपस्वी का जीवन पसन्द करता था और अपने अनुचर क्रिसापियस को लेकर वह आइरिस नदी के किनारे एक पहाड़ पर एक सुन्दर स्थल पर चला गया। (यह हमें इस बात का स्मरण दिलाता है कि भारत में भी साधु ईश्वर का ध्यान करने के लिए सुन्दर स्थलों को चुनते थे) वह और क्राइसेपियस एक अभियान में मर गये।

इस तरह की अभियान-यात्राएं वे अपने आश्रित वृद्ध जनों के जीवन की आवश्यकताओं को जुटाने के लिए किया करते थे। इससे पूर्व भी बौद्ध भिक्षु और संन्यासी इस प्रकार प्रायः भिक्षा के लिए जाते रहते थे। यह विचारणीय है कि उस एकान्त जीवन में भी नौकरेशि ने दुर्बल निर्धन और भूखे बूढ़े लोगों की देख-भाल आवश्यक समझी। उच्चकोटि का रहस्यवाद सेवा द्वारा भक्ति के इस आदर्श से रहित नहीं है। सन्त मैकरिना यद्यपि स्वयं शोक की पीड़ा से सन्तप्त थी फिर भी वह निरन्तर अपनी मा की आत्मा को ऊपर उठाने में लगी रही और तब तक लगी रही जब तक वस्तुतः वह आत्मोन्नति को प्राप्त कर दुःखों से ऊपर नहीं उठ गई।

तदुपरान्त ग्रेगरी के पत्र में हम मैकरिना और उसकी मां की आध्यात्मिक प्रगति का चित्र अंकित पाते हैं। उन्होंने नौकरानियों जैसे कपड़े पहनने शुरू किए और उन्हीं जैसे बिस्तरों में सोने लगीं और वैसा ही भोजन खानीं। संयम ही उनका वैभव-विलास था और अज्ञात रहना उनका यश। गरीबी और ऐश्वर्य को शरीर के मैल की तरह बहा देने की भावना ही उनकी सम्पत्ति थी। वास्तव में वे सब बातें, जिनका लोग जीवन में अनुसरण करते हैं, उनमें से एक भी ऐसी नहीं थी, जिनसे वे आसानी से मुक्ति न पा गई हों। कभी-कभी तो वे उस अवस्था में होतीं जिसे हिन्दू समाधि कहते हैं। क्योंकि ऐसा कहा गया है कि शरीर रूप में जीवित रहते हुए भी और अभौतिक वस्तुओं को चाहते हुए भी वे शरीर की आवश्यकताओं के सामने कभी झुकी नहीं, बल्कि उनका जीवन आकाश से ऊपर उठ स्वर्ग की शक्तियों के साथ विचरण करता था।[1]

उसके बाद उस परिवार के सबसे छोटे सदस्य बेसिल, माता और पीटर की मृत्यु का वर्णन आता है और हम देखते हैं कि मैकरिना हृदय के समस्त शोकों से ऊपर उठी और उसने सबके सामने एक सुदृढ़ उदाहरण प्रस्तुत किया। मां की मृत्यु के कुछ समय बाद तक ये लोग सन्तप्त रहे लेकिन फिर आदेश पालन के

[1] ९७० बी

बाद वे दर्शन शास्त्र पर जुट गये और अपने जीवन से इस तरह संघर्ष करते रहे कि उनको पहले से भी अधिक सफलता मिली।[1]

बेसिल की मृत्यु के बाद ग्रेगरी अपनी बहिन के पास गया। उसे इस बात का कुछ पूर्वाभास-सा हो गया था कि उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं, क्योंकि उसे यात्रा में ही ऐसा अनुभव हो चुका था। ग्रेगरी ने जो कुछ भी अपनी बहन के बारे में लिखा है चूंकि वह अधिकतर अवस्था घटित और अधूरा है, इसलिए इस अव्यवस्थित विवरण पर हम बहुत कुछ निर्भर नहीं कर सकते : बहुधा हमें परम्परागत कथाओं, संदिग्ध और अस्पष्ट चित्रणों का आश्रय लेना पड़ता है। ग्रेगरी स्वयं इस सन्त बहन के उपदेशात्मक वक्तव्योका विवरण देते हैं, पर वह उसके व्यक्तिगत जीवन की बारीकियों में नहीं पड़े।

एक स्थान पर ग्रेगरी लिखते है कि जब वह इस उच्च आत्मा के सम्मुख उपस्थित हुए उस समय वह पीड़ा से कराह रही थी। उन्हे देखते ही मैकरिना ने कराहना बन्द कर दिया। उसे श्वास लेने में अड़चन हो रही थी। उसे दबाने का वह सतत प्रयत्न करती रही। भाई से बातचीत करनी आरम्भ कर दी। बेसिल की मृत्यु से शोकातुर भाई को सान्त्वना दी। उसको ढाढ़स बंधाकर प्रोत्साहन दिया। और धार्मिक विषयों पर चर्चा करने लगी। ये सब देख कर ग्रेगरी आश्चर्यचकित रह गये।

ज्वर ने सन्त मैकरिना की शक्ति को बहुत क्षीण कर दिया था। अब वह मृत्यु पथ पर अग्रसर हो रही थी। इतनी दुर्बल होते हुए भी उसने अपने शरीर को शान्त और पवित्र रखा। वह सदव अपने मस्तिष्क को प्रभु के चिन्तन में संलग्न रखती। शारीरिक दुर्बलता ने उसके मन को नहीं हराया। इन सब स्थितियों को अनुभव कर इस पवित्र सन्त महिला की पवित्र आत्मा का महत्त्व हमारी दृष्टि में और भी बढ़ जाता है। वह प्रकृति और आत्मा, भौतिक शरीर में प्राणों का अस्तित्व, मृत्यु, पुनर्जीवन की यात्रा का क्रम आदि दार्शनिक विषयों पर वाद-विवाद करती। अपनी अस्वस्थता की दुखद स्थिति में भी उसे अपने भाई और अन्य लोगों जो उसकी सेवा-शुश्रूषा में लगे रहते थे उनके विश्राम की चिन्ता रहती। वह प्राय: उन सब को भोजनादि के लिए आग्रहपूर्वक भेज देती। कभी कभी उन सबसे उनके बाल्य-काल के बारे में बातचीत करती। ग्रेगरी के शब्दों में इस महिला ने कभी भी सांसारिक ऐश्वर्य और किसी सहायता की आकांक्षा नहीं की। कभी भी मनुष्य के दान ने उसे लालायित नहीं किया। कोई भी

[1] ९७४ बी

अभियार्थी उसके द्वार से खाली हाथ नहीं लौटा। स्वयं उसने कभी किसी प्रकार की सहायता की याचना नहीं की। प्रभु स्वयं अव्यक्त रूप से उसके शुभ कर्मों रूपी बीजों को सींचते रहे जब तक कि वह मधुर फलों से आच्छादित वृक्ष नहीं बन गये।[1]

ग्रेगरी के पत्र के शेष भाग में सन्त मैकरिना की मृत्यु और दाह-संस्कार का विवरण है। उन सब लोगों का भी वर्णन है जो इस महिला सन्त के शव के साथ गये, जिनका वह भला करती रही।

हमारे पास इस सन्त महिला के स्मृति चिह्न, स्वयं उसके भाई बेसिल और सन्त ग्रेगरी हैं। ये दोनों अपने आध्यात्मिक जीवन के पथ-प्रदर्शन का श्रेय अपनी बहन को देते हैं। ये दोनो भाई पूर्वी चर्च के इतिहास में महत्त्वपूर्ण व्यक्ति माने गये हैं। इस सन्त महिला के व्यक्तिगत प्रभाव की महिमा श्वेत्जर के शब्दो में—"हम में से कोई यह नहीं जानता कि उसके जीवन का क्या प्रभाव है और वह दूसरों को क्या दे रहा है। ये सब तथ्य हम से अव्यक्त हैं और इनका अव्यक्त रहना ही श्रेयस्कर है। यद्यपि हमें कभी-कभी इसकी अनुभूति अवश्य होनी है ताकि हम अपने उत्साह को न छोड़ बैठें। ईश्वरीय शक्ति किस प्रकार संसार को चलाती है यह हमारे लिए तो रहस्य ही है।"[2]

---

[1] ९८२ ए

'मैमोयर्स ऑफ चाइल्डहुड एंड यूथ' पृ० ९१।

परिच्छेद २०

किलदारे की ब्रिजिट

ईसा संवत् की आरम्भिक शताब्दियों में आयरलैंड पश्चिमी संसार की संस्कृति और सभ्यता का केन्द्र था और यूरोप का सबसे अधिक शिक्षित देश माना जाता था। धर्म और शिक्षा वहां परस्पर पूरक थे और भिक्षु एवं पादरियों के सीधे नियंत्रण में थे। रोम, गाल, जर्मनी, मिस्र आदि दूर-दूर देशों से जहाजों में भर कर विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के लिए यहां आते थे। इंग्लैंड का राजा भी आता और फ्रांस का राजा भी। सम्माननीय बेड लिखते हैं कि जब अंग्रेज पीले प्लेग से भाग कर आयरलैंड आये तो आयरलैंड निवासियों ने उन्हें सहर्ष स्वीकार किया। उन्हें भोजन दिया, पढ़ने के लिए ग्रन्थ दिये, शिक्षा के साधन दिये और सब बिना किसी मूल्य के। शिक्षा केवल धार्मिक विषयों में ही नहीं, अपितु कविता, साहित्य, कानून और चिकित्सा शास्त्र में भी दी जाती थी। विद्वत्ता और उच्चतम उपाधि के लिए बारह वर्ष की दीक्षा आवश्यक थी और उस शिक्षा का इतना मूल्य था कि इन उपाधियों को धारण करने वाले राजा के सिंहासन के साथ बैठाये जाते थे। शिक्षित आयरलैंड निवासी समस्त महाद्वीप में उपदेशक के रूप में ही भ्रमण न करते अपितु यूरोप के सांस्कृतिक केन्द्रों में प्रोफेसर और अध्यापक के नाते भी उनकी काफी मांग रहती।

कहा जाता है कि पांचवीं शताब्दी में ईसाई मत के प्रचार के साथ आयरलैंड ने लोह-युग से स्वर्ण-युग में पदार्पण किया। समृद्ध नास्तिक संस्कृति विचार और दर्शन की गहनता से परिपूर्ण हो उठी। लोग नास्तिकता से एक सच्चे परमेश्वर की उपासना की ओर बढ़ने लगे। युद्ध की विभीषिकाओं से हट कर शान्तिमय जीवन में विश्वास स्थापित हुआ। लैटिन के परिचय के साथ साहित्य का विकास हुआ। कैल्टिक प्रभाव के साथ लैटिन अक्षरों पर आधारित नई और सुन्दर लेखन-कला के आविष्कार के साथ इतिहास और परम्पराएं लेख-बद्ध होने लगीं जो अब तक पर्यटक विद्वानों द्वारा मौलिक रूप में उत्तराधिकार में चली आती थीं। परिणामतः आयरलैंड के इस स्वर्ण-युग में संसार की कुछ उत्कृष्ट कोटि की रचनाएं लिखी गईं जो आज भी प्रचलित हैं। सोने, चांदी, कांसे और एनेमल के काम में कारीगर आभूषण बनाने में अपनी सूक्ष्म कला के लिए प्रसिद्ध थे। संगीतज्ञों को समाज में सम्मान-पूर्ण

स्थान दिया जाता था। पहले राजा और सरदारों के परस्पर युद्धों के कारण देश छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त था पर अब समस्त देश में ईसाई मत के प्रसार के साथ उनकी युद्धप्रियता उत्तरोत्तर कम होती जा रही थी। मनुष्य और पशु एक शान्त-जीवन बिताने लगे थे जिसमें किसान शान्ति-पूर्वक हल चलाते, योद्धा पशु चराते थे और विद्या एवं कला का पोषण और विकास हो रहा था।

इस संक्रमण काल के लोगों के जीवन को सही रूप में समझने के लिये—ईसा-पूर्व युग को भी थोड़ा-बहुत समझना आवश्यक है। आयरलैंड निवासी कौन थे? उनकी संस्कृति क्या थी? पांचवी शताब्दी के आयरलैंडवासी कैल्ट थे। सम्भवत: ये लोग मूलत: मध्य यूरोप के थे जो पश्चिम की ओर खदेड़ दिये जाने पर आयरलैंड में आकर बस गये थे और वहां के मूल निवासियों के साथ मिल गये जो परम्परा से ग्रीस, श[illegible] और इबेरियन वंश से सम्बन्धित थी। कैल्ट लोगों की अपनी भाषा थी, अपनी संस्कृति थी और अपना इतिहास था जो फिल-ली विद्वानों द्वारा संकलित और संरक्षित रखा जाता था। वे लोग स्वर्ण-मण्डित मूर्तियों की पूजा करते थे। उनके अपने जादूगर थे और स्थानीय देवी-देवता भी थे।

कैल्ट आयरलैंड में अनेक राजा और असंख्य सरदार और राजकुमार हुए जिनमें से अनेक देवत्व को प्राप्त कर चुके थे, अनेक पौराणिक रूप धारण कर चुके थे और अनेक मानव रूप में ही जन-विश्वास और परम्परा में जीवित थे। वे सभी अनेकानेक छोटी-बड़ी रियासतों में शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने के लिए परस्पर अनेकानेक युद्धों में रत रहकर देश को अनेक भागों में विभक्त कर चुके थे।

समाज पांच वर्गों में विभक्त था। इन वर्गों को जाति नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक वर्ग से दूसरे वर्ग में जाना प्रचलित था। इन वर्गों में राजा थे, जिनकी संख्या सौ से ऊपर थी। सरदार स्वतन्त्र भू-स्वामी, सम्पत्ति-रहित स्वतन्त्र नागरिक और अनुबद्ध नागरिक थे। दास-प्रथा प्रचलित थी। अंग्रेज़ अपने बच्चों को आयरलैंड निवासियों के पास दास बना कर बेच देते थे।

लोग सरदार की खाई से घिरी हुई गढ़ी के आस-पास मिट्टी और टहनियों के मकान बना कर रहते थे। ये मकान रथों के चलने योग्य सड़कों से जुड़े रहते थे। स्त्री का संसार परिवार के घेरे में सीमित था। परन्तु प्रथम चार वर्गों की स्त्रियां समाज में दलित नहीं थीं और न अन्याय का शिकार थीं। उनके वैधानिक अधिकार पुरुषों के समकक्ष थे। किसी कन्या को पत्नी बनाने के लिए पुरुष को उसके पिता को दहेज-धन देना पड़ता था। यद्यपि स्त्रियां केवल घरेलू संसार तक ही सीमित थीं और बाहरी क्षेत्र में

भाग नहीं लेती थीं तथापि प्रत्येक स्वतन्त्र स्त्री सभी प्रकार के गृह-कौशल में शिक्षा प्राप्त करती थी और उसके पास तकली, टेकुई, चक्की आदि होती थी और उसका ज्ञान रखने वाली प्रत्येक स्त्री 'निपुण-कर्मी' कहलाती थी और विवाह के लिए वह अच्छा वर प्राप्त कर सकती थी। परन्तु अनुबद्ध वर्गों की स्त्रियों में अन्य स्त्रियों के कोई अधिकार नहीं थे और वे अपने स्वामी की सम्पत्ति समझी जाती थीं। उनसे निरन्तर शारीरिक श्रम लिया जाता, भेड़ें चरवाई जातीं, अनाज पिसवाया जाता, अतिथियों के पांव धुलवाये जाते और खाने की मेज़ों पर लैम्पों के साथ खड़ी की जाती थीं।

आयरलैंड के इस संक्रमण कालीन इतिहास के युग में सेंट पैट्रिक के ईसाई मत के प्रचार के लगभग बीस वर्ष उपरान्त लेन्सटर की राजधानी में लगभग ४५३ ईस्वी सदी में एक सामान्य राजकुमारी डव्थेक के घर में एक कन्या उत्पन्न हुई जिसकी माता अनुबद्ध स्त्री थी और वह कन्या ही किलदारे की सेंट ब्रिजिट कहलाई जो आयरलैंड के देशभक्त सन्त और अपने युग की सर्वश्रेष्ठ महिला के रूप में प्रकट हुई।

इस असाधारण बुद्धि-सम्पन्न भक्त महिला के सम्बन्ध मे कहा जाता है—"यद्यपि वह देवी और मानवी प्रतिभा से सम्पन्न वाणी प्रकट करती थी परन्तु वह स्वयं को सदैव तुच्छ समझती रही। उसने अपने आप को शब्द करने वाली धातु से अधिक नहीं समझा। ऐहिक सम्पत्ति के दान में वह उदार और मुक्त-हस्त थी, विशेष रूप से जब निर्धन और दुःखी व्यक्ति उसकी शरण में आते। यह मुक्त-हस्त दानशीलता स्वार्थ-सिद्धि अथवा अहंकार की भावना के साथ प्रकट नही होती थी, न ही उसके पीछे कोई छिपी हुई महत्त्वकांक्षा ही थी। जब कोई अपात्र व्यक्ति उससे भिक्षा मांगने आ जाता तब भी वह न तो रुष्ट ही होती और न किसी का बुरा सोचती थी। जब दुर्भाग्य ने उसे पीड़ित किया तब भी उसने दूसरों से ईर्ष्या नहीं की। सर्वश्रेष्ठ सम्मान पाकर भी उसने अपने आपको सबसे छोटा समझा। न्याय और सत्य के पथ पर बढ़ते हुए उसने जो अपमान और दुर्व्यवहार प्राप्त किया, उसे भी उसने अत्यन्त सहनशीलता और धैर्य के साथ ग्रहण किया। कर्म और आध्यात्मिक सत्य के लिए उसने निरन्तर संघर्ष किया।[1]

पौराणिकता ऐतिहासिक तथ्यों को रोमांचपूर्ण बना देती है। श्रद्धा से प्रेरित भावनाएं एक सन्त के जीवन और चरित्र को चमत्कारों से भर देती हैं। और जब उस सन्त का जन्म किसी नव युग की देहरी पर हो, प्राचीन विश्वास और परम्पराएं, अन्ध-विश्वासों, चमत्कारों और किंवदन्तियों के रूप में भविष्य के साथ एकाकार

1. "लाइब्स आफ़ दि आयरिश सेंटस—लेखक जान ओ" हैन्लोन, १८७५।

हो जाती है जिनके बीच मे सन्त का आध्यात्मिक अवतरण प्रकाश-स्तम्भ बन कर भक्तों का मार्ग-दर्शक और प्रेरक बन कर उन्हे परम सत्य की ओर खीच ले जाता है।

सन्त ब्रिजिट के सम्बन्ध मे अनेक परम्पराओ, विश्वासो, चमत्कारो और दन्त-कथाओं को परम्परागत साधुओ और वैरागियो द्वारा प्रसारित किया गया और मठों के लिपिकों के द्वारा ये सब विश्वास सकलित कर लिये गये। आज युगो पश्चात् विद्वानों के लिए यह खोज निकालना कठिन है कि वास्तविकता और दन्त-कथाओ के मध्य की सीमा कहा है। आयरलैंड मे ईसाई मत के प्रचार के साथ पूर्व ईसाई युग के विश्वासो और मान्यताओ को जड मूल से नष्ट नही कर दिया गया था। न ही ईसाई मत के प्रचार ने नवीनता की धर्मान्धता के साथ स्थापना की अपितु नये धर्म के उद्भव के साथ नवीन और पुरातन का एक सहज, तर्क-युक्त समागम हुआ। आयरलैंड में ईसाई मत के प्रथम प्रणेता पैट्रिक ने सहर्ष प्राचीन धर्म के उस समस्त रूप को ग्रहण कर ईसाइयत मे विलीन कर दिया जो उचित और ग्रहणीय था। परिणामत: यद्यपि पैट्रिक ने मूर्ति-पूजा को स्वीकार नही किया पर तारा पर्वत पर पवित्र अग्नि के प्रकाश के जलाये रखने के विश्वास को उसने ग्रहण कर लिया जो प्राचीन मूल धर्म की एक विशेष धार्मिक मान्यता थी। परिणामत: ईसाई मत और पूर्व ईसाई मतो के विश्वासो और विधियों के इस सम्मिलन के युग मे ब्रिजिट का जन्म हुआ और पैगनों की परम्परागत फसलो की देवी, कला, समृद्धि, विद्या की देवी सूर्य-पुत्री ब्रिजिट नाम के साथ इस पैगन राजकुमारी ईसाई और मतावलम्बिनी अनुबद्ध स्त्री ब्रिजिट को एक ही मान कर जो भ्रम बाद में उत्पन्न हुआ वह स्वाभाविक ही था। अत: सन्त ब्रिजिट की मृत्यु के पश्चात् किलदारे के गिरजाघर पर जो अग्नि प्रज्वलित की गई, उसे सूर्य-पुत्री के प्राचीन प्रतीक का चिह्न समझ कर फ़सलों की वृद्धि के लिए उसका सम्बन्ध जोड़ा जाने लगा।

इससे स्पष्ट हो सकता है कि सन्त ब्रिजिट के सम्बन्ध में पौराणिकता को वास्तविकता से पृथक् करना कितना कठिन है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सन्त ब्रिजिट से सम्बन्धित अनेक दन्त-कथाये मिथ्या है परन्तु उनके पीछे छिपे मूल सत्य ने उसके चरित्र और कार्यों को युगों से लोक-जीवन के बीच जीवित रखा है। अत: उनमें से कुछेक कथाओं की चर्चा अत्युक्ति नहीं कही जा सकती।

ब्रिजिट का जन्म गुलामी में ही हुआ था क्योंकि उनकी मा उसके जन्म से पूर्व दूसरे स्वामी को बेच दी गई थी। बड़े होने पर उसे अन्य दासियों की भांति काम करना पड़ा। भेड़ें चराना, चक्की पीसना, अतिथियों के पांव धोना उसका काम था। प्रथानुसार सेवा के योग्य होते ही उसके पिता ने उस पर अपने अधिकार का दावा

कर उसे सेविका के कार्य के लिए घर वापस बुला लिया। यद्यपि उसका काम अत्यन्त निम्न कोटि का था, परन्तु परिपक्व होते ही यह स्पष्ट हो गया कि वह असाधारण बुद्धि और प्रतिभा वाली स्त्री थी। वह प्रत्येक दासी-पुत्री को अपनी बहिन के समान मानती थी और पिता के अतिथियों के साथ भी उसका व्यवहार अत्यन्त मृदु था। इस गुण ने कालान्तर में उसे एक विशेष लाभ प्रदान किया और वह अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति—चाहे वह पादरी हो या सम्राट्—के हृदय को छूने में समर्थ हो पाई।

बचपन से ही ब्रिजिट के चरित्र में एक विशेषता आ गई थी जो जीवन-पर्यन्त बनी रही। वह थी उसकी उदारता जो संकुचित-हृदय व्यक्तियों के साथ कभी मेल न खा सकी। युवावस्था में वह अपने पिता की वस्तुएं उठा कर बांट देती। भेड़ें चराते हुए किसी भिखारी को देखकर वह गल्ले में से एक भेड़ ही उठा कर दे देती। उसकी यह उदारता उसके पिता के लिए असह्य हो उठी और कहा जाता है कि किसी दैवी प्रेरणा-वश ही ब्रिजिट पिता के दण्ड से बची रहती। अन्ततः वह पिता के लिए इतनी व्यय-साध्य हो उठी कि उसके पिता ने उसे लेन्स्टर के ईसाई राजा को बेच डालने का निर्णय कर लिया। प्राचीन प्रलेखों के अनुसार, एक प्रातः जब डब्थैक ने काम करती हुई ब्रिजिट को बुला कर उसे रथ पर बिठाया तो वह उस अप्रत्याशित व्यवहार को पाकर आनन्द से भर गई। पिता ने उसे बताया कि वह उसे सम्मान देने के लिए बाहर नहीं ले जा रहा है अपितु राजा को बेचने ले जा रहा है।

जब वे दुर्ग में पहुंचे तो उसका पिता नई दासी का मोल-भाव करने के लिए राजा के पास चला गया। ब्रिजिट रथ में बैठी प्रतीक्षा कर रही थी कि एक कोढ़ी वहां आया। उन दिनों आयरलैंड में कोढ़ियों को उनके शारीरिक कष्ट के कारण विशेष सुविधाएं दी गई थीं और उन्हें इच्छानुसार राजा के दुर्ग में घूमने-फिरने की भी स्वतन्त्रता थी। कोढ़ी ब्रिजिट के पास पहुंच कर सहायता मांगने लगा। राजकुमार के रथ में शान के साथ बैठी हुई भी दासी के पास भला देने को क्या था! कोढ़ी से दृष्टि हटा कर उसने रथ में पिता की रत्न-जटित तलवार को देखा और बिना किसी दुविधा-संकोच के वह तलवार उठा कर उसने कोढ़ी को दे दी। कोढ़ी तलवार लेकर चल दिया। राजा से बात करते हुए डब्थैक उसे बता रहा था कि ब्रिजिट की अतिशय उदारता के व्यय को वहन करना सामर्थ्य से बाहर हो जाने के कारण ही वह उससे बचना चाहता है और जब वह राजा से बात करके ब्रिजिट को लेने बाहर आया तो उसने देखा कि उसकी बहुमूल्य तलवार गायब है। डब्थैक क्रोध से भर उठा। उसने ब्रिजिट को बतलाया कि वह तलवार कितनी मूल्यवान थी और उत्तर में ब्रिजिट

से यह सुनकर कि इसीलिए तो उसने उसे ईश्वर के पुत्रों में से एक को दे दिया है, उसके क्रोध का ठिकाना न रहा।

पिता की तलवार उठा कर दे देने की इस घटना ने ब्रिजिट के जीवन में एक मोड़ ला दिया। जब लेन्स्टर के राजा ने इस घटना को सुना तो वह कोढ़ी को पिता की बहुमूल्य वस्तु को निर्भयता-पूर्वक उठा कर दे देने के उसके कार्य पर मुग्ध हो उठा। उसने उसके पिता को उसे दासत्व से मुक्त कर देने के लिए कहते हुए कहा—"उसे अकेला छोड़ दो। उसके गुणों को हमारी अपेक्षा ईश्वर अच्छी तरह परख सकता है।"

इस कथा की सामान्यत: यह व्याख्या की जाती है कि जिस प्रकार सन्त ने पोप की तलवार को मूल्यहीन समझते हुए दान में दे डाला उसका अर्थ यह है कि वह अपने देशवासियों को इस उदाहरण से यह बतलाना चाहती थी कि वे निरन्तर रक्तपात को छोड़कर अन्य मार्गों से जीवन बितायें और संघर्ष छोड़कर दयापूर्ण कार्यों में मन लगायें।

तलवार भेंट देने के इस कार्य का उत्तरांश हमें ब्रिजिट के बाद के जीवन में मिलता है जब वह समस्त आयरलैंड में विख्यात हो चुकी थी, कहा जाता है कि एक दिन एक योद्धा अपने आदमियों को लेकर किसी पड़ोसी सरदार पर आक्रमण कर उसे पराजित करने के लिए निकला और आशीर्वाद के लिए ब्रिजिट के पास आया। ब्रिजिट ने उसकी प्रार्थना के उत्तर में अपने आशीर्वाद में शान्ति की कामना प्रकट की और कहा—"मैं सर्वशक्तिमान परमात्मा से प्रार्थना करती हूँ कि तुम न किसी को घायल करो न स्वयं घाव सहो और नृशंसता के क्रूर प्रतीकों को मुक्ति दो।" इस प्रकार उस युग में जब युद्धों की शक्ति ही सर्व-मान्य थी संत ब्रिजिट न केवल शान्ति के लिए आध्यात्मिक कामना ही रखती थी अपितु व्यावहारिक रूप में भी युद्ध और द्वन्द्व को समाप्त करने में प्रयत्नशील थी।

दासता से मुक्ति पाने के पश्चात् ब्रिजिट को उसके पिता ने उच्च शिक्षा दी और तत्कालीन आयरिश समाज के सम्माननीय सदस्य एक कवि के साथ उसके विवाह का प्रबन्ध कर दिया। परन्तु ब्रिजिट ने संन्यास धारण करने का हठ किया और घोर विरोध के पश्चात् अन्ततः उसने भिक्षुणी का व्रत ले लिया। ब्रिजिट के लिए संन्यास का अर्थ एकाकी और निष्क्रिय जीवन नहीं था अपितु यह कार्यशीलता से पूर्ण एक आध्यात्मिक यात्रा थी। उस युग में जब स्त्री समाज में कोई भाग नहीं लेती थी, वह नेत्री बनी और समाज के समस्त वर्गों की स्त्रियों को परिवार के संकुचित घेरे से निकाल कर समाज की सेवा के क्षेत्र में ले आई।

ब्रिजिट ने स्वयं रथ पर स्थान-स्थान घूम कर विहारों की स्थापना की, उनके भवनों का निरीक्षण किया और दूसरों को ईश्वर के लिए जीवन देने और प्राणी-मात्र के प्रति करुणाशील होने की प्रेरणा दी। संन्यासी, संन्यासिनियो और सामान्य जनों के लिए बनाये गये विहार अन्दर से विशाल और स्व-निर्भर थे। वे धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष विद्याओं के केन्द्र थे जहां खेती-बाड़ी, चक्की, रंगाई, बुनाई और रोगियों की परिचर्या आदि की व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी। मुख्य बल उस आध्यात्मिक आधार पर था जिस पर उन केन्द्रों की स्थापना हुई थी। ये विहार पारस्परिक वैमनस्य से मुक्त थे और भ्रातृत्व के आदर्श थे, निर्धनों के लिए आश्रय और दुखियों के लिए शरणालय थे। परिचित और अजनबी सभी शान्ति की कामना से इन विहारों में जाते जहां ब्रिजिट उनका स्वागत करती। अपनी सेवा और धार्मिक परायणता के लिए ब्रिजिट देश भर में विख्यात हो चुकी थी। उसने अपना जीवन दैवी सेवा के लिए अर्पित कर रखा था और स्वयं अपने लिए कोई सांसारिक सुविधा उसने नहीं चाही। परन्तु दूसरों की सुख-सुविधाओं और आराम के प्रति वह सदैव सजग रही। ब्रिजिट को आनन्द, उल्लास, उत्सव, संगीत, सम्मेलन से प्रेम था और उसने समाज में परस्पर प्रीतिभाव बढ़ाने के लिए इस प्रकार के आयोजनों को अनिवार्य बनाया।

देश का बड़े से बड़ा व्यक्ति, छोटे से छोटा पैगन और ईसाई——सभी उसकी मधुर सम्मति के लिए उसके पास जाते थे, क्योंकि उन्होंने ब्रिजिट में अद्भुत प्रतिभा के दर्शन किये और उसके मार्ग-दर्शन से सदैव लाभ उठाया। ब्रिजिट का कथन था कि उसका मन कभी भी ईश्वर से विलग नहीं हुआ। आडम्बर-हीन ब्रिजिट को देखने के लिए जब देश के राजमान्य लोग उसके पास पहुंचते तो वह प्रायः भेड़ें चराती होती। दसवीं शताब्दी के एक आलेख में लिखा है——"वह भेड़ें चराती हुई उनके स्वागत के लिए आती थी?"

ब्रिजिट अपने देश में अपने समय की सम्मानित पैगम्बर थी पर वह पूर्णतः आलोचना से मुक्त न थी। उसकी असाधारण स्वाधीनता प्रायः दूसरों की आंखों में खटकती थी। वह मानवीय असफलताओं को स्वीकार करती थी और अगर बेईमान और दुष्ट लोगों से उसे कोई कष्ट पहुंचता तो भी उसे ईश्वर के उद्देश्य पर विश्वास रहता था कि यह पापी के मन को कोमल बनाने अथवा दैवी जीवन में राह निकालने के लिए ही है।

ब्रिजिट का अर्थ है शक्ति। और ब्रिजिट साहस, विवेक, सत्यप्रियता, दुःख में स्थिरता, भाषण की संक्षिप्तता और प्रभावशालिता के लिए लोकप्रिय थी। ध्यान देने की

बात यह है कि उसने बड़े से बड़े चमत्कारों के सहारे नहीं अपितु व्यावहारिक मार्ग से प्रसिद्धि प्राप्त की। उदाहरणार्थ उसके युग में नहाना-धोना शरीर की आवश्यकता नही अपितु एक विलास माना जाता था और ऐसे युग में शरीर को रोगों से मुक्त रखने के लिए शारीरिक स्वच्छता की वह सबसे बड़ी समर्थक थी। अनेक बार उपचार से पूर्व वह रोगी व्यक्ति के शरीर को स्वच्छ करने की ओर पहले ध्यान देती थी।

आयरलैंड में सन्त ब्रिजिट कृषि-जीवन की अधिष्ठात्री मानी जाती है। उसने भू-स्वामियों के हृदय पर अधिकार कर सदैव के लिए चरागाहों को सर्व-सामान्य के उपयोग के लिए मुक्त करवा दिया। बाल्यकाल से ही वह भेड़े चराने, गाये दुहने, मक्खन और पनीर निकालने, आटा पीसने और रोटी बनाने आदि के काम करती थी। वह स्वयं अपने विहारों के खेतों का निरीक्षण करती थी और खेतिहरों को सहायता देती थी। कहा जाना है कि प्रत्येक पर्वतीय खेत और पशु-केन्द्र उसके मन्दिर हैं, उसके मूल स्थान की नदिया, घाटिया और गाव उसके नाम से पुकारे जाते हैं और यूरोप के गिरजाघरो मे, विहारों और कुओं में उसका नाम ब्रिजिट, ब्रिजिट अथवा ब्राडा अंकित है।

ब्रिजिट की स्थापनाओं में सबसे प्रसिद्ध स्थापना लेन्स्टर में है, जो उसने स्वयं अपने लिए एक वड़ के पेड़ के नीचे पेड़ की टहनियों और गारे से एक कुटिया रूप में बनाई जो किलदारे के नाम से विख्यात है, (जिसका अर्थ है वड के पेड़ का गिरजा)। इसी मकान को केन्द्र बना कर आयरलैंड की सबसे प्रसिद्ध विद्यापीठ किलदारे विकसित हुयी। किलदारे मे ही ब्रिजिट ने अपने जीवन के सत्तर वर्ष बिताए और ५२५ ईस्वी सदी मे पहली फरवरी को ब्रिजिट का देहान्त हो गया। मृत्यु के पश्चात् उसे सन्त पैट्रिक के साथ उसी सम्मान और श्रद्धा के साथ दन (डाउनपैट्रिक) में दफना दिया गया।

लेकिन ब्रिजिट की आत्मा युगों से अपने देशवासियों के लिए अपनी करुणा और कर्त्तव्य -निष्ठा के आदर्श से प्रेरणा का केन्द्र बनी हुई है। उसके कई नाम प्रसिद्ध हैं— ब्रिजिट, ब्राइड, ब्रिडिज और हर नाम के पीछे घर, मठ अथवा चिकित्सालय में की गयी उसकी सेवा का इतिहास है। ब्रिजिट एक दासी थी, ग्वालिन थी, मठ-स्वामिनी थी, विद्वानों और मानवता के मित्रों की सलाहकार थी। उसका मन कभी भी ईश्वर से विलग न था। ब्रिजिट ने आयरलैंड के उस स्वर्ण-युग में भक्ति की दृढ़ता और ईश्वरीय प्रेम की शक्ति का सच्चा रूप प्रदर्शित किया

परिच्छेद २१

मैगदेबर्ग की मैकथिल्ड

जर्मन गूढ़तत्वद्रष्टाओं (अध्यात्मविद्या) का इतिहास ऐसी नारियों के धार्मिक एवं परमानन्दमय विवरणों से प्रारम्भ होता है—जो विलक्षण प्रतिभा एवं परमात्मा के प्रति अटूट प्रेम से परिपूर्ण थीं। उस काल में जबकि ईसाई विश्वास अपनी चर्च-पद्धति में दिन-प्रतिदिन (उत्तरोत्तर) बढ़ते हुए बुद्धि-प्रधान सिद्धान्त के आवरण से आवृत हो रहा था और जिसने अपनी चरम रेखा (शिरोबिन्दु), विद्याभिमानी सिद्धान्त तथा ब्रह्मज्ञान से उत्तेजित विचार की परम अभिवृद्धि में निर्धारित की। वे स्त्रियां असम्भावित पृष्ठभूमि से आश्चर्यजनक धार्मिक अन्तर्ज्ञान से प्रेरित संसार के सम्मुख अपने गूढ़ (रहस्यमय) अनुभवों, जो प्रत्येक ईश्वर अन्वेषक (साधक) को उत्तेजित करते हैं, की साक्षी देने को अवतरित हुईं।

बिजेनन की हिलदेगर्ड (१०९८-११९९) हमें अपने ईश्वर के आभास के विषय में बताती है जो उसे अपनी आन्तरिक पूर्णता से प्राप्त हुआ और जो उसके सहजीवियों को देदीप्यमान प्रकाश के समान प्रलक्षित होता था। स्वयं उसका कहना है कि प्राय: उसकी आत्मा ने आलोक के दर्शन किए। इसका यह अभिप्राय है कि उस आलोक के द्वारा ही समस्त आलोक आलोकित हो रहा है। प्रत्येक समय उसके समस्त दु:ख, शोक एवं वर्षों के बोझ खण्डित हुए।

ऐसे ही अनुभव हमें हैकबर्न की गर्टरड (१२५१-९१) जो इसालीबेन के निकट हैल्फटा के विहार (मठ) की अधिकारिणी थी, उसकी बहिन हैकबर्न की मैकथिल्ड में (१२६०-१३१०) जो अपने लाक्षणिक दर्शनों के लिए प्रसिद्ध थी, इस समय की स्त्रियों में कवि मैगडेबर्ग की मैकथिल्ड (१२०९-१२९९) में जो १२६८ में हैल्फटा आई और अन्ततः महान् गर्टरड (१२५६-१३११) जो अपने चेतना-सम्बन्धी स्वप्नों के घटित होने पर जीसस और मेरी से आश्चर्यजनक बातें करती थी, सबमें दृष्टि-गोचर होते हैं।

हम यहां मुख्यतः एक ईश्वर प्रेमिका जिसने चर्च और उसके नियमों के माध्यम के बिना ही इस अद्वितीय रहस्य को प्राप्त किया और जिसके विवरण भूतपूर्व धार्मिक लेखकों तथा काल्पनिकों के मतों का खण्डन नहीं करते, अपितु परमात्मा के साथ

ऐक्य का सजीव भाषा में वर्णन करते हैं का प्रभाव सार्वकालिक ईश्वर-प्रेमियों पर पड़ा तथा उन्होंने उसके प्रतीकों के प्रेम सम्बन्धी संकेतों से लघु आघात का भी अनुभव नहीं किया, जिन्हें उसने प्रेरणात्मक तथा प्रभावशाली जर्मन मिनेसांग से पाया था।

मिनेसांग तथा अध्यात्मविद्या कवित्वमय अभिव्यक्ति और मध्य युग की भावना में मित्रभाव से सम्बन्धित थे। यह स्वाभाविक है कि जर्मन मिनेसांग की लाक्षणिक भाषा का प्रभाव तादात्म्य के परमानन्दमय अनुभवों के विवरणों पर पड़ता। इसने एक विशेष विस्तार को जन्म दिया जिसने ईश्वरीय अनुभव की दार्शनिक युक्ति पूर्वक व्याख्या को जीवित रखा। आज भी प्रस्तुत विवरण हमारे लिए स्पष्ट और वास्तविक है। क्योंकि हमें रामकृष्ण के जीवन से यह शिक्षा मिलती है कि सदैव मनुष्य परमात्मा के दर्शन करने और उसे अनुभव करने मे समर्थ होगा। परमात्मा की यह अनुभूति जो मानव-जीवन का लक्ष्य और ध्येय है मैकथिल्ड ने ऐसे समय में प्राप्त की जब बौद्धिक और काल्पनिक सिद्धान्त और भौतिक विश्लेषण समकालीन भावधारा मे प्रचलित थे। उसके अनुभव ईश्वर के प्रति उसके अनुमान से बाहर (परे) तथा अप्रतिहत प्रेम के परिणाम थे। हमे अध्यात्मविद्या के इतिहास से मालूम होता है कि उन नारियों ने जिन्हें अन्तर्ज्ञान का वरदान (समर्पण) और पूजा की क्षमता प्राप्त थी उच्चतम अनुभव प्राप्त किया। अब प्रायः उन्हें महत्त्वपूर्ण कार्य करना है। इन पर यह उत्तरदायित्व है कि वे दैनिक संघर्षों से पुरुषों में प्रादुर्भूत हुई बंजर बौद्धिकता को निष्फल कर दे। एक आध्यात्मिक और दार्शनिक प्रशिक्षित मानसिक प्रवृत्ति तथा सहज ज्ञान एवं इस प्रकार अभिज्ञता से पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में उनके गम्भीर मूल्यों का पुनः अंकन करा सके। मैगडेबर्ग की मैगथिल्ड स्त्रियां ऐसे रहस्यमय अनुभवों से प्रादुर्भूत शक्ति की अनन्यतम साक्षी देती हैं।

उसके विषय में ऐतिहासिक विवरण बहुत कम संख्या मे प्राप्त है। उसका जन्म मैकडेबर्ग के समृद्ध एवं कुलीन परिवार में हुआ। यौवन के प्रारम्भ में ही वह ईश्वरोन्मुख हो गई और ऐसा कहा जाता है कि बारह वर्ष की अवस्था में अभ्युदय की कान्ति उसमें दीप्त हो उठी। उसमें भगवद् प्रेम, भगवान् की सेवा करने और उसी के लिए जीवित रहने की अभिलाषा उत्पन्न हुई। १२३५ के लगभग वह मैगडेबर्ग के 'वीमिन्स गृह' में प्रविष्ट हुई। ये 'वीमिन-गृह' धार्मिक बहनों के लिए थे। ये सतत व्रत के बन्धन में नहीं बंधे थे और न ही किसी चर्च या अन्य किसी संस्था पर निर्भर थे। वह स्त्रियों की संस्था निर्माण के विचार से बनाई गई थी जहां जीवन की

सादगी और अटूट श्रद्धा के साथ ईश्वर का चिन्तन किया जा सके। उनका मुख्य कार्य दान, रोगियों की सेवा-शुश्रूषा और त्याग था। हम निश्चय कर सकते हैं कि मैकथिल्ड ने भिखारिन बनकर अपने उपयुक्त कर्त्तव्य-पालन में देश का पर्याप्त पर्यटन किया और उसे जीवन का वह रूप समझ में आया जिसने उसे और भी ईश्वरोन्मुख होने की प्रेरणा दी।

उसने आत्म-पीड़न और तपस्या का अभ्यास करना प्रारम्भ किया। अध्यात्मविद्या में कई उदाहरण प्राप्त होते हैं, जहां शरीर को इतना उत्पीडन दिया गया है कि अन्ततः वह दिव्य प्रकाशन का पात्र बन जाता है। आन्तरिक मानसिक समार शरीर को उसी झलक का साधन बना देता है। अध्यात्मवादियों के शरीर को नियंत्रण मे लाने के ये सम्पूर्ण प्रयत्न भारतीय ब्रह्मचर्य की साधना के साथ अनुरूपता लिए हुए हैं। जहां पर प्रबल काम-वृत्ति को उच्चस्तर पर लाकर आध्यात्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयुक्त किया जा सके।

मैकथिल्ड में प्रकाश और प्रेम का समन्वय था। प्रतिदिन उसे नये प्रतीक और नए दृष्टान्त सूझते जिससे वह अपने भगवद् प्रेम और प्रबोधन के आश्चर्य को अभिव्यक्त कर सके। उसका आन्तरिक स्वर (अनहद नाद) मानो उसे अपने दिव्य प्रकाशन को स्मरण करने का आदेश देता। ईश्वर ने स्वयं ही उसे प्रलक्षित करा दिया कि किस प्रकार ईश्वरत्व स्वयं निरन्तर रूपान्तर और संसार के विभिन्न रंगों और सौन्दर्य में प्रकट होता है। लेकिन सबसे महत्त्वशाली दैवी प्रकाशन तथा सबसे विस्तृत रूप प्रेम है। हम यह कल्पना कर सकते हैं कि वह इस अन्तर्ध्वनि को क्यों सहन न कर सकी और क्यों उसे इस दैवी प्रकाशन को लेखबद्ध करना पड़ा? और वह किस प्रकार इस विचार पर पहुंची कि वह ईश्वर की झिलमिलाती हुई दीप्ति थी। अपने आश्चर्यजनक अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए उसे कोई उच्च मार्ग न मिला जिसमें कि वह उसको मानवीय प्रेम में अभिव्यंजित कर सके। आत्मा वधू हुई और ईश्वर वर और स्वर्गिक विवाह में प्रेम मृत्यु को पराजित करता है।'

यह रहस्यमयी मृत्यु होती है जहां समस्त अधम प्रवृत्तियां नाश को प्राप्त होती हैं और आत्मा एक पवित्र निःस्वार्थ प्रेम के राज्य में प्रवेश करती हैं जहां वह परमात्मा की आत्मा में पुनः अस्तित्वमयी होती है। मानव-मन की शारीरिक बन्धनों की प्रकृति के कारण ही केवल ईसाई गूढ़-वेत्ताओं ने ही नहीं अपितु सभी कालों और सभी धर्मों के गूढ़-वेत्ताओं ने रहस्यमय ऐक्य का वर्णन उत्पत्ति-विषयक दृष्टि से किया है। जैसे—सांसारिक प्यार और स्त्रियों के लिए प्रेम से जिनके विषय में उसके

समकालीन गायक अति सुन्दर पद्य गाते हैं——परमात्मा के प्यार को पराजित करने का मैकथिल्ड के लिए केवल एक अल्प उद्योग था। परमात्मा के साथ पूर्ण एकता के भाव के अतिरिक्त वह अपनी आत्मा के उन्माद को ज्ञान के प्रकाश और भगवद् प्रेम से उन्नत करती है।

वह जो प्रकाश का पान करता है और प्रकाश मे ही पुष्ट हुआ है वह दिव्य प्रकाश के पुज के रूप मे विकसित होता है जो अन्धकार मे सभी जनों के लिए आलोक का प्रसार करता है। प्रेम और प्रकाश के द्वारा यह उन्माद चेतना और ज्ञान को उन्नत करता है, एक शुद्धि देता है जो प्रबोधन की ओर और अन्तत. मुक्ति की ओर ले जाता है।

इस सन्त महिला ने चौदह वर्ष तक अपने अनुभवों और अभ्यासों को लेखबद्ध किया। वह लेटिन भाषा नही जानती थी। अतः उसे निम्न जर्मन में लिखना पडा। ये पृष्ठ हैले के हौर्नारिक पादरी द्वारा संगृहीत किए गए थे लेकिन अब अप्राप्य है। कुछ समय के पश्चात् ये नारर्डलिगन के हैनरिक द्वारा एलेमैनिक मे अनुदित किए गए और जनता के लिए सुलभ हो गए। यह मूल ग्रन्थ अभी भी एनसिडलेन के विहार मे उपलब्ध है। शीघ्र ही लेटिन मे इसका एक अनुवाद तैयार किया गया।

मैकथिल्ड ने केवल अपने आभासों और अनुभवों (जो' उसके समकालीनो के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण थे) की ही व्याख्या नहीं की अपितु अपने समकालीन लोगों की जिनके पाप और भ्रष्टाचार से गिरजाघर और विहार तक न बचे थे——उनकी तीव्र शब्दों में स्वतन्त्रता से आलोचना की। उसने सुधार का प्रचार किया, लोगों को आश्वासन और शिक्षा दी। उसका स्वयं कहना है कि वह स्वयं भी उसी प्रकार जीवन-यापन करती थी, उसका जीवन अपने समय के लिए एक ज्वलन्त उदाहरण था। उसने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष हैल्फटा के विहार में व्यतीत किए, जहा उसे गर्टरड बहन और हैकबर्ग की मैकथिल्ड जैसे आत्मिक सम्बन्धी मिल गए। वहां वह १२९९ को मृत्यु को प्राप्त हुई। जीवन के अन्तिम क्षणो मे जो स्त्री-संन्यासी उसकी सेवा-शुश्रुषा मे संलग्न थी उन्होने यह बताया कि प्रभु के प्रति अटूट प्यार में जीवन-यापन करने के पश्चात् मृत्यु भी उस परमानन्द से कम नही, जो परमात्मा के साथ पूर्ण तादात्म्य होने से प्राप्त होता है।

यदि हम इस संत द्वारा लिखित ग्रन्थ का अध्ययन करे, जो वह पीछे छोड़ गई है तो हमे यह पता चलता है कि मैगडेबर्ग की मैकथिल्ड को परमात्मा की अनुभूति, उसके प्रति अनूठे प्रेम और एक उत्कण्ठा जो कि दृढ़ तथा शुद्ध आध्यात्मिक आचरण

में अभिव्यक्त होती थी, के द्वारा हुई। यह उसे एक रहस्यमय अनुभव की ओर ले गई। परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन के पश्चात् उसकी पिपासा शान्त नहीं हुई और उसने पूर्ण तादात्म्य के लिए प्रयत्न किया। ऐसी दृढ़ उत्कण्ठा के मार्ग में कोई अवरोध नही आ सकता और अन्ततः उसने पूर्ण तादात्म्य अनुभव किया। एक ऐसी स्थिति जिसमें कि पूर्ण शान्ति और एकरूपता के आनन्द का राज्य हो और जिसका वर्णन 'सच्चिदानन्द' कहने से ही हो सकता है। ऐसी स्थिति मे परमात्मा ही उसका सर्वस्व था। उसने उसके दर्शन प्रत्येक वस्तु मे किये और इस संसार में उसकी महामाया को समझा जो कि ग्राह्य है। श्रीरामकृष्ण जी का कहना है कि हमारे समय में भक्ति सरलतम और सबसे उपयुक्त मार्ग है। मैगदेबर्ग की मैकथिल्ड प्रेम तक पहुंचने के लिए बड़े उत्साह से इस पथ पर अग्रसर हुई।

उसने अपनी पुस्तक का शीर्षक "ईश्वरत्व की तैरती हुई दीप्ति" रखा। इसकी भूमिका में वह लिखती है—"इस पुस्तक को प्रसन्नता से स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि परमात्मा स्वयं प्रस्तुत शब्दों में कह रहा है। प्रस्तुत पुस्तक एक सन्देश-वाहक की भांति सभी आत्मिक जनों को (भले-बुरे दोनों को) भेजी गई है। जब स्तम्भ (आधार) गिरे तो पुस्तक बहुत समय तक स्थिर नहीं रह सकती है। यह मुझे निर्दिष्ट करती है और मेरे रहस्यों का उद्‌बोधन करती है। प्रत्येक मनुष्य जो इस सन्देश को सुनने का अभिलाषी है अवश्य इस पुस्तक को नौ बार पढ़े। किसने इसका सृजन किया? मैंने ज्ञान की रचना अपनी न्यूनताओं के होते हुए भी की थी क्योंकि मैं अपने समर्पण (वरदान) को रोक न सकी। हे प्रभु तुम्हारी कीर्ति का मंगल गान करने के लिए इस पुस्तक को किस संज्ञा से अभिहित किया जाए? इसका शीर्षक होगा 'ईश्वरत्व की ज्योति' जो मनुष्य असत्यता के बिना रहते है उन सब व्यक्तियों के हृदय में झिलमिलाती है।"

परमात्मा के साथ तादात्म्य की धारणाएं सभी कालों और सभी धर्मों में उपलब्ध की जा सकती हैं। मैगदेबर्ग की मैकथिल्ड ने अपने समय की आवश्यकता को देखा जबकि ब्रह्मज्ञान के सिद्धान्त की हनोई की विचार-युक्त प्रचण्डता ने ईसा के वास्तविक उपदेशों पर आवरण डाल रखा था। अपने समकालीनों को एक अवस्था का विवरण देते हुए जो वास्तव में वर्णनातीत थी और जहां कोई शब्द नहीं पहुंच सकते तथापि उसने उस एकता के आश्चर्य का वर्णन स्पष्ट एवं सजीवता से किया है। यह पुस्तक सामान्य जन—जो बुद्धि-रहित तुच्छ विश्वास रखता हो—के लिए बड़ी सहायता थी। मैकथिल्ड को परमात्मा और आत्मा में सजीव सम्बन्ध और तादात्म्य प्राप्य था। अभिव्यक्ति के लिए उसका भावावेग ग्राह्य उपादानों को

छीनता था। उसने परमात्मा ग्रौर ग्रात्मा का मानवीकरण किया है ग्रौर इसके लिए स्पष्ट ग्रौर लाक्षणिक भाषा का प्रयोग किया है। ग्रात्मा में वह स्वयं पुकारती है। परमात्मा ने इस ग्रात्मा का सृजन उसके साथ ग्रपनी वधू की भाति प्रेम करने के लिए किया है। ग्रौर वह ग्रपना शाश्वत प्यार ग्रर्पण करता है।

उसके समस्त भाव उस ऐक्य के प्रति हैं जो परमात्मा के ग्राभास से प्रारम्भ होकर परमात्मा के उन्माद की उन्नतावस्था मे प्रवेश करते हैं। जहा ग्रात्मा परमात्मा से मिलती है। कई बार मैकथिल्ड पदार्थ-विज्ञान सम्बन्धी समक्षेत्र के उदाहरणों का प्रयोग करती है। वह श्रमकातर ग्रात्मा, जो परमात्मा के वक्ष स्थल पर विश्राम करती है, के विषय मे बताती है ग्रौर ग्रात्मा ग्रौर परमात्मा के मिलन को मदिरा ग्रौर जल की तरह, (उत्कण्ठित प्रभु जो ग्रपनी न्यारी ग्रात्मा से मिलने की शीघ्रता करता है) का वर्णन करती है।

परमात्मा से प्रेम के लिए वह केवल उच्चतम प्यार की इच्छुक है। उस उस वर्ग का ग्राभास हुग्रा जहा समस्त ग्रात्माएं परस्पर मिलती है। वह परमात्मा से दिन-रात एकीकरण करती थी। सन्त जन उसे नृत्य के लिए पुकार रहे थे ग्रौर परमात्मा से ग्रात्मा का सहयोग करने को कहा परन्तु उसने ग्रस्वीकार कर दिया। वह केवल परमात्मा के साथ नृत्य करना चाहती थी ग्रौर कहती थी—

मै नृत्य करना नही चाहती, जब तक तुम नेतृत्व नही करते हो।
यदि तुम चाहते हो कि मै नृत्य करूं
तो तुम स्वयं ग्राग्रो।
तब मैं प्यार में उछलूंगी
प्रेम से भक्ति में
भक्ति से ग्रनुभूति में
ग्रनुभूति से समस्त मानवों के ग्रन्तस्तल मे।

प्रस्तुत पद्य को समझना ग्रति कठिन है। लेकिन वास्तविक नृत्य रहस्यमय व्यायाम है जो चेतना के विभिन्न क्षेत्रों को परिमार्जित करने के लिए प्रयुक्त होता है उन्हें ऐहिक प्रभाव प्राप्त करवाने के उपयुक्त बनाता है। ग्रात्मा ग्रपने केन्द्र-बिन्दु के गिर्द नृत्य करती है ग्रौर चेतना की समस्त ग्रवस्थाग्रों से चक्राकार ऊपर चढ़ती है तब तक उसकी दिव्य चेतना, पूर्ण चेतना को प्राप्त कर लेती है।

मैगदेबर्ग की मैकथिल्ड ग्रपने जीवन काल में ही पवित्र ग्रौर निःस्वार्थ प्रेम के द्वारा ग्रपनी ग्रात्मा का परमात्मा के साथ तादात्म्य करने में समर्थ हो गई थी ग्रौर ऐसा माना जाता है कि क्या मृत्यु में भी वह केवल भावावेग से प्रेरित थी ग्रथवा परम प्रेम

से जिसने अनियंत्रित कल्पना में शरीर से प्रभावित विचारों को जन्म दिया था यह मानव मन में एक दिव्य शक्ति थी जो आत्मा से आवृत और अप्रत्यक्ष इस प्रसंग में एक पवित्र हृदय में स्वतन्त्र हुई थी, बड़ी शक्ति के साथ अपने स्वर्गिक स्रोत की ओर बढ़ने के लिए उसी प्रकार आकृष्ट हुई जिस प्रकार एक लोहे का टुकड़ा अप्रतिहत रूप से चुम्बक की ओर आकृष्ट होता है ।

मैकथिल्ड का प्यार एक अगाध शक्ति थी जो कि ब्रह्माण्ड मे सबसे अधिक बलवती है । प्रेम तीन प्रकार का होता है । प्रथम—वह प्यार जिसमे सदा मांगने की भावना है देने की नही । यह निम्न कोटि का विषयासक्त प्रेम है जो स्वरक्षा मे प्रेरित होता है । द्वितीय—व्यापारिक प्रेम है जो अपना ही लाभ सोचता है और देखता है कि हानि लाभ से सन्तुलित है कि नहीं । सभी मानव-वासनाएं इसी क्षेत्र पर चलती है । स्पर्द्धा हो या ईर्ष्या, घृणा हो या लालच । सभी इसी आत्मकेन्द्रित व्यापारिक प्रेम के ही फल है । अन्तिम-तृतीय प्रकार का चरम प्यार है जो सब को अपनाने वाला है जिसमे कोई प्रश्न नही, कोई तर्क और माग नही, जिसमे ईसा मसीह ने सूली का कष्ट सहा । माता अपने बालक के लिए अग्नि तक का ताप सह लेती है । मैगदेबर्ग की मैकथिल्ड आत्म-विस्मृत-सी होकर परमात्मा के वक्ष:स्थल पर गिरती है । वह स्वर्गिक प्रेम है, दिव्य प्रेम है । यदि हम केवल इस शक्ति से परिचित हो जाएं तो हम मैकथिल्ड के परमात्मा से अटूट सम्बन्ध को समझ सकते है । इससे उत्पन्न शक्ति अकेले ही युद्ध में जाने के लिए चर्च और धर्म के बिना ही, परमात्मा से एकीकरण के प्रयत्न के लिए समर्थ थी ।

आत्म-चेतना में आत्मा दोनों का मिलन स्थान होती है । यहां परमात्मा आत्मा से बातें करता है और आत्मा इन्द्रियों से । इस रहस्यमय बिन्दु पर शरीर और आत्मा मिलते है । परमात्मा और इन्द्रियां आत्मा में मिलती हैं और यदि मनुष्य अपने अहं में लीन न हो और क्रमबद्ध (नियमित) संसार के अनुरूप हो, तो यही एकता है ।

आत्मा जिसकी प्रकृति सर्वान्तरयामी सर्वशक्तिमान और शाश्वत है इस शरीर के कारागार में बन्दी बनने के लिए क्यों आई ? यह तर्कातीत है । शारीरिक चेतना में हम यह नहीं जान सकते कि वास्तविक पवित्र और पूर्व अवस्था में वह क्या है ? ठीक इसी प्रकार जिस प्रकार जागृत अवस्था में हमें यह मालूम नहीं होता कि गहरी नींद क्या है ? जब किसी घर में आग लगी हुई हो तो हम बिना कारण पूछे ही सर्वप्रथम अग्नि का शमन करते हैं । जब आत्मा को अपने वास्तविक रूप का ज्ञान होता है तो वह एकदम अपने दिव्य स्रोत की ओर भागती है । लेकिन

उसका यह गृह-प्रवेश शरीर रूपी वाहन से ही सम्भव है। ज्ञान और विवेक ही साधन है जो कि शरीर में इसको चेतना मन और बुद्धि रूपी यन्त्रों से सीखे जा सकते हैं। अतएव शरीर हमारा अमूल्य उपकरण है। इसमें हमें अपने अस्तित्व के तत्त्व का ज्ञान प्राप्त होना और आत्मानुभूति होना अनिवार्य है। इसके सिवाय अन्य कोई मार्ग नहीं। जैसा कि उमर खैय्याम ने कहा—

"जो तुम यहां ग्रहण नहीं कर सके
उसे उस क्षेत्र में कैसे ग्रहण करोगे ?
जहां न शरीर और न चेतना है।"

विचार एक बड़ी शक्ति है जो कि हमें शाश्वत आत्मा का ज्ञान कराती है। लेकिन वही विचार अवरोधक भी है जो कि लोहे की भांति हमारे मार्ग को अवरुद्ध करता है। जब वैयक्तिकता के मिटने का खतरा हो, विचार हमें चेतना के उस मार्ग पर जाने से सचेत करता है जहां विवेक और चेतना काम नहीं देते। ठीक ऐसा ही मैगदेबर्ग की मैकथिल्ड के साथ हुआ। परमात्मा द्वारा आश्वासन देने के पश्चात् कि उसकी आत्मा परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्त करेगी, उसकी समस्त इच्छाएं और प्रयत्न रहस्यमयी एकता की ओर निर्दिष्ट हुए जहां तर्क का अतिक्रमण होता है और समस्त समस्याओं का समाधान हो जाता है। लेकिन इन्द्रियों ने विरोध किया। परमात्मा के साथ मिलन का निषेध करने को कहा क्योंकि आत्मा उसके प्रचण्ड तेज को सहन नहीं कर सकती थी और जिस प्रकार मार्च मास की हिम को सूर्य का प्रकाश पिघला देता है उसी प्रकार ईश्वरत्व का तेजयुक्त प्रकाश उसे आत्मसात् कर लेगा। उसके मन ने यह तर्क अवश्य किया होगा कि क्या सत्य है और क्या असत्य है ? उसके समय के समस्त विवादास्पद प्रश्न भी उसके हृदय में अवश्य उठे होंगे, ऐसे प्रश्न जिनका उत्तर केवल परमात्मा के पास था। यह ब्रह्म-चिन्तन का सिद्धान्त, जो कभी-कभी मानव प्राप्त करते हैं और परमात्मा की आवाज़ सुनते और समझते है, चमत्कारों से सम्बन्धित है। मैकथिल्ड की आत्मा अपने परमात्मा की प्रकृति से पूर्ण भिज्ञ हो उठी थी और सम्पूर्ण सन्देहों का निवारण (निराकरण) करते हुए उसने लिखा :

मत्सी जल में डूब नहीं सकती
पक्षी वायु में नहीं गिर सकते।
परमात्मा अग्नि में समाप्त नहीं हो सकता
वह केवल अधिक देदीप्यमान होगा।
परमात्मा ने सब प्राणियों की सृष्टि की

ताकि अपनी प्रकृति अनुसार जीवन-यापन करें
और मैं अपनी प्रकृति का भी कैसे विरोध करूं ?
जो परमात्मा से एकीकरण की इच्छुक है
वह मेरा आजन्म पिता है
और मानव मात्र में मेरा भाई है,
प्यार में मेरा पति है
और चिरन्तनता में मै उसकी हूं !

इस प्रकार प्रभु के प्रति प्रेम उसके साथ आत्मा के तादात्म्य होने के पश्चात् ही तृप्त होता है। मैकथिल्ड अपने दैवी प्रकाशन लेखों में परमात्मा के साथ एकता को बहुत स्पष्ट और ग्राह्य विचार में प्रगट करती है जो जर्मन अध्यात्मविद्या के अनुरूप है। उपसंहार स्वरूप हम उसके गेय पद्यों को उद्धृत करते हैं, जिनमें उसके केवल कवित्वमय विचार ही नहीं अपितु उसका आध्यात्मिक अनुभव भी है।

संसार का अतिक्रमण कर
सब इच्छाओं को छोड़ कर
और अहं को पराजित करके ही
आत्मा परमात्मा से साक्षात्कार करती है ।
यदि संसार तिरस्कार करे
तो उससे कोई शोक नहीं,
शारीरिक आघात से आत्मा
रुग्ण नहीं होती ।
यदि दानव दु:साहस करे
आत्मा इसकी चिन्ता नहीं करती
वह केवल प्यार ही प्यार जानती है
और कुछ नहीं ।
एवं पुनः
तुम केवल प्यार द्वारा ही
अपने को स्वतन्त्र अनुभव कर सकते हो,
सभी उपदेश निस्सार हैं,
क्योंकि मैं प्रेम से रिक्त नहीं हो सकती
मैं प्यार की कारा में बंधना चाहती हूं,
जहां कहीं भी प्यार है वहां मैं जाने से नहीं रुक सकती

चाहे जीवन में हो या मृत्यु में।
यह मूर्खों की मूर्खता है जो कि
बिना शोक और मानसिक वेदना के रहते हैं।

कुछ पाठकों को सम्भवतः ऐसा आभास हो कि भावनाएं मस्तिष्क को पराजित करती हैं इसलिए मैंगदेबर्ग की मैकथिल्ड के रहस्यमय कवित्व में दार्शनिकता का अभाव है। परन्तु निम्न पद्य से पता चलता है कि किस प्रकार अनुभूति के तत्त्व को सूत्रवत् बल के साथ कहने में वह समर्थ थी :—

प्रेम ज्ञान के बिना
आत्मा के लिए अन्धकार है
ज्ञान बिना आत्मानुभूति के
आत्मा के लिए यमलोक (नरक) की यातना है।

परिच्छेद २२

नार्विच की जूलियन

नार्विच की एंक्रेस जूलियन के व्यक्तित्व में आंग्ल धार्मिक प्रतिभा का एक नारी के स्वरूप में पूर्ण प्रतिनिधित्व हुआ है, जिसकी तुलना यूरोप के मुख्य भूखण्ड की महान् महिला-सन्तों से की जा सकती है। चौदहवीं शताब्दी के लगभग सुदूर उत्तरी देशों के धार्मिक जीवन में रहस्यवादी प्रभाव की एक सशक्त धारा प्रवाहित हुई। जिसकी परिणति जर्मनी में एखार्त, टालर, सूसो और निचले देशों में रसब्रक के आविर्भाव में हुई। इस धारा का विस्तार हमारे अपने द्वीपखण्ड के तटों पर भी हुआ और जो अपने अवशेष रिचर्ड रोल की कृतियों में 'हरमिट ऑफ़ हैमपोल' में, 'पूर्णता का मापदण्ड' के लेखक वाल्टर हिल्टन में, अज्ञात नाम से लिखी गई प्रसिद्ध "अज्ञान के मेघ' में और एक अकेली छोटी-सी नार्विच की जूलियन की पुस्तक 'दिव्य प्रेम का महत्व' में छोड़ गई हैं।

इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि रहस्यवादी लेखकों के इस छोटे से समूह में भी परस्पर किसी प्रकार का प्रत्यक्ष प्रभाव अथवा सम्मिलन हुआ हो। इस बात के तो और भी कम प्रमाण हैं कि समुद्र पार के उनके महान् समवर्तिकों से किसी प्रकार का आदान-प्रदान हुआ होगा। आवागमन के सीमित और कठिन साधनों के उन दिनों में वे अपनी स्थानीय सीमाओं के पार पूर्णतः अज्ञात थे। बहुत सम्भव है कि उनमें से प्रत्येक दूसरों के लिए अज्ञात था। उनकी प्रसिद्धि, पिछली अर्द्ध शताब्दी की उत्पत्ति है, और वह पूर्णतः उन लेखकों की मृत्यु के उपरान्त हुई और पुनः खोज निकाली गई उनकी कृतियों से प्रसूत है। इस छोटे से और अज्ञात समूह में भी यदि कोई सर्वाधिक अज्ञात रहा तो वह थी अत्यन्त विनयशील नार्विच की एंक्रेस।

उस पर लिखने का अर्थ अनिवार्यतः उसकी पुस्तक का वर्णन करना है क्योंकि उसके सम्बन्ध में ज्ञात कुछ तथ्यों का एकमात्र स्रोत यही पुस्तक है। इसके साथ ही उसके गुण इस तरह के हैं कि अपनी पुस्तक में लेखिका हमारे सम्मुख स्पष्ट रूप से प्रकट हुई है। यह सत्य है कि कोमल और प्रभावशाली मानवता तथा पवित्र पारदर्शी आध्यात्मिकता के इतनी सादगी और स्पष्टता के साथ दर्शन कराने वाली पुस्तकें बहुत कम हैं।

अपनी विचार दृष्टि की अवधि मे, जूलियन कई वर्षों तक "एन्रेस' या रेक्लयुज (मध्ययुगीन इंग्लैण्ड के धार्मिक जीवन में सम्मानित पदवी) रही। उसे यह पदवी कानून के आधार पर मिली थी और उसने नार्विच के सेंट जूलियन चर्च के पूर्वी भाग के दक्षिणी हिस्से का कमरा (जिसकी नींव अब भी देखी जा सकती है) अधिकार मे कर रखा था। यही चर्च की दैनिक सामान्य प्रार्थना मे भाग लेकर ईसाई रहस्यों का ध्यानपूर्वक मनन करते हुए उसने अपना जीवन बिताया, और इसी कमरे में उसे वे अनुभूतियां (जिन्हें वह प्रकटीकरण कहना पसन्द करती थी) प्राप्त हुईं जो उसकी पुस्तक का आधार है। उसके परिवार के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं, केवल अनुमान लगाया जा सकता है कि वे सांसारिक वैभव से सम्पन्न थे जिससे कि वे उसके द्वारा अपनाये गए जीवन के इस ढंग के उपरान्त भी, उसे सहायता देते रहे। अनुभूतियों के समय, जिसे कि वह बिल्कुल ठीक तिथि देती है, वह कहती है कि 'वह तीस साल छः महीने की थी।' एक रिकार्ड लेखक के अनुसार वह १४१३ ए० डी० तक जीवित रही,। इससे स्पष्ट होता है कि वह ७० वर्ष की आयु से अधिक जीवित रही। जैसा कि वह स्वयं को अशिक्षित वर्णित करती है, यह भी प्रकट होगा कि उसकी पुस्तक स्वयं अपने हाथों से न लिखी होकर लिखवाई गई है। जिन परिस्थितियों का उसे सामना करना पड़ा उनका खुलासा उसके अपने शब्दों में यथासम्भव अच्छा हुआ है।

(अध्याय २) ये अनुभूतियां ए० डी० १३७३ की ८ मई को एक सामान्य प्राणी को हुई। जिस प्राणी ने पहले से ही तीन ईश्वरीय पुरस्कारों की इच्छा की थी उनमें प्रथम वासनाओं से पूरित उसका मन था, दूसरी तीस वर्ष की युवावस्था में शारीरिक रोग थे और तीसरी ईश्वरीय देन के रूप में तीन घाव थे।

"जैसा कि पहली स्थिति में मैंने सोचा था कि मुझमें ईसा के प्रति प्रेम की भावना थी, परन्तु ईश्वर की कृपा से मैंने उसकी और अधिक इच्छा की—और इसीलिए मैंने शारीरिक दृष्टि चाही—

"दूसरी अनुभूति मेरे मन में पापों के लिए दुःख के साथ आई। मैंने स्वच्छन्द रूप से मृत्यु के समान कठोर बीमारी चाही कि मुझे — पवित्र चर्च के समस्त संस्कार उपलब्ध हो सकें, मैं स्वतः चाहती थी कि मैं मर जाऊं और मुझे देखने वाले सभी प्राणी वैसा समझ लें — मैंने शारीरिक रूप से और प्रेत रूप मे (यदि मैं मर जाऊं) शैतान की सारी भयानकता और तूफान के साथ सभी पीड़ाओं की इच्छा की। केवल आत्मा का चला जाना कभी नहीं चाहा। इन दोनों इच्छाओं को भी एक शर्त के साथ चाहा। मैंने इस प्रकार कहा—'परमात्मा, यह तू जानता है मैं क्या होऊंगी-यदि वह तेरी इच्छा है—कि मैं शून्य होऊं परन्तु मैं वैसा ही हूंगी—जैसा तू बनाएगा।"

"तीसरे पुरस्कार के लिए—मैंने अपने जीवन में तीन चीज़ों की एक शक्तिशाली इच्छा धारण की, जिसे कहा जा सकता है कि पापों के लिए दु:ख की चोट, दूसरों को सहायता करने की दयालुता की चोट और इच्छापूर्वक ईश्वर पर भरोसा रखने की चोट। और यह सारी अन्तिम प्रार्थना मैंने बिना शर्त के प्रस्तुत की। पहले कही गईं ये दो इच्छायें मेरे मन से पृथक हो गईं परन्तु तीसरी मेरे ध्यान को निरन्तर एकाग्र किए रही।

(अध्याय ३) और जब मैं साढ़े-तीस वर्ष की थी, ईश्वर ने मुझे शारीरिक व्याधि भेजी, जिसमें मैं तीन दिन और तीन रात तक पड़ी रही, और चौथी रात को मैंने पवित्र चर्च के सभी संस्कार पूरे कर लिये और चाहा कि मैं दिन होने तक जीवित न रहूं।"

इस प्रकार वह अगले तीनों दिन तक झूलती रही। और तब मेरे शरीर का अधोभाग मृतप्राय: था, जैसा कि मैं अनुभव करती थी—मेरे अन्तिम समय के लिए चर्च का क्यूरेट बुला लिया गया था और जब वह आया, मैंने अपनी आंखें स्थिर कर लीं पर बोल नहीं पाई। उसने मेरे चेहरे के सम्मुख क्रास रखा और कहा—"मैं अपने स्वामी और मुक्तिदाता की प्रतिमा लाया हूं।" इसी समय जबकि वह अपनी बुझती हुई दृष्टि को इस प्रतिमा पर एकाग्र कर रही थी उसने इसे जीवन का स्वरूप समझा जिससे कि (अध्याय ४) अचानक ही मैंने (कांटों की) माला से रक्त टपकते देखा जो गर्म, ताज़ा और बहुत अधिक मात्रा में गिर रहा था।

अपने नेत्रों के सम्मुख क्रास की प्रतिमा को जीवन धारण करते देखकर उसे यह प्रथम आत्म-प्रकाशन हुआ, जिसे स्थूल दृष्टि की संज्ञा दी गई। और यह उसकी उपस्थिति स्थापित करती है, जिसमें परवर्ती आत्म-प्रकाशन हुआ। इसमें से प्रथम पन्द्रह प्रात:काल चार और नौ के मध्य हुए, जिस समय के दौरान उसे अपनी बीमारी की पीड़ा या कष्ट का अनुभव नहीं होता था। ऐसा प्रतीत होता है कि शारीरिक या बाह्य दृष्टि (भावात्मक या आत्मिक) और शुद्ध ज्ञानात्मक स्तरों पर एक नियमित बदलाव हुआ, क्योंकि अपने प्रथम आत्म-प्रकाशन के विषय में वह स्वयं कहती है—"यह सब तीन प्रकार से दिखाई दिये, जिसे इस तरह कहा जा सकता है, शारीरिक दृष्टि से, मेरे ज्ञान में शक्ति में निर्मित शब्दों और आध्यात्मिक-प्रेतात्मक दृष्टि से।" प्रथम प्रकाशनों के पूरे समय वह अपनी आंखों को प्रतिमा पर टिकाये रही, क्योंकि वह कहती है (अध्याय १४) "इस समय मैं क्रास से दृष्टि हटा सकती थी परन्तु मैं साहस नहीं कर पाई। क्योंकि मैं भली-भांति जानती थी कि जब तक मैं क्रास को निहारती हूं मैं निश्चिन्त और सुरक्षित हूं।"

पन्द्रहवें "आत्म-प्रकाशन की समाप्ति पर सब कुछ बन्द हो गया और मैंने आगे

कुछ नही देखा और शीघ्र ही मैंने अनुभव किया कि मैं जीवित और दुर्बल रहूंगी, और तुरन्त ही मेरी व्याधि पुनः वापस आ गई, जैसी कि वह पहले थी। और इस प्रकार मैं निष्फल और शुष्क हो गई जैसे मुझे कभी आराम मिला ही न हो। और मैं शारीरिक व आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति में असमर्थ होकर शारीरिक पीड़ा से दुरात्मा के समान कराहने लगी।" (अध्याय एल १४)। शारीरिक पीड़ा के पुनरागमन के साथ ही उसमें देखी गई बातों की यथार्थता और सत्यता के प्रति सन्देह उत्पन्न हो गया। वह कहती है—"यहां तुम देख सकते हो कि मैं मेरे 'स्वयं' में क्या हूं।" परन्तु हमारा शिष्ट परमात्मा मुझे यहां नही छोड़ता। और मैं उसकी दया पर विश्वास कर रात तक लेटी रही और तब मैंने सोना शुरू किया। वह स्वप्न दृश्य मे शैतान के प्रेत से प्रताडित की जाती रही कि "शैतान मेरे गले पर बैठा है—और वह अपना मुख मेरे चेहरे की ओर बढ़ा रहा है—मैंने ऐसा कभी नही देखा—यह भद्दा दृश्य मुझे सोते समय दिखाई दिया और ऐसा कोई दूसरा नही था। परन्तु—हमारे शिष्ट परमात्मा ने मुझे जागने का साहस दिया, और कठिनाई से मैं जीवन प्राप्त कर सकी।"

इसके बाद अन्तिम आत्म ज्ञान हुआ, जो उपसंहार स्वरूप सोलहवां था और पहले के पन्द्रहों की स्वीकृति था। (अध्याय १७) और तब परमात्मा ने मेरी आध्यात्मिक आंखे खोली और मेरे हृदय के मध्य स्थित आत्मा का दर्शन कराया। मैंने आत्मा को देखा जैसे कि वह अन्तहीन संसार हो और जैसे कि वह वरदानों से युक्त राज्य था। और—मैं समझती हूं कि वह प्रार्थनाओ से भरा नगर है, जिसके बीच मे ईश्वर और मानव—हमारा पिता मसीह बैठा है—और मेरी दृष्टि में जो स्थान हमारी आत्मा में मसीह ने ग्रहण किया वह बिना अन्त हुए उसे कभी हटायेगा, क्योंकि हममें ही उसका सबसे प्यारा घर है और उसकी अन्तहीन एकाग्रता है। और इस दृश्य में उसने दिखाया कि मनुष्य की आत्मा के निर्माण में उसका भी हाथ है, जो सन्तोष प्रदायक था। जिस प्रकार से परम पिता प्राणी बनाता है और ठीक उसी प्रकार से मानवपुत्र प्राणी बनाता है उसी प्रकार मनुष्य की आत्मा जो प्रेत बनाता है वह भी पवित्र है, इस प्रकार वह हो गया है और इसलिए आदमी की आत्मा के निर्माण में आशीषों से युक्त त्रिवंश ने असीम आनन्द लिया। क्योंकि उसने देखा कि अनादि की तुलना अनन्त ही हो सकती है।

इन शब्दों में जूलियन अपनी छोटी-सी पुस्तक का सार हमारे सामने प्रस्तुत कर दती है। यह पुस्तक अपनी यथार्थ आत्म-अनुभूतियों पर बीस वर्षों के मनन क उपरान्त लिखी गई। यह पुस्तक एक प्रौढ़ और प्रदीप्त बुद्धि का प्रामाणिक ग्रन्थ समझी जाती है। इसमें उस समय के दौरान में समय-समय पर होने वाली आत्म-

अनुभूतियों का मौलिक विषय छूते हुए आत्मिक प्रकाश उद्भासित किया गया है। अब तक यह परम्परा रही है कि उस काल की अन्य रहस्यात्मक कृतियों में तुलना और वर्गीकरण की दृष्टि से आवश्यक बातों को ही देखा जाता था। यह वास्तव में समानताएं बहुत कम हैं। वैसे भी वह अपने समय में यूरोप के महान् आध्यात्मिक आन्दोलन की एकमात्र महिला है जिसने लिखित रूप से कुछ दिया है। जूलियन अपने मन की स्वच्छन्दता में भी एकाकी है और सामने प्रस्तुत बातों पर उसके मन का गम्भीर व्यक्तिगत दृष्टिकोण भी अद्वितीय है। एक साधारण अशिक्षित प्राणी। वह अपने समय के रहस्यवादी जीवन के समवर्ती और कुलीन पुरुषों की दार्शनिक पृष्ठभूमि से सर्वथा अनभिज्ञ थी। उस समय पूर्वी रहस्यवाद से सम्बन्धित प्लेटो की विचारधारा के चिह्न उसमें कठिनाई से ही मिलेंगे, जो कि ईखर्ट, सतमब्रेक अथवा अज्ञात नाम से लिखी गई "अज्ञान के बादल" कृतियों में अद्वैतवादी गंध प्रदान कर सकी। जूलियन साहस के साथ मन के द्वैतवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है। ऐसा प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता है। वह सामान्य रूप से स्वीकृत अर्थों में द्वैतवादी नहीं थी जिसमें कि अच्छाई के सिद्धान्तों के साथ समानता और सहशाश्वत आधार पर तथाकथित बुराई के सिद्धान्त को स्वीकृत किया जाता है। परन्तु वह अधिक मौलिक और आधारभूत अर्थों में द्वैतवादी थी, जिनसे कि उसकी निर्मिति की दशाओं को पूर्ण मान्यता और स्वीकृति प्राप्त थी। वह अपनी जीव स्थिति के तल से आत्मा की आंखों के माध्यम अपने मुक्तिदाता की प्रतिमा की ओर देखती थी। और यदि उसकी उत्कण्ठा में भागीदार होने के लिए उसको एकात्म होने की अपनी इच्छा के अवसर पर कुछ कहती भी है तो उसमें अपने 'स्व' के समीकरण का प्रश्न ही उसी प्रकार खड़ा नहीं होता, जिस प्रकार कि किसी अतिश्रेष्ठ दैविक प्राणी में अपने व्यक्तित्व का आनन्दपूर्ण विसर्जन करने की तनिक भी इच्छा (अधिकार तो बिल्कुल नहीं) कहीं दिखलाई नहीं देती। इसके स्थान पर हम मूल रूप से एक अत्यन्त विनम्र और पवित्र आत्मा की साक्षी हर जगह पाते है, जिसे भली प्रकार से (किसी ने कहा है चतुरता-पूर्वक) अपनी अनुपेक्षणीय और अटल मानव स्थिति का ज्ञान था, और इससे भी अधिक स्पष्ट रूप से वह उस पीड़ा, अंधकार और भ्रम के प्रति सचेत थी जो उसके जीवन की गिरी हुई दशा में उस स्थिति से संयुक्त थी। इस प्रकार ऐसा लगता है कि उसका मन सदैव कर्त्ता और कृति के सम्बन्धों को लेकर ही सोचता था, और कहीं-कहीं हम एक चिरन्तन और गहरे आश्चर्य को प्रेम और आभार के स्वर में मिला हुआ देखते है जो हमसे हमारे घर के और शिष्ट स्वामी की बात कहता है।

अशिक्षा के कारण उसके समय में प्रवहमान दार्शनिक और सैद्धान्तिक धाराओं वह अछूती रही और संभवतः यह भी उसके मन की स्वच्छन्दता का कारण रहा है। जिस जीवित ईश्वर ने उसे बनाया और बचाये रखा उसके प्रेम और करुणा पर पूर्ण और अखण्ड आस्था पर भी कोई सन्देह नहीं रह जाता। फिर भी स्वयं के प्राणी होने की गहरी चेतना कहीं भी कायर और याचक नही बनती, उसका दृढ और उतार-चढाव से संयुक्त वह द्वैतवाद (अपने प्राणीपन की मूलभूत स्वीकृति) उस समय की रहस्यमयी आत्माओं की समानता पवित्र घोषणाओ और उसकी स्वयं की 'शून्यता' से उसे बचाता रहा।

अभी तक जूलियन की पुस्तक के यथार्थ वस्तु-विषय का अध्ययन उसके गुणों के कारण सन्तोष-जनक ढंग से नहीं हुआ है। प्रथम तो वह मानव-शास्त्र के रूप मे है, रहस्यवादी बाद मे है, और वह भी इन अर्थों में कि उसका ज्ञान और विकास चेतना के तर्क से परे स्तरों पर हुआ। ईश्वर द्वारा निर्मित मानव आत्मा की सही स्थिति और मूल्य पर उसे कोई सन्देह नही है (जैसा कि उल्लिखित १६वें आत्म-प्रकाशन मे स्पष्ट होता है)। वह फिर कहती है (अध्याय १० एल १२) "मानव आत्मा ईश्वर मे ही निर्मित है जिसने कि समान तत्वों का प्रयोग इसके बनाने में किया है वह ईश्वर को देखती है, वह ईश्वर को समाविष्ट किये रहती है और वह ईश्वर को प्रेम करती है। जहा कही ईश्वर ने आत्मा मे और आत्मा ने ईश्वर में आनन्द लिया वह असीम रूप मे आश्चर्य-जनक है।" इस प्रकार यह पहली बार निर्दिष्ट किया गया जिससे अमरता प्राप्त होगी। परन्तु "हमारा प्रवहमान जीवन अपनी दैहिकता मे नही जान पाता कि 'स्व' क्या है और तब हम स्पष्टता से देख सकेंगे कि हमारा स्वामी ईश्वर आनन्द से परिपूरित है—वह स्वभाव और शील (गुणों) से हमसे सम्बद्ध है, हमारी सम्पूर्ण शक्ति के साथ हमारे 'स्व' को उसकी सम्पूर्णता और असीम आनन्द की प्राप्ति के लिए जानना चाहिए।" (अध्याय १० एल ६।)

अपनी शक्तिशाली आत्मा और इतने गम्भीर तथा सतेज मन के साथ यदि जूलियन शैतान की यथार्थता से भलीभांति सावधान थी तो यह आत्म-पर्यवेक्षण की प्रक्रिया से ही संभव हुआ था। इस प्रकार वह दुःखी और उलझ गई थी — जैसा वह देखती थी चीजे वैसी ही दिखाई देती थीं। क्योंकि उसके स्वामी की स्पष्ट घोषणा थी कि मानव दृष्टि की परिधि से परे समस्त प्रकटीकरण के उपरान्त भी सब कुछ अच्छा होगा, और सब कुछ अच्छा होगा, हर प्रकार की चीज अच्छी होगी। (अध्याय २० यृ आई एल)। फिर भी हमारा विश्वास है— कि आनन्ददायक

त्रिपुट ने मानव रूप को अपनी प्रतिभा और इच्छा के अनुरूप गढ़ा है। इसी प्रकार हम जानते हैं कि जब मनुष्य पाप में इतनी गहराई और प्रबलता से फंस जाता है तब अपनी मानवता की पुनः प्राप्ति का एकमात्र उपाय यही है। जिसने मनुष्य बनाया है और जिस प्रकार कि त्रिपुट के समान अपने मैल रूप में बने हैं, वह चाहेगा कि हम अपनी पुनःनिर्मिति के गुणों के कारण-असीम स्वर्ग में हमारे मुक्तिदाता ईसा-मसीह के समान हो। (अध्याय १०) इसलिए यह अच्छा होगा कि हम उसके द्वारा दिखाई गई चीज़ों से डरें। उसने इसीलिए ये चीजें दिखाई कि हमें वह उन्हें जता सके। जिसके जानने से हम उसे प्यार कर सकें और समान रूप से उसमे अनन्त आनन्द की लब्धि कर सकें।

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि जूलियन आत्मा और उसके निर्माण-कर्त्ता के लाभ-दायक और उत्तरदायी सम्बन्धों की प्रकृति के विषय में सन्देह-रहित थी। संयत और सन्तुलित तथा गम्भीर और दीप्त वह समस्या के मूल कारणों का आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सकी। क्योंकि वह कहती है (अध्याय २४) "मैं अक्सर दुखी और शोकग्रस्त अपने स्वामी को निहारते हुए भयभीत स्वर में कहती थी— प्रभो! अच्छे स्वामी! तेरे प्राणियों को पापों से लगने वाली चोट के बाद भी कैसा सब अच्छा होगा? और यहां मैं इच्छा रखती थी, कि जितना साहस मै कर सकी इस सम्बन्ध में कुछ और स्पष्ट घोषणा हो जिससे कि इस सम्बन्ध मे मुझे चैन मिल सके। और इसका हमारे वरदायी स्वामी ने विनम्रता और प्रसन्नता से उत्तर दिया और बताया कि आदम का पाप अब तक चला आ रहा है और इसका इतना बड़ा नुक्सान है जैसा कि संसार के अन्त होने तक भी नही हो सकेगा। यह आगे उसने समझाया कि आदम के अतुलनीय पाप के बाद आत्म-सुधार ही ईश्वर को सबसे अधिक प्रिय है और माननीय है। और इस प्रकार इस शिक्षा से उसका अर्थ है कि हमें सावधानी रखनी चाहिए, चूंकि मैंने बहुत-सी हानियों को ठीक कर दिया है तो तुम्हें जानना चाहिए कि यह मेरी इच्छा है कि उससे कम जो कुछ होगा उसे मै ठीक कर दूंगा। और फिर 'सेवक' के दृष्टान्त वाले सुन्दर ५१वें अध्याय मे— "जब आदम गिरा, ईश्वर का पुत्र गिरा, क्योंकि स्वर्ग मे निर्मित एकात्मता के कारण ईश्वर का पुत्र आदम से अलग नहीं होगा (क्योंकि मैं आदम का अर्थ मनुष्य-मात्र समझती हूं)। आदम जीवन से मृत्यु में, विवाद-ग्रस्त संसार की गहराई मे और उसके बाद नरक में गिरा, ईश्वर का पुत्र भी आदम के साथ कुमारी के गर्भ मे आया जो कि आदम की सबसे सुन्दर पुत्री थी, और इस अन्त के लिए स्वर्ग और पृथ्वी पर आदम को कलंक से बचाने के लिए और बल-पूर्वक उसे नरक से निकाल लिया—

ग्रौर इस प्रकार हमारे ग्रच्छे स्वामी ईसा ने हमारे कलंक को ग्रपने ऊपर ले लिया ग्रौर इसलिए हमारा पिता ग्रपने प्यारे पुत्र ईसा पर लगे कलंक से ज्यादा हमारे लिए निश्चित नहीं करेगा।"

'दिव्य प्रेम के दैवी प्रकाशन' पुस्तक में हम एक सुवास-युक्त एकाकी व्यक्तित्व के परिचय का लाभ पाते हैं जो कि उसके ग्रपने समय के ग्रथवा भविष्य के 'साथी ईसाइयों' के लिए चिन्तन से ग्रटल रूप से प्रदीप्त है—जिनके लिए वह लिखती है। इसलिए उचित होगा कि हम उसी के ग्रन्तिम शब्दों के साथ इस लेख को समाप्त करें—"ग्रौर इसी समय से, जब कि मुझे दैवी प्रकाशन दिखाये गये, मैंने ग्रक्सर चाहा कि इस की साक्षी दूं कि हमारे स्वामी का क्या ग्रर्थ था। ग्रौर लगभग पन्द्रह या कुछ ग्रधिक वर्षों के उपरान्त इसका उत्तर छाया रूप से—यह कहते हुए प्राप्त हुग्रा : 'इस चीज़ में ग्रपने स्वामी के ग्रथ को साक्षी देना चाहती हो ? ग्रच्छी तरह से दो : प्रेम ! उसका ग्रर्थ था। किसने तुम्हें यह दिखाया ? प्रेम ! उसे कहां दिखाया ? प्रेम ! उसी में उसे पकड़ो ग्रौर तुम उसी में जान कर साक्षी दे सकोगे। परन्तु ग्रन्य किसी भी ग्रन्तहीन वस्तु में तुम उसे कभी नहीं जान सकोगे ग्रौर न साहस कर सकोगे।' इस प्रकार मैंने जाना कि हमारे स्वामी का मतलब प्रेम है। ग्रौर मैंने उसे पूरे विश्वास के साथ सभी चीज़ों में देखा कि हमें बनाने से पूर्व ईश्वर हमसे प्यार करता था। जो प्यार न कभी कम पड़ा ग्रौर न पड़ेगा। ग्रौर इसी प्रेम में उसने ग्रपने सारे काम किये हैं— ग्रौर इसी प्रेम में हमारा जीवन ग्रनन्त है। हमारे निर्माण में हमारा प्रारम्भ है, परन्तु जिस प्रेम से उसने हमारा निर्माण किया है वह प्रेम उसमें ग्रनादि है, जिस प्रेम में हमारा प्रारम्भ है। ग्रौर यह सब कुछ हम ईश्वर में ग्रनन्त रूप से देखते हैं। प्रभु ईसा इसकी ग्रनुभूति दें। ग्रामीन !"

नार्विच की जूलियन का सन्देश ग्रपने ग्राशय की पूर्णता के साथ उसके ग्रपने समय में ही कुछ प्रतिध्वनित हुग्रा था, ग्रौर संभवतः उसके बाद उससे भी कम बाद में प्रतिध्वन्ति हुग्रा। यह बहुत प्राचीन समय ग्रौर परम्पराग्रों से सम्बद्ध है जिसकी कुछ छाया ग्रभिव्यक्ति ईसाई चर्च के पूर्वी पादरियों में देखी जा सकती

परिच्छेद २३

सियना की केथेरिन

महात्माओं की सिद्धि और सम्मान-सूचक नामावली में कुछ ऐसी विभूतियों के नाम भी हैं जो अपने शैशव काल से ही साधु-वृत्ति के लिए ख्याति पा चुकी थीं। लगता है ये जीवात्माएं ईश्वर द्वारा इस भूमिका के लिए पूर्व-निश्चित अथवा उसकी अपनी मनचाही होती है। ऐसी महान् आत्माओं की पुनीतता बचपन में ही संसार पर प्रभाव डालने वाली होती है। केवल छः वर्ष की अल्पायु में सर्व प्रथम और इसके उपरान्त जीवन में अनेकों बार ही, ईश्वर की सत्ता का साक्षात् जिन्होंने अलौकिक आनन्द के रूप में प्राप्त किया था, ऐसी सियना की केथेरिन का स्थान सन्त-महात्माओं में निःसन्देह बहुत ऊंचा है।

मार्च, १३४७ को सियना के फाण्टब्रेटा नामक स्थान में केथेरिन बेनिनकासा का जन्म हुआ। अपने पिता गाइकोमो बेनिनकासा और माता लापा की वह २३वीं सन्तान थी। उसके पिता सफल रंगरेज़ थे। वे बड़े ही लोकप्रिय तथा धर्म-निष्ठ सत् पुरुष थे। इसके साथ ही उनकी धर्मपत्नी लापा योग्य तथा मेहनती गृहिणी थी। यही नहीं, वह भूल कर भी असत्य भाषण नहीं करती थी। रंगरेज़ एक बात का पक्का था। वह अपने घर में अधार्मिक और अनर्थक बातचीत नहीं होने देता था। अपनी माता से केथेरिन ने परिश्रम करना सीखा परन्तु पिता से उसे सदाचार और धार्मिक आस्था वसीहत के रूप में प्राप्त हुई।

यदि हम आज से साढ़े पांच सौ वर्ष पूर्व अपनी दृष्टि डालें तो हमें लगेगा जैसे हम आपस में एक दूसरे का हाथ पकड़े घर की ओर चले आ रहे दो नन्हे बालकों की धुंधली-सी झलक देखेंगे। बच्चे हैं कैथेरीन उम्र ६ वर्ष और उसका साल सवा साल बड़ा भाई स्टेफनो जो अपनी बड़ी बहन बोना बेनचरा से मिलने गये थे।

जैसे ही केम्पोरीज़ की पहाड़ी पर स्थित तपस्वी डोमीनिकेन के गिर्जाघर के पास बच्चे पहुंचे, कैथेरीन ने आकाश की ओर देखा और तभी उसकी नज़र के सामने सन्ध्या के धूमिल प्रकाश में एक अद्वितीय सिंहासन आया। इस पर ईसा मसीह, सन्त पीटर, सन्त पाल और सन्त जोकन बैठे थे। बच्ची आश्चर्यान्वित हुई, ईसा मसीह मुस्कराये। आशीर्वाद के लिए उन्होंने दो उंगलियां उठाईं।

आतुर भाई ने बहिन को इस अलौकिक स्थान से पुनः संसार की ओर बांह पकड़ कर खींच लिया। बेचारी नन्ही बालिका उस अलौकिक आभा को, जिसमें वह इस समय तक मग्न थी, छोड़ आई। वह चुपचाप अपने भाई के साथ घर की ओर बढ़ी। उसने इस झांकी को देखने की बात किसी से भी नहीं कही। अब तो यह नन्ही बच्ची अपने प्रत्येक कार्य में सावधानी रखती थी। फाण्टब्रेटा के अपने बड़े मकान में वह कोई अंधेरा-सा कोना चुन लेती और वहां सन्यासी बनने का खेल रचाती। मकान का यह कोना उसके लिए गुफा का काम करता था। यहां बैठ कर वह उपवास करती, प्रार्थना करती तथा निज-निर्मित अनुशासन के आधार पर यातना भोगती थी।

सात वर्ष की आयु में तो उसने सन्यास लेने का निश्चय पक्का ही कर लिया। लेसोट के वनों में, जो उसके घर से ३ मील दूर ही थे, एक सन्यास-आश्रम था। अपने खाने के लिए डबल रोटी लेकर वह शीघ्र ही शहर की चारदीवारी से बाहर वन में निकल गई। वहां एक गुफा देख कर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। कुछ देर इस गुफा में प्रार्थना करने के बाद उसकी धारणा बदलने लगी। सन्ध्या के समय प्रकाश की कमी और अकेलापन बेचारी केथेरिन को डराने लगा। घर बहुत दूर था और वहां पहुंचना भी आसान न था। उसके पैर लड़खड़ाने लगे, चक्कर आ गया। सहसा उसने अनुभव किया मानो वह बादलों पर बैठ आकाश में उड़ रही है और थोड़ी ही देर बाद वह शहर में थी।

वहां से वह कदम बढ़ाकर अपने घर जा पहुंची। इसके बाद फिर कभी उसने सन्यासी बनने का यत्न नहीं किया। लेकिन वन में कुछ घंटों की ही उसकी प्रार्थना-पूजा का असर ज़रूर हुआ। उसने प्रतिज्ञा कर ली कि वह अब ईसा मसीह की वधू होकर रहेगी। "मैं उसे (ईसा को) और तुम्हें दोनों को ही वचन देती हूं कि जीवन में किसी से विवाह नहीं करूंगी।" यह थी उसकी प्रतिज्ञा जो उसने ऐवर लेडी (सन्त मेरी) की मूर्ति के सामने खड़े होकर प्रार्थना के उपरान्त की थी। उसके बाद से बालिका केथेरिन प्रार्थना के लिए अधिक से अधिक समय देने के साथ-साथ संयम-नियम का भी विशेष ध्यान रखने लगी। उसने मांस खाना छोड़ दिया और रोटी तथा शाक-पात खाकर निर्वाह करने लगी।

बारह वर्ष की आयु में आने पर उसके माता-पिता केथेरिन के लिए उपयुक्त वर खोजने लगे किन्तु वह इस तरह की बातचीत पर बिल्कुल ध्यान नहीं देती थी। उनके बार-बार डांटने-फटकारने पर भी जब वह न मानी तो उन्हें अपने दत्तक पुत्र टोमासो डेलाफाण्टे को सहायता के लिए बुलाना पड़ा। टोमासो डेलाफाण्टे अब

'डोमीनिकन' पादरी बन गया था। आगे जाकर यही केथेरिन का पहला 'कनफेसर' भी बना।

पादरी ने आते ही केथेरिन से कहा—"यदि तुम अपने विचार की पक्की हो तो अपने केश काट डालो!" बालिका ने बिना किसी हिचकिचाहट के अपने सुन्दर लम्बे बाल काट डाले। कैथोलिक परम्परा के अनुसार यह प्रभुसमर्पण संस्कार माना जाता है। माता-पिता ने इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं दिया। केथेरिन से अकेले रहने की सुविधा छीन ली गई। नौकरानी को भी निकाल दिया गया। इस प्रकार केथेरिन अपना जो समय आराधना में लगाती थी वह अब घर के काम-काज में लगाने पर विवश थी।

बालिका ने अपना यह नया काम यह समझ कर अपनाया मानो कि वह अब 'नजारथ' के तीर्थ स्थान में काम कर रही है।

वह अपने पूज्य पिता को प्रभु ईसा मसीह के समान समझती, माता को 'वर्जिन' (माता मेरी) और भाई बहनों को अनुचर 'ब्लेस्ड' समझा करती थी। गाईकोमो ने एक बार केथेरिन को उस कमरे में आकर देखा जिसमें वह अपनी बहिन के साथ रहती थी। लड़की प्रार्थना में झुकी हुई थी। एक सफ़ेद कबूतर का बच्चा उसके सिर पर मंडरा रहा था। इस घटना के उपरान्त केथेरिन को अपनी रुचि के अनुसार जीवन बिताने की आज्ञा मिल गई। पिता ने रसोई के नीचे की एक कोठरी केथेरिन को दे दी। आज भी वह कोठरी सुरक्षित है। केथेरिन ने इसी कोठरी में रह कर नियम-संयम का पालन किया और अपने तन को पवित्र किया।

बहुत-थोड़ी-सी रोटी और कच्चे शाक-पात के अलावा वह कुछ नहीं खाती थी। यही नहीं, वह अपनी नींद भी कम करती रहती थी। एक समय वह भी आ गया जब अड़तालीस घण्टों में वह केवल दो घण्टे सोती थी।

"आत्म-संयम सबसे कठिन कार्य है" यह रहस्य उन्होंने प्रथम कनफेसर (अपने अपराधों की अभिव्यक्ति करने वाले) से कहे थे।

कथेरिन की विचार-धारा डोमिनकेनिन[1] से अत्यधिक प्रभावित थी। मेन्टीलेट[2]

---

1. रोमन कैथोलिक धर्मानुयायी।

2. भिक्षुणी के समान धर्म की सेवा में अपना जीवन-दान करने वाली महिलाएं एक विशेष प्रकार का चोगा पहिनती हैं और अपना सिर विशेष प्रकार के कनटोप से ढंकती हैं यह मेन्टीलेट कहलाती है।

बनने की उसकी आकांक्षा थी क्योंकि डोमिनिकन गिर्जाघर से सम्मान प्राप्त ऐसी महिलाओं की सीमा में पर्याप्त ख्याति थी। सन्त महिलाओं के इस दल में अधिकतर प्रौढ़ महिलाएं, अधिकांश विधवाएं होती थी। ऐसी महिलाए अपने ही घर पर रहती थी और शपथ आदि भी नही लेती थी, किन्तु अपना सारा जीवन परोपकार में ही बिताती थी। युवती होने के कारण केथेरिन का उक्त महिला दल में प्रवेश पाना शंका से खाली न था किन्तु शीतला के कारण उसकी मुखाकृति आकर्षक नही रही थी। इसीलिए 'प्रीओरेस'[1] (Prioress) ने केथेरिन की आयु को उसके धार्मिक जीवन मे बाधक नही माना। यही नही, केथेरिन के पवित्र जीवन का "प्रीओरेस" के मन पर बड़ा प्रभाव भी पड़ा। इसके फलस्वरूप १३६३ में "केथेला डिले वोल्ट" में एक रविवार को प्रातःकाल केथेरिन को परम्परानुसार भिक्षुणी के अनुरूप वेशभूषा 'मेन्टीलेट' से आभूषित किया गया। इस क्षण वह अत्यधिक प्रसन्न थी। गिर्जाघर जाने के अलावा वह सदा अपनी कोठरी मे ही रहती तथा आत्म-शुद्धि के लिए विभिन्न संयम-नियमों के पालन में व्यस्त रहती थी। आत्म-ज्ञान, दैविक अनुभूति पाने के लिए आवश्यक है। उनके परिसंवाद मे ईश्वरीय स्वर इस प्रकार मुखरित है—"इसीलिए मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देता हूं। यदि तुम मेरी (परम पिता की) प्रभुता का ज्ञान और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के योग्य हो जाओगी, तो आत्म-दर्शन के अतिरिक्त तुम्हें कुछ भी नही करना पड़ेगा। आत्म-ज्ञान तुझे विनम्र बनायेगा। विनम्रता की अनुभूति अहं को (मैं को) नष्ट करेगी। और तुझे अनुभव होगा कि तेरा अस्तित्व मात्र ही मेरे द्वारा दिया गया है। क्योंकि मैंने तुझसे और तेरे अस्तित्व के पूर्व भी अन्य लोगों को स्नेह किया है।"

"चलो, आत्म-दर्शन की कोठरी में चले" यह वाक्य हम केथेरिन के साहित्य मे देखते हैं। इस कथन का इशारा उनकी अपनी कोठरी वाली जिन्दगी की ओर ही था। इसी कोठरी में बैठ कर उसने परम पिता से सीधा सम्पर्क स्थापित करने का सौभाग्य प्राप्त किया था। सन्ध्या वेला में अनेकों बार स्वयं ईसा मसीह ने उसे दर्शन दिये थे। उसके साथ अनेक सज्जन मित्र जैसे सन्त 'जौन दि इवेन्जेलिस्ट,' 'मेरी मैग्डेलन,' 'सन्त डोमेनिक' या 'अपोटलो' में से कोई अन्य होते थे कहा जाता है कि उन्होंने स्वर्ग के मनमोहक संगीत की अनोखी रसानुभूति कई बार की थी और नन्दन वन के सुरभित पुष्पों की मादक सुगन्ध का सुख लूटा था। पूर्ण-रूपेण

---

1. महिला अधिष्ठात्री महन्तिन।

आत्म-समर्पण के सिलसिले में एक स्त्री की जो आवश्यकता होती है वह सब उस ईसा मसीह के प्रति उसके अगाध प्रेम के द्वारा प्राप्त हुई थी।

एक बार जब वह अपनी कोठरी में बैठ कर सोलेमन के गीत काण्टिकल का सस्वर पाठ करते हुए श्रद्धा-मुग्ध थी तब ईसा मसीह ने दर्शन दिये और उसे मधुर चुम्बन का सौभाग्य दिया। इस प्रकार चूमे जाने पर उसे अनिर्वचनीय सुख की अनुभूति हुई। उसने प्रभु से प्रार्थना की और पूछा— कि अपनी सतर्क निष्ठा को बनाये रखने के लिए उसे क्या करना चाहिए। कोठरी में निवास के अन्तिम वर्षों में जब वह २२ वर्ष की थी, उसने धीरे-धीरे पर बड़ी मेहनत से पढ़ना सीखा। उस काल में बहुत कम स्त्रियां शिक्षित होती थी। उनके साहित्य से यह स्पष्ट होता है कि 'गास्पैल'[1] और 'एपिसल'[2] का उन्हें पूर्ण ज्ञान था परन्तु प्रार्थनाओं के संग्रह का पाठ उन्हें अधिक प्रिय था।

इस अवधि में प्राप्त आध्यात्मिक सिद्धि की पराकाष्ठा थी। ईसा मसीह के साथ "रहस्यमय विवाह" की अनुभूति थी। यह मिलन १३६६ में हुए पूर्ववर्ती लेनटेन कार्निवाल[3] के अन्तिम दिन हुआ था। वह अपनी कोठरी मे बन्द थी। बाहर जनता रंगरलियां मना रही थी। केथेरिन जनता के पापों की क्षमा प्राप्त करने के लिए व्रत-उपवास और प्रार्थना करती रही।

प्रभु ने दर्शन दे कर उस से कहा—"क्योंकि तूने सांसारिक मोह-माया को त्याग दिया है और मेरे से लगन लगा ली है, इसलिए तेरा निर्माता और रक्षक होकर भी मैं अब तुझे वरता हूं।" इस अनुभूनि के द्वारा केथैरिन न वैयक्तिक रहस्यवाद से क्रियात्मक रूप में परोपकारी जीवन को अपनाया।

वह समय भी आ गया जब उसके पारलौकिक पति ने, अनन्य स्नेह प्रदर्शित करते हुए उसे अनुमति दी कि वह अपनी आराधना स्थली (कोठरी) से बाहर निकले। इसलिए वह प्रतिदिन शहर में दुखी बीमारों की चिकित्सा के लिए जाती थी। उसकी उपस्थिति सभी के लिए रुचिकर होती थी। परिपूर्ण धार्मिक वृत्ति तथा निर्लिप्त भाव से की गई उसकी सेवा बड़ी प्रभावशाली थी। उससे न केवल रोगियों के घाव पुर हो जाते थे, अपितु अनेक भूले-भटकों के हृदय भी निर्मल हो जाते थे।

उसकी आध्यात्मिक शक्ति की ख्याति धीरे-धीरे जन साधारण में फैलने लगी। उसके चारों ओर श्रद्धालु भक्तों की भीड़ जमी रहती थी। इन लोगों में न केवल 'डिवो-

---

[1] ईसू मसीह का सुसमाचार।

[2] धार्मिक साहित्य।

[3] प्री-लेनटेन कार्निवल।

टिड वीमेन आफ़ आर्डर' ही होती थी अपितु सुबुद्ध सन्यासी, सन्त (पादरी) आदि भी थे। बड़े-बड़े घरों के खानदानी और ख्याति-प्राप्त लोग भी उनके सत्संग से लाभान्वित होते थे। ऐसे से लोगों में कुछ बिगड़े दिल भी थे। केथेरिन की आध्यात्मिक पहुंच ने ऐसे लोगों को सही स्थान पर पहुंचा दिया। इन्हीं तथाकथित खानदानी रईसो मे से कुछ जिन्हें केथेरिन की आध्यात्मिक शक्ति ने सही मार्ग दिखाया था उसकी तपस्या में उसके साथ रहे और बाद में उसके लेखन-कार्य में सहायक बने रहे।

केथेरिन अपने अनुयायियों को शिशुवत् प्रेम करती थी। ये अनुयायी उसके लिए धर्म के बेटे-बेटियां थे। केथेरिन की आयु तो थोड़ी ही थी किन्तु उसके अनुयायियों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती ही जाती थी। ऐसे भक्त-गणों के लिए केथेरिन "धर्म-माता" के समान प्रिय थी। उसकी कोटरी जहां सदैव मोमबत्तिया जला करती थीं, भीड़ के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गई थी। कुछ लोगों पर तो उनकी धार्मिक महत्ता का जादू-सा हो गया था, पर कुछ सच्चे रूप से भक्त थे। इनमे से कुछ ऐसे भी थे जो भयातुर होकर उसका आदर करते थे किन्तु कुछ केवल कौतूहल-वश ही इकट्ठे होते थे।

इनका जीवन चरित्र लिखने वाले कनफेसर कापुआ के रेमण्ड ने लिखा कि आत्मविभोरावस्था मे उनके हाथ-पैर अकड़ जाते, आंखें मुद जातीं और उनका शरीर धरती से ऊपर उठ जाता था। ऐसे समय पर सुहावनी सुगन्ध बिखर जाती थी। प्रभु ईसा मसीह से इस प्रकार आत्मसात् करने की क्षमता रखने वाली केथेरिन 'ब्लेक डैथ' महामारी के फैलने पर सेवाभावी नर-नारियां की अगुआ थी। इस महामारी का प्रकोप सारे यूरोप में फैल गया था। उन्होंने बड़ी लगन से और निर्भीकता से जनता की सेवा की। कभी वे अस्पतालों में जातीं तो कभी महामारी के प्रकोप से त्रस्त इलाकों में जन-सेवा के लिए जातीं। सड़कों पर घूमतीं और रोगियों की सेवा करतीं। यही नहीं वह महामारी से मरे व्यक्तियों के अन्तिम संस्कार को भी अपने हाथों से करती थी। केथेरिन इस प्रकार की मानव-सेवा बड़ी दत्तचित्त होकर स्वेच्छा से और प्रसन्नता पूर्वक करती रही। इसके फलस्वरूप रोगियों को आरोग्य और धीरज प्राप्त होता था और मृत व्यक्तियों को आत्म-शान्ति।

केथेरिन की राजनैतिक गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करने से पूर्व भूमिका स्वरूप हमें तात्कालिक परिस्थितियों की जानकारी रखना अनिवार्य होगा।

सन् १३०५ में पोपगण इंटरनल सिटी (रोम) को छोड़ कर एवीगनौन में, जो रोहन नदी के किनारे था, बस गये थे। इन दिनों पेपल[1] सम्पत्ति को लेकर पारस्परिक युद्ध चल रहे थे। स्वयं रोम के गिर्जाघर और मठादि तेज़ी से अध:पतन की ओर जा रहे थे। धर्म प्रचारकों में रिश्वतखोरी असंयम, दुराचार का बोलबाला था। वे गरीबों की गाढ़ी कमाई पर बहुत अधिक शानो-शौकत से रहते थे।

अर्बन पंचम पहले पोप थे जो फ्रांस के राजा और धर्माध्यक्षों के विरोध के बावजूद भी पेप्सी[2] को पुन: इंटरनल सिटी (रोम) में ले आये। अप्रेल ३०, १३६७ को एवीगनौन छोड़ स्वागत हेतु आतुर जन-समूह की उपस्थिति में पोप १६ अक्तूबर, १३६७ को पुन: रोम पधारे। इस प्रकार प्रभु ईसा मसीह के प्रतिनिधि रोम पहुंच गये। सन् १३७० में अर्बन ने इटली का त्याग किया और इसी वर्ष उनका देहान्त हो गया। जार्ज एकादश जो फ्रान्सीसी थे पोप की गद्दी पर बैठे। केथेरिन का यह दृढ़ विश्वास था कि पोप सच्चे अर्थों में पृथ्वी पर ईसा मसीह के प्रतिनिधि हैं और उनकी परिपूर्णता शंका-रहित है। कैथोलिक गिर्जाघर उसके लिए प्रभु ईसा मसीह की आध्यात्मिक दुल्हिन के समान थे। इस अपने विश्वास के कारण उपरोक्त घटनाओं की जानकारी पाकर उन्हें बड़ा दु:ख हुआ। जब उन्हें यह पता चला कि प्रभु ईसा मसीह के धर्म का शासक-प्रतिनिधि अपने कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक नहीं है और अपने सुनिश्चित स्थान से अनुपस्थित है।

केवल २५ वर्ष की अल्पायु में ही केथेरिन ने पोप के सशक्त एलची को सन् १३७२ में एक पत्र लिखा, जिसमें समझाया था कि—"मेरी यह प्रबल आकांक्षा है कि तुम लोग एक अच्छे सेवक और सुपुत्र की तरह जिनका शुभ-चिन्तन प्रभु ईसा मसीह ने अपना बलिदान देकर किया है, उसी के बताये मार्ग पर चलो। पुरुषोचित हिम्मत के साथ अथवा बिना किसी दबाव या भय के तुम लोग इस मार्ग से कभी नहीं हटोगे, चाहे कहीं अन्यत्र प्राप्त सुख का तुम्हें लोभ दीखे अथवा इसी मार्ग में बाधा आये। इस प्रकार अपने जीवन भर तुम लगन के साथ काम करते रहोगे।" इस पत्र के द्वारा केथेरिन ने पहली बार गिर्जाघरों के मामले में हस्तक्षेप किया। सीवा के रंगरेज़ की अनपढ़-सी लड़की की इतनी हिम्मत हो जाये कि वह निर्भय होकर, नहीं नहीं, अत्यधिक गौरवान्वित होकर अपने पत्रों में पोप को—"मेरे परम प्रिय बापू"[3] के नाम से सम्बोधित कर सके, यह केवल आध्यात्मिक शक्ति का ही

[1] पेपल-रोमन कैथोलिक धर्म को मानने वाले लोगों का वर्ग।

[2] पैप्सी पोप की सम्पत्ति और धर्म स्थली आदि।

[3] मूल शब्द उच्चारण 'बाबो' है जिसका अंग्रेजी समानार्थक डैडी (पिता) है।

परिचायक है जो उसने प्राप्त कर ली थी। इस सन्त में सच्चाई की महत्ता इतनी अधिक सशक्त थी कि वह अक्सर अपने कथन को ईश्वर की इच्छा के अनुरूप ही मानती थी। फ्रान्स के राजा को एक पत्र में उन्होंने लिखा था—"परमात्मा की और मेरी इच्छा की पूर्ति करो।" इसी प्रकार पोप के पत्र में उन्होंने लिखा था—"ईश्वर की इच्छा और मेरी अन्तरात्मा की पुकार सफल बनाइये।"

धार्मिक नेताओं के विरोध के उपरान्त भी टस्कन गणतन्त्र और पोपशाही के बीच युद्ध छिड़ ही गया। केथेरिन ने पोप की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने वालों की भर्त्सना की और साथ ही पोप को भी धर्म-युद्ध छेड़ने पर सावधान किया। परन्तु १३७३ में धर्मयुद्ध छिड़ने पर उसने पोप का पूरा सहयोग दिया।

पोपशाही से सशक्त उनके राजनैतिक मामलों मे दखल देकर केथेरिन की बहुत आलोचना की गई। सन् १३७४ में "जनरल चेप्टर आफ़ द डोमीकन आर्डर" ने उनकी गतिविधियों तथा शिक्षाओं की परीक्षा के लिए उन्हें फ्लोरेन्स मे बुला भेजा। कापुओ के रेमण्ड जो इन्हीं दिनों केथेरिन के आध्यात्मिक निर्देशक और कनफेसर नियुक्त हुए थे, इस जाच के अध्यक्ष थे। उन्होंने यह स्वीकार किया था कि केथेरिन पूर्णरूपेण पवित्रात्मा है। अपने शेष जीवन में वे केथेरिन के सहयोगी ही रहे और केथेरिन को हर प्रकार के आध्यात्मिक अनुभवों में बहुत आगे मानते रहे। पोप के अधिकारियों में स्वेच्छाचार एवं अनैतिकता इतनी अधिक बढ़ गई थी कि फ्लोरेण्टाइन निवासियों ने विद्रोह खड़ा कर दिया। १३७५ के लगभग अस्सी नगरों ने पोप के विरुद्ध इस अभियान में भाग लिया। फ्लोरेण्टाइन वासियों पर पोप द्वारा किये गये अत्याचारों की सूचना पाकर केथेरिन का हृदय विदीर्ण हो गया किन्तु फिर भी उसका पोप की सत्ता पर अडिग विश्वास बना ही रहा। वह यह तो मानती रही कि पोप के विरुद्ध किया जाने वाला विद्रोह पाप है। उसकी भावना थी कि अगर पवित्र पिता इटली आना चाहें तो उनका स्वागत हो। उन्होंने अपने एक पत्र में पोप ग्रेगरी को इस सम्बन्ध में लिखा था—"एक बहादुर पुरुष की भांति आइये पर इस बात का पूरा ध्यान रहे कि आपके साथ फौजें न हों। आपके हाथ में क्रास हो और आप एक मुकोमल मेमने की भांति यहां आयें।"

परन्तु पोप ने तो अपनी सेना इटली भेज दी थी। जिसका सेनापतित्व एक मुखिया कर रहा था। कालान्तर में यही मुखिया क्लीमेण्ट सप्तम के नाम से जाना गया। सेसीना में बड़ी निर्दयता से मारकाट की गई। केथेरिन ने फ्लोरेण्टीन-वासियों से झुक जाने और पोप ग्रेगरी से अधिक संयत रहने का अनेकों बार अनु-रोध किया। फ्लोरेण्टीन-वासियों ने केथेरिन से अनुरोध किया वे उनकी स्थिति

का परिचय एवीगनौन वालों से करायें जो पोप के सामने उनकी समस्या रखें। कापुम्रों के रेमण्ड भी थे, जुन सन् १३७६ में वह एवीगनौन पहुंची। उसने फ्लोरेण्टीन के मामले की जोरदार पैरवी की। उसकी आध्यात्मिक पहुंच का दवाब इतना जोरदार था कि पवित्र पिता ने सारा मामला उसी को सौंप दिया। भाई रेमण्ड के अनुसार उन्होंने कहा था—"यह सिद्ध करने के लिए कि मै निःसन्देह शान्ति चाहता हूं, इस मामले को अब मैं तुम्हारे हाथ सौंपता हूं। तुम चाहो जैसा समझौता कर सकती हो, हां, चर्च (गिर्जाघर) की इज्जत का तुम्हें ध्यान रखना होगा।"

केथेरिन ने निर्बल और धैर्यहीन ग्रेगरी को एवीगनौन का सुख-सुविधामय जीवन त्याग कर उपयुक्त स्थान रोम लौट जाने की सलाह दी। इस बात में उसे सफलता भी मिली। बहुत अधिक आना कानी करने और उलट-फेर के बाद जनवरी, १३७७ में पोप को रोम आना ही पड़ा और इस प्रकार केथेरिन की बहुत बड़ी इच्छा की पूर्ति हुई।

इस शान्ति-संस्थापिका का एक और भी उल्लेखनीय कार्य १३७८ में नज़र आता है। इस साल पोप ने इन्हें फ्लोरेन्स में राजनयिक यात्रा पर भेजा था। फ्लोरेन्स-वासियों को पोप का आधिपत्य, स्वीकार कराने में केथेरिन सफल हुई। लेकिन इस कार्य में वह प्रायः शहीद सी हो गई थी। सशस्त्र समुदाय के सामने अपनी गर्दन बढ़ाते हुए उन्होंने कहा था—"मैं केथेरिन हूं। जैसा प्रभु तुम्हें करने की आज्ञा दें मेरे साथ करो, परन्तु ईश्वर के लिए मेरे साथ आये व्यक्तियों को किसी प्रकार का कष्ट न पहुंचने पाये।" यह सुनते ही भीड़ तितर-बितर हो गई।

सन् १३७८ मे ग्रेगरी की मृत्यु हो गई और छठे अर्बन जो इटली के निवासी थे पोप बने। इनकी देखरेख मे विशाल शेचिसजम का समारम्भ हुआ। यों तो नये पोप धार्मिक सुधार के बड़े समर्थक थे परन्तु साथ ही व्यवहार में कठोर और गतिबिधियो से हिंसक थे। केथेरिन ने अपने पत्र में उनसे अनुरोध किया था कि वे अपनी उक्त गतिविधियों को, जिनके लिए उन्हें प्राकृतिक प्रेरणा प्राप्त हो रही है, धीरे चलायें। इस अनुरोध का कोई असर नहीं हुआ। फलस्वरूप अर्बन को धर्म-विरोधी घोषित कर दिया गया। जिनेवा के रॉबर्ट को उनके समर्थकों ने 'क्लीमेण्ट सप्तम' के नाम से पोप चुना।

केथेरिन को, जिसका बाहरी जगत् में कार्य ईसाई धर्मावलम्बी संसार के आपसी भद-भाव मिटा कर मूल एकता लाना था, इससे बहुत निर्मम आघात पहुंचा। दान पर ही रहने का उनका व्रत अब कुछ अधिक कष्टप्रद हो गया था। उन्हें इतनी कम

भिक्षा मिलती थी कि कभी-कभी उन्हें निराहार तक रहने की नौबत आ जाती थी। उन्हें तुरन्त ही अर्बन से मिलने का अवसर मिला। मिलने पर उन्होंने सलाह दी कि रोम में तपस्वी साधु-सन्तों का सम्मेलन बुलाया जाए। इस में वे लोग हों जो अपना जीवन आराधना मे बिता रहे हों और ईसाई धर्म के आधार भूत अंग हों। धर्म के नाम पर इन सभी व्यक्तियों का आना केथेरिन को उसके विरोधियो से सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक था।

इस सम्मेलन के निमंत्रण का उचित स्वागत नहीं हुआ। जो लोग इस प्रकार का निमंत्रण पाकर रोम आये थे, वे बहुत थोड़े थे। अस्तु, कैथेरिन की यह योजना असफल रही। इस सम्बन्ध में उनके दुःख का अनुमान एक एकान्तवासी के नाम लिखे पत्र से लगाया जा सकता है, जिसने अपनी कोठरी छोड़ने में असुविधा व्यक्त की थी। "आध्यात्मिक जीवन को अगर हम यह समझते हैं कि वह स्थान विशेष छोड़ देने से नष्ट होता है तो हमने उसे बहुत ही साधारण और अत्यधिक कमजोर माना है। इस का तो यह अर्थ हुआ कि परमात्मा स्थान-विशेष में ही प्राप्त होता है और आवश्यकता पड़ने पर अर्थात् सहायता के लिये वह अलभ्य होता है।"

केथेरिन के क्षणभंगुर सांसारिक जीवन का अन्त निकट आ रहा था। निरन्तर की जाने वाली कठोर दैहिक तप-साधनाओं और आत्मा की पुकार के दमन के कारण वे बहुत क्षीण-काय हो गई थी। चर्च की निरोहीता के कारण उन्हें बहुत अधिक मानसिक वेदना होती थी।

केथेरिन कवि भी थीं। उनकी कल्पना शक्ति तीव्र थी। अपनी आध्यात्मिक सखी के नाम लिखे उनके पत्र में उल्लिखित इन उद्‌गारों से यह स्पष्ट होता है—"आत्मा प्रभु-प्रेम का वृक्ष है। प्रिय पुत्री अब तनिक विचारो कि यदि स्वतन्त्र विचार रूपी माली इस वृक्ष को लगाना चाहे तो कहां लगाये? निःसन्देह आज्ञा-पालन की भावना रूपी तराई में ही इस वृक्ष को लगाया जा सकेगा? इस वृक्ष में सद्‌वृत्तियों के सुगन्धित पुष्प लगेंगे और इन सभी पुष्पों से अधिक शोभामय और सुरभिवान् पुष्प ईश्वर भजन की महत्ता रूपी पुष्प होगा ....। सर्वोच्च और अमिट प्रभु-सत्ता यह अनुभव करती है कि मनुष्य पुष्पों पर नहीं फल के सहारे रहता है (हम पुष्पों के आधार पर रहें तो शायद मर जायें पर फल के सहारे जीवित रहें) इसीलिए उक्त वृक्ष के पुष्प तो प्रभु स्वयं अपने लिए रख लेता है और फल हमारे लिए छोड़ देता है।"

केथेरिन की जीवन की अस्त-वेला आ गई थी। उस केथेरिन की जिसने अपने समस्त जीवन के क्रिया-कलापों में अत्युदात्त सोहम् की भावना—मैं वह हूं जो सर्वत्र

है और तू वह है जो कहीं नहीं है —की अभिव्यक्ति की थी। जीवन की अन्तिम वेला में उन्होंने 'डिवाइन डायलाग' (दैनिक वचनामृत) नामक विशाल साहित्य दिया। साधना और परमानन्द के क्षणों में सीधे प्रभु से ही प्राप्त शिक्षा का सारांश है। वे तो स्वयं ध्यानावस्था में मग्न रहती थीं परन्तु उनके सहायक इन अमूल्य वचनामृतों को लिपिबद्ध कर लेते थे। प्रभु ईसा मसीह और केथेरिन के दैनिक संभाषाणों में ईसा को पृथ्वी और स्वर्ग के मध्य की सीढ़ी माना गया है।

"कितनी देदीप्यमान है वह आत्मा जो भयंकर तूफान वाले समुद्र को पार कर मेरे समीप, प्रशान्त सुखनिधि से अपने हृदय-घट को भरने के लिए आ गयी है।" संसार के अन्य धार्मिक साहित्य में विस्तार से इससे अधिक उदात्त भावना हमें सहज सुलभ नही हो पाती। हां, भारतीय सन्तों अथवा सूफ़ी अध्यात्मवादियों द्वारा ऐसा उल्लेख सम्भव है।

केथेरिन ने भोजन त्याग दिया था। उनका आधार केवल 'होली सेक्रामेन्ट' ही रह गया था। सन् १३८० में तो वे इतनी अधिक दुर्बल हो गई थीं कि उन्हें पानी भी हज़्म नहीं होता था। उनका सर्वस्व प्रभुमय हो गया था। प्रभु प्रेम की एक ज्वाला उनके मन में धधक रही थी। यह वह स्नेहानिल था जिसमे कुछ महीनों के उपरान्त उनका पार्थिव शरीर लीन हो गया। उन्होंने रेमण्ड को लिखा था—"यह शरीर बिना किसी आहार के यहां तक कि बिना जल की एक बूद प्राप्त किए भी रहा है। ऐसी शारीरिक यातना (तपस्या) मैंने पहले कभी अनुभव नहीं की। जीवन डोरी बहुत ही क्षीण हो गई है। एक धागे से लटकी है वह।" उनकी दैहिक तपस्या और परम प्रिय चर्च की दुर्दशा से मिली मानसिक वेदना जितनी अधिक उन्होंने सही थी उससे तो किसी अन्य व्यक्ति की जीवन लीला बहुत पहले ही समाप्त हो गई होती।"

अपने जीवन के अन्तिम आठ सप्ताह तो केथेरिन ने एक तख़्ते पर पड़े-पड़े ही बिताये जिसके चारों तरफ लकड़ी के तख़्ते इस तरह जोड़े गये थे मानो कफ़न हो। उनके आस-पास उन "धार्मिक बच्चों" (नर नारियों) की भीड़ लगी रहती थी जो केथेरिन को "परम प्रिय माता जी" के रूप में मानते थे। उन्होंने प्रत्येक को आशीर्वाद प्रदान किया और आदेश दिया कि वे आपस में प्रेम-भाव रखें। इस अवसर पर उनकी बूढ़ी माता जी भी उनके पास थीं।

धार्मिक रीतियों का निष्ठापूर्वक पालन करने के बाद केथेरिन ने प्रभु ईसा मसीह के वे शब्द दुहराये जो उन्होंने अपने अन्तिम समय कहे थे—"हे परम पिता ! मैं तेरे कर-कमलों में अपनी आत्मा अर्पित करती हूं।" इस प्रकार परम शान्ति से विभोर केथेरिन की इहलीला समाप्त हुई।

सियना की केथेरिन का चर्च के अध्यात्मवादियों में बहुत ऊंचा स्थान है। अपने युग की बाहरी अर्थात् सांसारिक निर्दयता, भयानकता और हिंसा का उन्होंने अदम्य साहस से सामना किया, यद्यपि ऐसा करना अत्यधिक कठिन था।

निःसन्देह जैसा कि हमने चित्रित करने का यत्न किया है केथेरिन का अपने समकालीन समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा था। बड़े-बड़े लोग उनसे सलाह लेते थे। यहां तक कि पृथ्वी पर ईसा मसीह के (विकार) प्रतिनिधि-पोप भी उनसे कई मामलों में सलाह लेते थे। उनके युग के राजा-महाराजा, सामन्त और अन्य महाजन भी उनकी सलाह से लाभान्वित होते थे। कहा जाता है कि सैकड़ों व्यक्तियों ने केवल केथेरिन के दर्शन प्राप्त करके ही अपने आचरण को धार्मिक बना लिया था।

आज दुनिया बदल गई है किन्तु फिर भी हम सियना की सन्त केथेरिन के अदम्य साहस और आध्यात्मिक पवित्रता का अनुकरण करके संसार के बाजार में अपनी दुकान सुविधा-पूर्वक चला सकते हैं। अपनी कठिनाइयों से छुटकारा पा सकते हैं।

संसार के लिए उनका संदेश काल के व्यवधान को तोड़ चुका है। दो आकृतियां हैं इस जगत् के स्वरूप की—एक वह जिसमें संसार का मोह, पाप, और मृत्यु चित्रित है और दूसरी आकृति इसके विपरीत प्रेम, आत्म-संयम और सुखमय चिर जीवन की है। मृत्यु का द्वार तो हम स्वयं हैं या हमारा अहम् है पर स्वर्ग की सीढ़ी पर चढ़ाने वाला द्वार, ईश्वर के समीप ले जाने वाला है। प्रभु ईसा मसीह सर्वव्यापी है।

वह जो अहम् रखता है, अभिमानी है। वह तो अपने आपको नाश के हाथों सौंप रहा है। परन्तु वह, जो प्रभु ईसा मसीह की शरण में जाता है, वह कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होता। उसकी सर्वत्र रक्षा होती है।

परिच्छेद २४

एविला की टेरेसा

अपने जीवन के उत्तर काल में सन्त नाम से सुशोभित होने वाली महिला टेरेसा का जन्म सन् १५१५ ई० में स्पेन के ओल्ड कैस्टिल नामक प्रान्त के एविला नगर में हुआ था। उसका बचपन, खानदानी परिवार में जन्म लेने के कारण बड़ों की छत्रछाया में बीता। और लालन-पालन तत्कालीन स्पेनी रीति-रिवाजों को पूरी तरह मानते हुए किया गया। उन दिनों स्पेन में एकान्त जीवन बिताने की प्रथा थी। स्त्रियां विशेष रूप से एकान्त जीवन बिताती थीं। चर्च जाने के अतिरिक्त स्त्रियां घर की चारदीवारी में रहती थीं। टेरेसा ने अपने बचपन के बारे में बहुत थोड़ी जानकारी दी है। उन्होंने लिखा है कि १२ वर्ष की अल्पायु में उनकी माता का देहान्त हो गया था। अपनी इस हानि की पूर्त्ति के लिए वे 'ईसा मसीह की माता' की शरण में जाने के लिए आतुर थीं। बचपन में वे शूरवीरों और सन्तों की जीवन-गाथा से प्रभावित हुई थीं। उनकी तरुण कल्पना-शक्ति इन गाथाओं से इतनी अधिक प्रभावित हुई कि एक दिन वे अपने भाई के साथ मूरों के हाथों बलि होने के भय से घर छोड़ कर भाग निकलीं। किन्तु अभी नगर-कोट के बाहर भी नहीं जाने पाई थीं कि पुनः अपने घर लाई गईं।

सोलह वर्ष की आयु में इनके पिता ने इन्हें अगस्टीनिन कानवेण्ट में अपनी शिक्षा पूरी करने के लिए भेजा। वे जिन्हें टेरेसा को देखने का अवसर मिला था, कहते थे कि वे हँसमुख थीं। उनका व्यक्तित्व आकर्षक था और वे गहनों-कपड़ों की शौकीन थीं। उनको दूसरों द्वारा की गई प्रशंसा भी अच्छी लगती थी।

एक लम्बी बीमारी के बाद वह कानवेण्ट से घर आईं। पुनः स्वास्थ्य-लाभ के लिए वह अपनी बड़ी बहिन के घर भेजी गईं। मार्ग में वह अपने चाचा के यहां रहीं। चाचा ने टेरेसा से 'लाइव्ज ऑफ दि सेंट' नामक पुस्तक से कुछ अंश जोर-जोर से पढ़ कर सुनाने के लिए कहा। इसी पुस्तक को पढ़ते हुए उन्हें जीवन की निःसारता का आभास हुआ। नरक का भय उन पर छा गया। इसके साथ ही

पश्चाताप के लिए किए जाने वाले कर्मों का डर भी उन्हें लगा। उन दिनों स्पेन में आत्म-ज्ञान की परीक्षा की परम्परा थी। इसके आधीन आतंकित करने वाले और हिंसात्मक नियम को स्वीकार किया गया था। और उसमे नरक की यातनाओं का सविस्तार उल्लेख था।

यह सब देख-सुन कर टेरेसा ने धार्मिक जीवन बिताने का निश्चय किया। इसमें कोई संदेह नहीं कि उनका धर्म की ओर झुकाव सम्बन्धी निर्णय जैसा उन्होंने स्वयं भी कहा, भय वश था, ईश्वर-प्रेम के लिए नहीं। धर्म की शरण लेकर संयम-नियम मे चलना पश्चाताप के स्वरूप भुगतने वाली यातना से सरल था।

तीन माह तक उनका अन्तर्द्वन्द्व चलता रहा। इसके बाद उन्होंने अपने पिता से अपनी अभिलाषा व्यक्त कर दी। पिता ने कहा कि उनके जीते जी टेरेसा कानवेण्ट मे दाखिल न हो। किन्तु टेरेसा यह वचन देने में असमर्थ थीं क्योंकि उन्होंने इस सम्बन्ध में अपना निश्चय कर लिया था। एक बार फिर वे घर छोड़ कर चली गईं। घर से जाकर उन्होने "कान्वेंट ऑफ इनकारनेशन" में प्रवेश प्राप्त कर लिया। प्रवेश के समय टेरेसा की आयु इक्कीस वर्ष की थी। अगले साल ही उन्होंने कान्वेण्ट में रहने आदि की शपथ भी ले ली।

वैसे तो सारी जिन्दगी टेरेसा का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा किन्तु धार्मिक साधना के प्रारम्भिक चरण मे तो उनका स्वास्थ्य काफी खराब रहा था। स्वास्थ्य-लाभ के लिए उन्हें एक प्रसिद्ध चिकित्सक के पास भेजा गया। एक बार फिर उन्हें मार्ग में अपने चाचा के मकान पर ठहरने का अवसर मिला। उनकी इस यात्रा का बड़ा महत्त्व है। इसने तो उसकी जीवन-धारा ही बदल दी। उनके चाचा ने चिन्तन से सम्बन्धित उन्हें एक पुस्तक दी। अब तक उन्हें ध्यान-चिन्तन आदि के बारे में कुछ भी ज्ञान नहीं था। इतना अवश्य कह सकते है कि वे एकान्त में बैठ कर आत्म-निरीक्षण की अभ्यस्त हो चली थीं। यह ग्रन्थ उनका मार्ग-दर्शक, दार्शनिक और सहयोगी सिद्ध हुआ क्योंकि जीवन के २२ वर्ष बिताने के उपरान्त उन्हें कोई ऐसा उपदेशक मिला था जिसे उनकी मन: स्थिति की जानकारी थी।

इलाज से बीमारी और भी अधिक बढ़ती देख कर उन्हें पुन: एविला लाया गया जहां उन्हें संत जॉन के ये शब्द स्मरण आये—'जब परमात्मा हमें सदा अपनी शुभाशीष और सद्भावनाएं प्रदान करता रहता है तो उसे हमारी उद्दण्डता पर ताड़ना देने का भी अधिकार है।' शनै:-शनै: उनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया। यहां तक कि उनको मरणासन्न समझ कर दफनाने के लिए स्थान भी

तय कर लिया गया किन्तु न जाने कैसे वे पुनः जीवन पा गई । नीचे लिखे शब्द उन्हीं के द्वारा कहे हुए बताए जाते हैं—"मुझे वापस क्यों लाया गया ? मैंने नरक को देख लिया न । अब मुझे अपने आप को नये मांचे में ढालना होगा । मठ की शरण लेनी होगी । मुझे अपनी आत्मा की रक्षा तो करनी ही है । हां, मैं ऐसा अवश्य करूंगी । मैं सन्त बन कर ही प्राण त्यागूगी —सन्त बन कर ही ।"

कान्वेण्ट से लौटने के बाद वह समय आया जब उनकी निष्ठा संसार और ईश्वर दोनों में ही समान रूप से बंटी रही । इन दिनों का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है —" जब मैं इस संसार का भोग कर रही थी तब मुझे ईश्वर के प्रति मेरे कर्त्तव्यों की सुधि ने परेशान किया किन्तु जब वन्दना मे बैठी तो भी बड़ी बेचैनी रही क्योंकि ससार का मोह मुझे खींच रहा था ।"

टेरेसा ने सन् १५५५ में आध्यात्मिक जीवन की व्यग्रता अनुभव की । वह समय भी आया जब वे अपने पिछले जीवन को दो भागो में देखने लगी । एक भाग था सामन्य जीवन का और दूसरा वह था जब उन्होंने ईश्वर को अपने मे पाया । यह सब उनकी ध्यानावस्था में की गई वन्दना द्वारा प्राप्त सिद्धि की ही देन थी ।

ईमा के प्रति टेरेसा का अनुराग अबोध की जिज्ञासा न थी । जैसे-जैसे उनकी आध्यात्मिक उन्नति होती जाती थी वैसे ही वैसे उनका अनुराग विकसित होता था । उनके मन में बैठा प्रारम्भिक भय अब अपत्य के हित में होने वाले भय के समान सुरक्षित हो गया था । परमात्मा के प्रति उनका अनुराग उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया । प्रभु ईसा मसीह उनके ऐच्छिक आदर्श की प्रतिमूर्त्ति थे । उनके आध्यात्मिक स्वामी और साथी थे । ईसा मसीह जिन्हें वह सदैव अपने समीप ही रखना चाहती थीं । अपने इस आदर्श को प्राप्त करने के लिए उन्होंने कोई कसर नहीं उठा रखी । वही टेरेसा जो कुछ दिनों पूर्व अलंकार, श्रृंगार और नारी सुलभ अन्य बातों में व्यस्त रहती थी अपनी सभी वस्तुओं को त्याग कर भोजन के प्रति भी उपेक्षा दिखाने लगी । कहा जाता है कि जब टेरेसा ने अपने आप को सन्त जोसफ़ के समान बनाने के लिए इन्कारनेशन के कान्वेण्ट को छोड़ा, उनके पास केवल एक हेबिट[1] और एक कंघा था ।

अपने अनुयायी बनाने के लिए सन्त हमसे क्या अपेक्षा करती है ? बहुत थोड़ी । हम प्रतिदिन कुछ क्षण परमात्मा के भजन के लिए सुरक्षित रखें । एक या दो घण्टे एकाग्र चित होकर परमात्मा का भजन करें । शांत एवं एकान्त स्थान में

[1] हेबिटः—स्त्री पादरियों के पहिनने वाले वस्त्र ।

चले जाए। क्या आपने कभी ऐसा किया है ? ऐसा करोगे तो लाभ ही लाभ प्राप्त होगा। अगर एक बार इस राह पर आप चल पड़े तो फिर कभी भी इसे नही छोड़ेंगे चाहे फिर जो कुछ भी हो।

प्रभु-चिन्तन और ध्यान द्वारा आप संसार के गोरख-धन्धों से छुटकारा प्राप्त कर लेंगे। विवेक बुद्धि का सहारा लेकर ऐन्द्रिय जाल से छुटकारा प्राप्त होगा। इस प्रकार जब अन्तःकरण पूर्ण रूपेण शुद्ध हो जायेगा तो प्रभु से एकीकरण की स्थिति प्राप्त हो जायेगी।

टेरेसा के अनुसार ध्यान-चिन्तन की चार प्रमुख अवस्थाएं हैं। अपने इस सिद्धान्त को समझाने के लिए उन्होंने निम्नलिखित रूपक प्रस्तुत किए हैं :—

"प्रत्येक व्यक्ति को उस परम प्रभु से भूमि का एक टुकड़ा मिलता है। यह टुकड़ा सूखा, उजाड़ और झाड़ियों से भरा हुआ होता है। हम सब का कर्त्तव्य है कि इस भूखण्ड को एक सुन्दर उपवन में बदल दें। यह उपवन हमारी जागीर नही है परन्तु इसके स्वामी परम प्रभु के लिए हमें इस उपवन की देख-रेख, सार-सम्भाल करनी चाहिए। किसी भी प्रकार से लाभान्वित होने की आशा न रख कर केवल उस प्रभु के प्रति अपना स्नेह-समादर व्यक्त करने के लिए ही हमें इस उपवन को सुन्दर बनाने का यत्न करना चाहिए।

तो पहला काम है झाड़िया और घास-पात उखाड़ना। इसके उपरान्त बीज बोना और सिंचाई करना। गहरे कुओं से जल भर-भर कर हमें ही लाना पड़ेगा। यहा जल आन्तरिक लगाव का प्रतीक है। इससे संसार से, इंद्रियों से पूरी-पूरी विरक्ति सन्निहित है। इस प्रकार अन्तःकरण की विशुद्धता की ओर ध्यान केन्द्रित किया गया है। इस प्रकार हमें आत्म-निरीक्षण करना चाहिए सही-सही ढंग के प्रश्नों द्वारा और इन प्रश्नों से प्राप्त उत्तरों के विश्लेषण द्वारा। आत्म-ज्ञान के लिए, विवेक के लिए यह परम आवश्यक है।"

संसार से विरक्ति का यत्न करने के लिए निश्चित ही यह समय कड़ी साधना का समय है। टेरेसा ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि स्वयं उनको भी यह समय बहुत ही कठिन प्रतीत हुआ था। वे अपनी आंखों से अलौकिक आभा देखना चाहती थी और साधना के उपरान्त जब वह दिन आया तो उसे लगा कि परम सत्ता स्वयं उसी में है।

प्रारम्भिक समय में यदि साधना पूरी तरह नही हो पाती है तो बहुत दुखी होने की आवश्यकता नहीं है। उस प्रभु से विनती करके अपने आप में उपस्थिति को खोजने का यत्न करो।

यही नहीं प्रभु का आभार भी स्वीकार करो कि उसने तुम्हें सद्बुद्धि दी है जिसके कारण तुम प्रभु-प्रेम और आध्यात्मिक ज्ञान की खोज में आगे आये। बड़े यत्नों के बाद भी यदि हममें अनिच्छा, अरुचि और आध्यात्मिक दृष्टि से नीरसता ही रहे तो भी अपने सद्यत्नों को छोड़िये नहीं। ऐसा समय परीक्षा का समय है। अक्सर ऐसे समय में हम अपने सत् प्रयत्नों को त्याग देने को आतुर हो जाते हैं। टेरेसा ने भी अपने प्रारम्भिक जीवन में प्रार्थना और भक्ति में अरुचि की भावना को सहा था। वे बड़ी उत्सुकता से उस घड़ी का इन्तजार करती रहीं जब वे संसार के मोह-जाल से विमुक्त हुईं। विकार को पूरी तरह निकालने वाला यह समय किसी भी तरह काटना ही चाहिए। सामान्य दशा के विपरीत हो जब मनःस्थिति अन्तर्मुखी हो जाती है तब उस का प्रहार बहुत अधिक विकराल होता है। टेरेसा ने स्वयं कहा है कि इस समय में दुष्प्रवृत्तियों का भयंकरतम हमला उनके मन पर हुआ है।

एक एसा भी समय आता है जब भय और आशंकाएं हमारी विवेक-बुद्धि पर छा जाती हैं। अगर पहले-सी उत्कट इच्छा में कमी भी पड़ी तो समझो कि प्रेम को सुदृढ़ स्थिति प्राप्त नहीं हुई है। केवल नीरसता और बांझपन ही हमारे अन्तर में शेष रहता है। इसलिए उक्त भावनाओं को अपनी-अपनी आध्यात्मिक उन्नति का रोड़ा न बनाइये। आखिर बड़े जहाज को हलके-फुलके हवा के झोंके से कैसे चलायेंगे हम ! कठिन साधना इसीलिए आवश्यक होती है।

ऐसे समय में हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हम अपना आत्म-निरीक्षण और भी सतर्कता से करना आरम्भ कर दें और जानें कि किस विशेष कोने से संसार हमें प्रलोभन दे रहा है। इस प्रकार नित्य-प्रति अपनी इच्छाओं का त्याग करें।

इस क्रम की समाप्ति के उपरान्त अगले प्रयत्न करने से पूर्व हमें परम प्रभु की प्रतीक्षा करनी चाहिए। जल का प्रवाह अधिक निर्बाध है। आत्मा ने ध्यानावस्था की सफलता के बाद एक उच्च स्थल प्राप्त कर लिया है। मगर सिद्धि अभी पूर्ण नहीं हुई। अभी परम आकर्षक ज्ञान तत्व, जीवन का एक मात्र लक्ष्य अभी भी पूरी तरह प्राप्त नहीं है। उसको ग्रहण करना और अपने आप में उस छवि को बनाए रखना सुलभ नहीं हो पाया। आत्मा को उसका चिर-अभिलषित प्रेम प्राप्त नहीं हो पाया। अब परमात्मा स्वयं आत्मा से सीधा सम्पर्क स्थापित करता है। वह आत्मा से अपनी निकटता को स्पष्ट करता है। इसके उपरान्त लगता है उस आत्मा ने पूर्णानन्द की प्राप्ति कर ली है। और इस नवप्राप्त स्थान पर आत्मा शांति-पूर्वक निवास करती है। कुछ आत्माएं इस स्थिति को

पाकर ही शांति-पूर्वक शुभाशीष प्राप्त कर आगे बढ़ने का यत्न छोड़ देती हैं। वे नहीं जानती कि इससे भी ऊंची स्थिति आत्म-ज्ञान की भी है जो प्राप्त करने के लिए अभी शेष रहती है। अब हमारा क्या कर्त्तव्य हो जाता है? पूर्व आस्वादित परमानन्द का जिसकी पूरी तरह प्राप्ति अभी हुई भी नहीं है, रस लेते हुए हमें बड़ी विनम्रता के साथ उस कार्य के योग्य बनना है जिसके लिए हमें चुना गया है। हमारे अन्तःकरण में रहने वाला दैनिक प्रेम हमें इतना अधिक विनम्र बनायेगा जितना हम अन्यथा नही बन सकते थे। प्राणि-मात्र के लिए प्रेम पैदा होने के उपरान्त स्वार्थ की भावना नष्ट होगी। अब बाग में कोमल कलिकाए जन्म ले रही है। बाहर आने में अधिक समय नहीं लगेगा।

तीसरी स्थिति में सींचने के लिए जल लाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अब आत्मा परमानन्द के दैविक महासागर में गोते लगाने लगती है। परन्तु परमात्मा से एकीकरण अभी भी नहीं हुआ है। हां, आत्मा इन्द्रियजाल से मुक्त अवश्य हो गयी है। अब केवल परमात्मा की प्राप्ति ही उसको संतोष प्रदान कर सकती है। इस स्थिति को प्राप्त कर आत्मा पूर्ण-रूपेण परमात्मा की इच्छा के अनुसार अपने आप को अर्पित करती है। टेरेसा ने भी इसी प्रकार का संकेत किया है। यथा वे अपने आप में नहीं हैं पर पूर्णतया ईश्वर के आधीन हैं।

बिना किसी यत्न के सद्‌गुणों के पुष्प आत्मारूपी उद्यान में खिलने लगे है। परम प्रिय परमात्मा स्वयं इस उद्यान का माली बन जाता है। आत्मा अब उस उद्यान के फल चख सकती है पर अभी उन फलों को किसी और व्यक्ति को बांट नही सकती।

ध्यानावस्था की तीसरी स्थिति में उद्यान को सींचना हमारा काम नही रहता। उस पर तो स्वर्ग के वासी स्वयं शुद्धतम जल की बूंदें ओस के रूप में बिखरायेगा। आत्मा पूर्ण-रूपेण अविचल और सुस्थिर हो जाती है। उसमें संसार का मोह-भ्रम रंचमात्र भी नहीं रह जाता। आत्म-शुद्धि की यह क्रिया समाप्त हो जाती है। परिपूर्णावस्था अब अधिक दूर नहीं रह जाती। परमात्मा को जानने की स्थिति का परमानन्द अब आत्मा लूटती है। हमें यह ज्ञान हो जाता है कि परमात्मा से एकीकरण हो जाने के बाद सभी प्राणी समान प्रतीत होते हैं। क्योंकि उन सभी में परम पिता विराजता है।

इस प्रकार टेरेसा के रूपक को पूर्ण कर हम देखते हैं कि फसल तैयार हो गई है और इस फसल का मालिक अपने हाथों से अपने बाग के फल बांट रहा है।

पवित्र आत्मा जो यह जानती है कि मेरा कोई अस्तित्व नही है यह भी समझ लेती है कि उसके पास कुछ भी नहीं है । उनके इस कथन से हम यही सीखेंगे कि बिना अपना प्रभाव दिखाये अथवा मूर्त रूप से कुछ करे-धरे हम अपने सहयोगियों के आध्यात्मिक उत्थान में योगदान दें। उन्होंने कहा है कि उक्त बाग के फूलों मे निकलने वाली मीठी सुगन्ध दूसरे व्यक्तियो को आकर्षित करेगी और उन पर आध्यात्मिक प्रभाव होगा । वे भी इस सुगन्ध के लिए आतुर हो जायेंगे।

जीवन में टेरेसा ने बड़ी कठिन परीक्षाएं दी थी । वे जब दैविक सन्देश प्राप्त करतीं अथवा दिव्य आभा की झलक देखतीं तो उचित सलाह प्राप्त करने के लिए आश्चर्य चकित-सी एविला के ही कुछ व्यक्तियों के समीप जाती थीं। वे उनके इन अनुभवों की खरी-खोटी चर्चा करते थे । सारा नगर इस प्रकार के अनुभवों पर बाते करता था। प्रश्न उठता था कि यह अनुभूति दैविक प्रवृत्ति की परिचायक है अथवा आसुरी । यहा तक कि उनके कन्फ़ेसर भी इस सम्बन्ध में अपना सही निर्णय देने में हिचकते थे। इससे उन्हे मानसिक क्षोभ होता था। यह भी हम देखते हैं कि परीक्षण के समय में भी वे लगन के साथ मोक्ष प्राप्ति का पथ स्वयं अपने सद्-प्रयत्नों द्वारा निर्मित करती रही । इस प्रकार परम प्रभु द्वारा निर्दिष्ट पथ पर ही वे अग्रसर होती रहीं । केवल उनके निजी विवेक, आत्मिक सुख या कुछ ज्ञानी पुरुषो की प्रेरणा ने ही उन्हें अपने पथ पर आगे बढ़ने का साहस दिया।

ईश्वर-प्रेम के पथ पर विधिवत् बढ़ते हुए भी वे क्रियात्मक क्षेत्र में उतर आई । ईश्वरीय आदेश, उन्हें मौन और अपरिग्रह का पालन करते हुए पतित आत्माओं को ईश्वरीय ज्ञान से आलोकित करने के सम्बन्ध मे अपने कार्य को चलाने के हित था।

अपने आस-पास के वातावरण को देख कर उन्होने अनुभव किया कि तात्कालिक परिस्थितियों और रंग-ढंग में सुधार लाना लाज़मी था । नन [1] (भिक्षुणी) अपने जीवन को ईश्वर की सेवा में अर्पित करे, यह नियम है अर्थात् वे आराधना में ही जीवन बिताने के लिए वचन-बद्ध होती हैं। परन्तु इस नियम में ढील आ गई थी । कान्वेण्ट्स् में भीड़-भाड़ रहती थी । बाहरी जगत् की बाहरी प्रवृत्तियां और लोभ धार्मिक स्थलों (मठों) मे घुसने लगी थीं। अपने क्षेत्र से बाहर नजर

1. ईश्वर-भक्ति और जन-सेवा में अपना जीवन दान करने वाली साध्वी महिलाएं।

दौड़ाने पर उन्होंने ने अनुभव किया कि बड़े-बड़े राष्ट्र तथा जनता, चर्च से अपने सम्बन्ध तोड़ने लगे है। उनके मन और मस्तिष्क पर धार्मिक सुधार सम्बन्धी विचारधारा[1] उठते हुए ज्वर के समान हावी हो रही थी। इसी के फलस्वरूप कई मठ तोड़ दिए गए थे।

इस समस्या के सर्वमान्य हल और धार्मिक रीति-रिवाजों मे सुधार टेरेसा समझती थी। इस समय निकले उनके उद्गारो से उनकी अपनी मनःस्थिति का पता चलता है। "धार्मिक आचरणो की कमी इस हद तक पहुच गई है कि फ्राइयर[2] (भिक्षु) और नन् जो सच्चे रूप से कार्य चलाना चाहते है अपने समाज के लोगों से नरक के शैतानो की अपेक्षा अधिक सतर्क रहे।"

एक बार ध्यानावस्था मे बैठे हुए ईश्वरीय प्रेरणा पाकर उन्होंने अपने विश्वसनीय अनुयायियों की सलाह से एक नये कान्वेण्ट की स्थापना करने की ठानी, जहां कारमेलाइट के आधारभूत सिद्धान्तों का पूरी पवित्रता से पालन हो सके। इस कार्य के लिए वातावरण उचित ही था अत. कार्य आरम्भ कर दिया गया।

इस योजना का अलकेण्टा के सन्त पीटर और एविला के बिशप[3] ने अनुमोदन किया। अस्तु, सन्त ने कारमेलाइट के क्षेत्राधिकारियों से आवश्यक स्वीकृति प्राप्त कर ली। स्पेन की धनी विधवा की सहायता से इस योजना पर कार्य आरम्भ किया गया। उनकी सहकारी भिक्षुणियों (नन्स) ने इसका बड़ा विरोध किया। इलाके के खानदानी लोगो, स्थानीय अधिकारियो और जन-साधारण की ओर से भी इस योजना का विरोध हुआ। विरोध इतना शक्तिशाली था कि कान्वेण्ट बनाने की स्वीकृति को रद्द कर दिया गया।

फिर भी "डोमिनकन"[4] ने उन्हें गुप्त रूपसे इस कार्य के लिए प्रोत्साहित किया। इसके फलस्वरूप उनके बहन और बहनोई ने नये कान्वेण्ट की स्थापना के लिए एविला में १५६१ में कार्य आरम्भ कर दिया। कान्वेण्ट की बनावट इस प्रकार की रखी गई थी कि जनता को यही पता चले कि यह इमारत किसी परिवार के रहने का स्थान होगी। जब यह इमारत बन रही थी सत का भतीजा और परिवार का छोटा लड़का गोनज़ालेज़ खेलते-खेलते किसी भारी वस्तु के

---

1. **रिफार्मेशन**
2. **पुरुष संन्यासी**
3. **मठाधीश।**
4. **चर्च का अधिकारी गण।**

नीचे आ गया। स्पष्ट रूप से प्राणहीन यह बालक सन्त टेरेसा के हाथों पर लिटा दिया गया। बालक को हाथों में लेकर सन्त ने परमात्मा का स्मरण किया। कुछ ही क्षण के बाद वह बालक पुनः भला-चंगा उसकी मां को सौंप दिया गया।

बड़े विरोधों और अड़चनों के बाद नया कान्वेण्ट बनाने के लिए पोप की आज्ञा प्राप्त हो गई। यह भवन सन्त जोजफ को समर्पित किया गया। टेरेसा सहित चार अन्य नव छात्राओं ने इस कान्वेण्ट में आकर "सुधारवादी नियम"[1] के अधीन शपथ ली।

यद्यपि टेरेसा आध्यात्मिक विचारों में मग्न रहने वाली तथा परमात्मा की छवि निहराने वाली सन्त महिला थीं परन्तु चर्च के अन्य कार्य-सम्पादन में भी उनकी समता न थी। यह गुण उन चार नव छात्राओं में भी विद्यमान् था जिन्हें टेरेसा ने बाद में बनाए कान्वेण्ट के लिए चुना था। अनुयायियों के सम्बन्ध में उनकी पहली आवश्यकता थी कुशाग्र बुद्धि की। यह गुण उन्होंने धार्मिक पवित्रता से भी अधिक आवश्यक माना था। कुशाग्रबुद्धि व्यक्ति धार्मिक पवित्रता को यत्न करके भी प्राप्त कर सकता है परन्तु जो बुद्धिमान् नही हैं वे उचित निर्णय लेने में समर्थ नहीं रहते।

"बुद्धिमानों का मस्तिष्क भी सरल और उदार होता है। वह अपनी त्रुटियों को परख लेता है और उनसे बचने का यत्न भी करता है। इसके विपरीत संकुचित और अपरिपक्व मस्तिष्क तो त्रुटियों को समझाने पर भी नहीं सुधरता। अगर प्रभु किसी छोटी उम्र की लड़की को भक्ति का वरदान देकर उसे ध्यान करना भी सिखा दे तो वह कुछ भी नहीं कर पायेगी। वह समाज का भला करने के बजाय उसके लिए भार सिद्ध होगी।" उन्होने यह भी कहा था "परमात्मा हमें धूर्त नन् (भिक्षुणी) होने से बचाये।"

वह नित्य-प्रति के छोटे-छोटे कामों में भी बड़ी चतुराई दिखाती थी। वे समझाती थीं कि कपड़ों की धुलाई कम खर्च पर कैसे की जा सकती है। अपने ज़माने मे औरों की अपेक्षा उन्हें सफाई से बड़ा प्यार था। उन्होंने अपने कन्फेसर को पत्र लिख कर एक भोजन बनाने वाले स्टोव के प्रति अपना सम्मान व्यक्त किया था। वे भोजन बनाने में काफी निपुण थीं।

वे नियम की पक्की थीं पर उनके हँसमुख स्वभाव के कारण नियम की यह कठोरता अखरती नहीं थी। नन्स (भिक्षुणियों) की रुचियों को स्वयं अपना

[1] रिफार्मड रूल।

कर वे उन्हें खूब हँसाती रहती थीं । वे यत्न करती थीं कि एक नई नन् में तीन चीजों का चाव हो । हँसने का, खाने का और सोने का । उनका कहना था "अगर वह हँसना पसन्द करती है तो प्रसन्न मुद्रा में रहेगी, अगर खाने की शौकीन होगी तो स्वस्थ रहेगी और अगर उसे सोने की आदत होगी तो उसे मानसिक विकारों से छुटकारा मिलेगा । इस प्रकार उन्होंने घुमा-फिरा कर उन महिलाओं की भर्त्सना की जो आत्म-संयम की आड़ लेकर अपने आपको सामान्य काम के अयोग्य बनाती हैं।

वे अपनी सहयोगिनी नन्स से कहा करती थीं—"परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है। वह मटके और मटकियों में भी है । जब तुम्हारा कर्त्तव्य तुम्हें घरेलू और सामाजिक कार्यों में (यथा रसोई में जहां बर्तन साफ करते हैं) बुलाता है तो यह याद रखो कि परमेश्वर तुम्हारी सहायता के लिए वहां भी पहुंच जाता है । इस प्रकार वह तुम्हारी अन्तरंग और बहिरंग गतिविधियों में सहायक सिद्ध होता है ।"

सन्त जोजफ के कान्वेण्ट में चार वर्ष रहने पर टेरेसा को उनके फादर-जनरल ने आधारभूत इन्हीं नियमों के अनुसार अन्य स्थानों पर भी मठों की स्थापना करने का आग्रह किया । अब उन्हें लम्बी-लम्बी और असुविधाप्रद यात्राएं करनी पड़ी । ऐसी यात्राएं उनकी आयु की महिलाओं के लिए कष्टप्रद ही थीं । यात्रा का साधन बिना कमानी की गाड़ियां होती थीं । कभी तो तपतपाती धूप होती थी तो कभी कटकटाती ठंड । कभी यात्रा करते हुए मूसलाधार वर्षा का सामना करना पड़ता था और कभी बाढ़ों का मुकाबला करना पड़ता था । अक्सर जिन मार्गों पर यात्रा की जाती थी वे पहाड़ी पगडंडियों से अच्छे नहीं कहे जा सकते थे । इन मार्गों पर बने विश्रामस्थल गन्दे और कीटाणुओं से भरे रहते थे । ऐसे स्थलों पर विश्राम करना टेरेसा के वीतरागी स्वभाव के अनुकूल न था । यही नहीं कोचवान भी विश्वसनीय नहीं होते थे । टेरेसा के साथ केवल कतिपय नन्स और एक पादरी होता था । इस प्रकार की जाने वाली यात्राएं सदैव असाधारण रूप से साहसी यात्राएं होती थीं । अस्तु, टेरेसा का दल इस प्रकार की यात्राओं में बहुत ही भयभीत रहता था ।

कान्वेण्ट की स्थापना कठिनाइयों और असुविधाओं से भरी होती थी । तोलेडो का ही उदाहरण लीजिए वहां कान्वेण्ट की स्थापना के समय टेरेसा के पास केवल चार ड्यूकेट्स[1] ही थे । "टेरेसा और यह दान कुछ भी नहीं है परन्तु

1. एक प्रकार की मुद्रा ।

ईश्वर-टेरेसा और ये मुद्राएं पर्याप्त हैं ।" यह वाक्य था टेरेसा का जो कान्वेण्ट की संस्थापना के अवसर पर उन्होंने कहा था । कई संस्थान तो अत्यधिक सामान्य थे । केवल भिक्षा पर ही उनका गुजारा चलता था । इसके साथ-साथ पर्याप्त धन के आधार पर स्थापित संस्थान कभी-कभी उनकी चिन्ता के कारण बन जाते थे। क्योंकि ऐसे संस्थानों से भी पैसे-कौड़ी का झगड़ा उठ खड़ा होता था । यही नहीं धर्मदाय में प्राप्त राशि अथवा सम्पदा के उपयोग में कानूनी झंझट आ जाते थे । उनको प्राप्त करने में उत्तराधिकार की समस्या उठ खडी होती थी ।

मेडीना में हम टेरेसा को एक अन्य समस्या में भी उलझा हुआ देखते है । 'फादर एन्थनी ऑफ जीसस' से जिन्हें वे एविल के संन्यासी महात्माओं (कारमीज़) में अग्रगण्य मानती थी, उन्होंने अपनी कठिनाइयों के विषय में बताया था । उन्होंने कहा था कि फ्रायइर[1] लोग संशोधित धर्माचरणों पर चलने के लिए सहज उत्सुक नही होते। उनको बड़ा आश्चर्य हुआ जब कि 'फादर एन्थनी ऑफ जीसस' ने संशोधित धर्माचरणों के अनुसार जीवन बिताने का निश्चय सुनाया । इनके उपरान्त ठिंगने और विनम्र पादरी 'जान ऑफ क्रास' ने अपने आप को समर्पित किया । उन्हें टेरेसा स्नेहात्मक व्यंग्य से 'ड्योढ़े सन्यासी' के नाम से सम्बोधित करती थीं । कालान्तर 'कान्वेण्ट ऑफ इन्कारनेशन' में इन्हीं 'जॉन ऑफ द क्रास' की नियुक्ति नन्स् के दोष एवं पाप का स्वीकरण सुनने वाले पादरी के रूप में हुयी । टेरेसा इस कान्वेण्ट की महन्तिन नियुक्त हुई ।

टेरेसा को 'एपोस्टलिक विजिटर[2]' द्वारा इस कुप्रबन्धित कान्वेण्ट की देखरेख करने का काम अरुचिकर लगा । एक बड़े महिला समाज के कार्यक्रमों का निरीक्षण और सुधार, अत्यधिक कार्यपटुता और होशियारी चाहता था । उनकी कई पूर्व सहचरी नन्स् ने उनकी आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया । ये नन्स् टेरेसा द्वारा की गई उनकी कटु आलोचना को नही भूल पाई थीं ।[3] टेरेसा ने स्पष्ट कहा था कि उन भिक्षुणियों (नन्स्) के रहन-सहन का ढंग अधिक नियमित तथा त्यागी होना चाहिए । इस नाराजगी की जानकारी पाकर टेरेसा ने यह घोषणा भी

---

1 पादरी ।

2 पोप द्वारा नियुक्त निरीक्षक ।

3 टेरेसा ने जैसा कि पाठक पीछे पढ़ चुके हैं धार्मिक मठों में होने वाली अमान्यताओं और असंयम पर रोष प्रकट किया था ।

की थी कि वे मठ की सबसे छोटी भिक्षुणी से कुछ न कुछ ग्रहण करना चाहती हैं, अधिकार दिखाना नहीं चाहतीं । परिस्थिति को समझते हुए टेरेसा ने महिन्तन पद पर बैठ कर उद्घाटन-भाषण में कहा था—"मेरी माताओ और बहनो ! मुझे आदेशानुसार इस स्थान पर भेजा गया है । मैं कभी कल्पना भी नहीं कर सकती थी । मैं अपने को इस स्थान के अयोग्य पाती हूं ....मैं तो केवल आपकी सेवा के लिए उपस्थित हुई हूं . . .... मै इस मठ की बच्ची हूं और आप सभी की बहिन । मुझे बताइये कि मैं आपकी सेवा किस प्रकार कर सकती हूं । मै बडी प्रसन्नता से आप सभी की सेवा करूंगी । इसलिए आपको अपनी सहयोगिन के अनुशासन मे रहते हुए कोई कष्ट नही होना चाहिए, जो कि कई रूपो मे आपकी सेविका है ।"

अपने कन्फेसर की आज्ञा पाकर उन्होंने अपने जीवन और शिक्षाओं का संक्षिप्त लेखा-जोखा लिपिबद्ध किया । दिव्य-दर्शन के सम्बन्ध मे टेरेसा ने तीन प्रकार के दिव्य-दर्शन का उल्लेख किया है । उन्होंने इनका सम्बन्ध ध्यानावस्था की विभिन्न स्थितियों से जोड़ा है ।

दिव्य दर्शन का पहला प्रकार है—'भौतिक दर्शन' या स्थूल दर्शन' (मटेरियल-विज़न) जो केवल इंद्रियों द्वारा ही अनुभूत है । प्रथम श्रेणी की ज्ञानावस्था द्वारा इस प्रकार का दर्शन सम्बन्धित है । दूसरी स्थिति मे प्राप्त मानसिक दर्शन आन्तरिक अवचेतना से सम्बन्धित माना जाता है । इस समय प्राप्त दिव्य दर्शन को ब्रह्म ज्योतिर काल के ज्ञान प्रकाश से भी जोड़ा जाता है है । यहां दिव्य दर्शन दूसरी व तीसरी दोनों ही प्रकार की ध्यान-मग्न स्थितियों का परिचायक है । अन्त में आता है बौद्धिक दिव्य दर्शन जिसे हम आकार रहित दिव्य दर्शन कहेंगे । यह समय आत्मा-परमात्मा की साकारता का द्योतक है ।

टेरेसा को कई बार स्थूल दिव्य दर्शन का अवसर प्राप्त हुआ था । वे इससे संतुष्ट नहीं हुई वरन् नियम-निष्ठा के साथ ध्यान-मग्न रहने का कार्य करती रहीं । तब उन्हें आन्तरिक अवचेतना से सम्बन्धित दिव्य दर्शन का अवसर मिला । अर्थात् आन्तरिक अनुभूति कराने वाले अंगों—मन, मस्तिष्क और आत्मा द्वारा दिव्य दर्शन का आभास हुआ । प्रारम्भ में केवल कोई एक अंग विशेष दिखाई दिया—उदाहरणार्थ पहले हाथ फिर मुख और अन्त में सम्पूर्ण आकार दिखाई दिया । इस प्रकार के दिव्य दर्शन पूर्ण रूप से प्रकाशित और स्पष्ट होते थे । इनकी तुलना सन्त ने निर्मल स्फटिक पर बहने वाले स्वच्छ जल में,

सूर्य के प्रतिबिम्ब से की है । इस उपमा में भी सूर्य का प्रतिबिम्ब उस झील में जिसका जल कभी तूफान आदि के कारण कुछ धुंधला पड़ जाता है, स्पष्ट नहीं रहता । पर सन्त के अनुसार दिव्य दर्शन निर्बलता और स्पष्टता से प्राप्त होते थे। सूर्य का प्राकृतिक रूप जल में उतना स्पष्ट नहीं रहने पाता जितना अन्यत्र अर्थात् वह अप्राकृतिक होता है ।

कभी-कभी अद्वितीय शोभाश्री के साथ प्रभु ईसा मसीह का पूर्ण स्वरूप चेतन रूप में टेरेसा के सामने आया । इस प्रकार के दिव्य दर्शनों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता था और वे परमानन्द के कारण समाधिस्थ हो जाती थीं। परन्तु यदि वे इस दिव्य दर्शन का विश्लेषण करती थीं तो सभी कुछ लोप हो जाता था ।

बौद्धिक दिव्य दर्शन के अनुभवों को शब्दों में बांधने का यत्न करते हुए सन्त ने लिखा है—"यह अनुभव उसी प्रकार का होता था जैसे एक व्यक्ति जिसे कभी लिखने-पढ़ने अथवा अध्ययन का अवसर तो मिला हो परन्तु सहसा ही वह पूर्ण ज्ञानवान् व्यक्ति हो जाए ।" उन्हें परम पिता परमात्मा की उपस्थिति में किसी भी प्रकार की शंका नहीं थी। यह विश्वास आत्मा का परमात्मा से मिलन स्पष्ट करता है । ऐसी स्थिति में आत्मा का सीधा सम्पर्क परमात्मा से स्थापित होता है । अर्थात् भक्त प्रभुमय हो जाता है। ऐन्द्रिय साधनों से ईश्वर की अनुभूति सम्भव नहीं रह जाती । इस स्थिति का परिचायक है सन्त का वह कथन—"मैं नहीं हूं जो जी रही हूं परन्तु यह तो प्रभु ईसा मसीह हैं जो मेरे में रह रहे हैं।"

टेरेसा ने ध्यानावस्था में सुनी ध्वनियों का भी उल्लेख किया है । सबसे पहले जो कुछ उन्होंने सुना था उसका उल्लेख करने के लिए वे लिखती हैं—"मैं चाहता हूं कि तुम मनुष्य से नहीं देवताओं से सम्भाषण करो ।" इस आदेश को सुनने के उपरान्त उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि वे ईश्वर-प्रेमियों के समाज से ही सम्बन्ध रखेंगी। उस समय फैली हुई पापाचार की भावनाओं को ध्यान में रखकर यदि हम उपरोक्त ईश्वरादेश के बारे में सोचें तो स्पष्ट होगा कि उक्त वाक्य सुन कर सन्त को अत्यधिक ग्लानि की अनुभूति हुई होगी । किन्तु उनका भय ईश्वर द्वारा दी गई सान्त्वना "मेरी बच्ची, तू न डर, मैं तेरे साथ हूं। तुझे कभी भी अकेला नहीं छोडूंगा" से दूर हो गया।

एक बार टेरेसा ने सुना—"दुखी न हो मैं तुझे पुस्तकें दूंगा ।" इन दिनों इन्क्वीज़िशन[1] कई स्पेनिश पुस्तकों को जला रहा था। इन पुस्तकों में कुछ ऐसी पुस्तकें

[1] ईसाई धर्मावलम्बियों द्वारा स्थापित न्यायालय ।

थी जिन्हें पढ़ना टेरेसा को रुचिकर लगता था । आरम्भ में तो वे इस आदेश का अर्थ नही समझी पर कालान्तर में उन्हें समझ आ गया कि "परम प्रभु स्वयं ही एक जीवित पुस्तक है जिन से सत्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है।"

आध्यात्मिक परमानन्द की विभिन्न स्थितियों का भी टेरेसा ने उल्लेख किया है। शारीरिक अनुभूति सूक्ष्मतम हो गई। आध्यात्मिक परमानन्द की उच्चावस्था में ऐसा लगता है मानों आत्मा शरीर को सप्राण बनाने मे सहयोग नही देती। नाड़ी का बन्द हो जाना। भुजायें फैल जाती है। ऐसी आध्यात्मिक स्थिति का आभास होना जिसकी उन्होंने पहले कल्पना भी नही की थी, बड़ी हिम्मत की बात थी। फिर भी प्रसन्नता की इस बलिवेदी पर टेरेसा चढ़ती रही। ईश्वर-प्राप्ति की उत्कट इच्छा ने उसे उक्त सभी प्रकार की यातनायें सहने के योग्य बनाया। उसे परम प्रभु ने भी यह शिक्षा दी कि अत्यधिक आत्मिक आनन्द की प्राप्ति में मिले नश्वर दुःख से डरना नही चाहिए। इस प्रकार की यातनाओं से आत्मा उसी तरह विमल होता है जैसे तपाकर शुद्ध करने पर सोना कुन्दन बन जाय।

सन्त टेरेसा ने आध्यात्मिक विकास के दिनों में उल्लेखनीय शक्ति प्राप्त कर ली थी। वे कई घटनाओं के बारे मे सालों पहले भविष्यवाणी कर सकती थी। वे युवा नन्स् (भिक्षुणियों) मे प्राप्त भजन का अन्तर आसानी से कर सकती थी। वे बता सकती थी कि किस ने सही अर्थों मे जगत्-मोह त्यागा है और किस ने केवल शाब्दिक रूप मे।

उनकी शिक्षा का सार दो शब्दो मे कहा जा सकता है, प्रेम और विनम्रता। विनम्रता तो उन में काफी समय तक नही आई थी। तथापि अपने आप मे ईश्वरीय निवास की आस्था होने के साथ-साथ ही, जो अन्ततोगत्वा प्रियतम से महामिलन की ओर ले जाता है, प्रेम का प्रभाव उपजा।

स्वास्थ्य खराब होने पर भी जीवन के अन्तिम क्षणों तक वे अपना कार्यक्रम चलाती रही। वे दुर्गम यात्राएं करतीं और पूर्व-स्थापित कान्वेण्टों मे जो इनके अधिकार क्षेत्र मे भी आते थे, जाया करती थी। टालेडो, सेविल्ले, वालेन्सिया और अन्य स्थानों पर भी वे जाती थी।

अक्तूबर १५, सन् १५८२ में अड़सठ वर्ष की आयु में उनकी मृत्यु हो गई। आज भी उनक मुख से निकले ये स्वर याद आते हैं—"ओ मेरे परमात्मा, मेरे प्रियतम! अन्ततः वह समय आ ही गया जिसकी मैंने बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की थी। अब शीघ्र ही मैं तेरी शरण में आ जाऊंगी।.................................तेरी इच्छा पूरी होगी।"

परिच्छेद २५

लॉ मेरी एन्जलीक

एन्जलीक ऑरनाल्ड (१५६१–१६६१) और पोर्ट रायल की कहानी पूर्ण रूपेण प्रभु-समर्पण की कहानी है । कहानी का अन्त पोर्ट रायल की पराजय और मेरी एन्जलीक द्वारा रचित सभी वस्तुओं के विनाश से होता है । यह यूरोप के धार्मिक इतिहास का अत्यधिक करुणापूर्ण अध्याय है । इसमें प्रभु मसीह की क्षमा और प्रेम-भावना का स्थान कहीं नहीं है । जाने-अनजाने ईसू के समर्थकों ने दिव्य सन्देश का सार विकृत रूप में ग्रहण किया ।

ऑरनाल्ड के सभी निवासियों को एक अजीब धुन सवार हुई । इस धुन को ही उन्होंने अपने जीवन का ध्येय बना लिया । इस स्थान के प्रभावशाली व्यक्तियों की सहायता से जनसाधारण अपना जीवन भी अर्पित करने को तैयार हो गये थे ।

यद्यपि मेरी एन्जलीक की सुधारवादी उग्र प्रवृत्ति पर उनके कान्वेण्ट तथा मित्रों पर विरोधियों ने बाहरी रूप से विजय प्राप्त कर ली परन्तु अन्तःकरण ने इस विजय को स्वीकार नहीं किया । इस विजय का महत्व उतना नहीं था जितना विरोधियों ने आंका था । मानो यह विजय कोई निर्णायक विजय नहीं थी ।' इसी के प्रमाण में हम आज पोर्ट रायल को ज्ञान का प्रकाश देते हुए देखते हैं । अपनी मृत्यु के उपरान्त इतने लम्बे समय तक ब्लेज पास्कल और जान रसिन जैसे अनुरक्षक पोर्ट रायल के पूर्व निश्चित ध्येय की प्राप्ति के लिए यत्नशील दिखाई देते हैं ।

एकान्तवासी और श्रद्धास्पद नन्स से सुशोभित पोर्ट रायल उन अनेकों उदाहरणों में से एक है जो यह सिद्ध करते हैं कि सहनशीलता की दुःखद कमी ने सच्चे धर्म नायकों को धर्म-सेवा से वंचित रखा ।

सुदृढ़, निर्भय निर्द्वन्द्व और तेजस्वी महिला एन्जलीक ऑरनाल्ड धर्म के प्रति अपनी पूर्ण निष्ठा से सुसज्जित अपनी इस कहानी की प्रमुख पात्र हैं ।

ऑरनाल्ड डी ला मोथे, जो कि ह्यूगेनाट[1] थे, एन्जलीक के दादा जी थे । उन्होंने

---

[1] फ्रान्सीसी प्रोटेस्टेण्ट ईसाई ।

सन्त बार्थोलोम्यू क निधन क उपरान्त अपनी कई सन्तानों के साथ कालविनिजम[1] को त्याग दिया। इन सन्तानों में एन्जलीक के पिताश्री भी थे। लेकिन कुछ ह्यूगेनाट परिवार की वृद्ध महिलाएँ 'ला रोचेल' में पूर्ववत् बनी रही।

पोर्ट रायल के प्रमुख दुराचार के चंगुल में आॅरनाल्ड परिवार था। और इनमे सबसे अधिक एम० आरानी ऑरनाल्ड की लेखनी द्वारा चित्रित, एन्जलीक के पिताश्री।

अपने इस प्रवचन में उन्होंने निष्ठापूर्वक कहा है कि जैसूट[2] लोगों को जोकि चालीस वर्ष तक चलने वाले यूरोपीय नरमेध के दोषी समझे गये हैं, फ्रान्स में नही जाने दिया जाय। इस वक्तव्य के उपरान्त ऑरनाल्ड निःसंदेह कालान्तर में हुए पोर्ट रायल के उत्पीड़नोन्माद के कारण समझे गए। इनके वक्तव्य के कारण उत्पीड़ितों में मेरी एन्जलीक और उनके समर्थ सहयोगी थे। इनके अतिरिक्त 'जानसन' एवं उसके दोस्त 'जीन डू वरजियर डी हाउरानी' तथा 'एब्बे डी सेण्ट-सीरन' भी थे।

जानसन, जिन्हें अक्सर जानसेनियस के नाम से पुकारा जाता था, सन् १५८५ में पैदा हुआ। १६८३ में यापर्स के बिशप के पद पर पहुच कर ये परलोकवासी हुए। उनके जीवन-काल में किसी ने भी उनकी धार्मिक निष्ठा पर सन्देह नहीं किया। स्पेन निवासी होने के कारण लाउवेन विश्वविद्यालय के उनके कुछ मित्रों ने उन्हे दो बार मार्डरिट भेजा था जिस से वे जेसूट सम्प्रदाय के विरुद्ध अपनी विचार धारा को स्पष्ट रूप से रख सकने योग्य बन जायें। इन्हे कोई भी नास्तिक न समझता यदि वे अपने अनुयायियों को स्वयं की मृत्यु के उपरान्त प्रकाशित करने के लिए 'अगस्टीनियस' नामक पुस्तक की पाण्डुलिपि न छोड़ जाते।

एन्जलीक के विरोधियों ने इस पुस्तक में दिये सिद्धान्तों का आधार लिया। कहा गया कि एन्जलीक के परिवार के लोगों के और जानसेन के मित्र सन्त सीरन के प्रवचनों और जीवन में भी यह दार्शनिक सिद्धान्त पाया जाता है। इसके अनुयायी लोग चर्च, पोप और फ्रांस के लिए घातक माने गए।

स्थिति समझने में हमें यहां सावधानी बरतनी होगी। पोर्ट रायल में

---

[1] कालविन की विचार परम्परा के अनुसार पापों से मुक्ति दिलाने वाली मान्यता।

[2] ईसाई—रोमन कैथोलिक मत के लोग।

मेरी एन्जलीक के सुधारों को जानसन के सुधारों स भिन्न समझना होगा। यद्यपि एन्जलीक के विरोधी ऐसा नहीं समझते थे। जब एन्जलीक अपना सुधार-वादी धार्मिक दृष्टिकोण रख रही थीं तो सन्त सीरन से उनका परिचय भी नहीं था। जानसन के सिद्धान्त और सन्त सीरन से उनका परिचय बीस वर्ष बाद जब वे अपने कान्वेण्ट की स्थापना कर चुकी थी, हुआ था। अनुदार संघर्ष काल में ऐसा समय भी आया जब लगता था कि पोर्ट रायल के कान्वेण्ट मे आत्म-शुद्धि और प्रार्थना का जीवन बिना किसी विरोध के चलता रहेगा। परन्तु ऐसा काहे को होता।

पोर्ट रायल के अत्याचारों की इति के बहुत पहले ही एन्जलीक परलोक-वासी हो गई थीं। लेकिन विश्वास है कि वे अपने सभी प्रयत्नों का अन्त देख सकती थीं। वे इसे स्वीकार कर सकती थीं। क्योंकि प्रत्येक विरोध और प्रत्येक सहयोग को सहना उनके लिए सम्भव था। यह सभी वे केवल यह सोच कर करतीं कि ईश्वर ने अपनी इस इच्छा की पूर्त्ति के लिए मुझे भेजा है। कठिन से कठिन समय आने पर भी वे ईश्वरीय इच्छा के अनुसार आचरण कर सकती थीं। ऐसे समय में भी वह सद्भाव से चलती थीं जब साधारण मानव अपने को निराश और कुण्ठित अनुभव करता था। उनके लिए हर प्रकार की कठिनाई, परीक्षा ईश्वर की अनुकम्पा के समान थी। इस प्रकार का, ईश्वरीय इच्छा के आगे समर्पण प्रत्येक के लिए जो धार्मिक जीवन व्यतीत करना चाहता था, आवश्यक लगता था। इसके बिना कोई भी व्यक्ति स्त्री या पुरुष उनकी दृष्टि में धार्मिक नहीं था और उसे वह सही अर्थ में साधु या साध्वी मानने को तैयार न थीं। ईश्वरीय इच्छा के आगे समर्पण किए बिना कोई व्यक्ति अपनी प्रतिज्ञा को अत्यधिक गहराई के साथ निभा नहीं सकता।

ईश्वरीय अनुग्रह प्राप्त करना बड़ी बात है परन्तु यह कवल वैयक्तिक संघर्षों के द्वारा या, निजी गुणों के विकास के द्वारा या अपने कृत्यों के उत्कर्ष के द्वारा ही प्राप्त नहीं हो सकता। धार्मिक आदर्शों का दृढ़ता पूर्वक पालन करने का अधिकृत पुरस्कार ईश्वरीय अनुग्रह नही होता। इसीलिए कहा जा सकता है कि एन्जलीक के लिए प्रिय वस्तुओं का नाश भी उन्हें उसी आधार पर ही स्वीकार होता। सच्चे अर्थों में जो धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति है उन्हें किसी भी कोटि की विरोधी स्थिति में हम देखें, वे ईश्वर पर अपनी असीम आस्था बनाए रहते है। उनके हृदय में कभी भी विद्रोह की भावना नहीं उठती चाहे उन पर बड़ी से बड़ी आपदा आ जाये। लोगों के कहने-सुनने पर अथवा अपनी रुचि और

लगाव के लिए वे कभी भी ईश्वरीय इच्छा के विरुद्ध विद्रोह नहीं करते। विद्रोह का अर्थ ईश्वरीय इच्छा को न मानना भी तो है। पोर्ट रायल ने सनातन सत्य को, जैसा कि सन्त अगस्टाइन ने समझाया था और जिसे स्वच्छन्दवादी मोलीना की विचार-धारा के विरुद्ध चर्च ने स्वीकार किया था, स्थिर रखने का यत्न किया। स्वच्छन्द या निरंकुश इच्छा को महत्त्व देने वाले साधक की मानवी योग्यता को, भावी से अधिक महत्त्वशील, ईश्वरीय अनुकम्पा से भी महान् मानत है।

एन्जलीक केवल सुधारवादी ही नही थी। अपनी जीवन-पद्धति से उन्होंने सैकड़ों स्त्री-पुरुषों को प्रभाविन किया। उनका प्रभाव केवल अपने कान्वेण्ट मे रहने वाली सीधी सादी नन्स् (साध्वी) पर ही न था। यह सब उनके सजातियों के प्रवल विरोधों के बावजूद भी होता रहा। उन्होंने आत्म-त्याग और आत्म-निरीक्षण की आवश्यकना का प्रचार ही नही किया अपितु अपने जीवन में भी उसको घटाया। कड़े व्यक्तिवादी संयम को उन्होंने अपनाया था।

किन्तु फिर भी बड़ा आश्चर्य है कि एक झूठ ने पोर्ट रायल की धार्मिक सुधार वाली प्रवृत्ति और उनकी निजी धार्मिक जिन्दगी के विरोध में एक भूमिका का स्थान ग्रहण कर लिया। आठ वर्षीय कन्या के विरुद्ध पोप की प्रज्ञप्ति प्राप्त करने के लिए उनकी आयु में आठ वर्ष और बढ़ाने पड़े। एम० अनटानी० आॅग्नाल्ड ने अपनी लड़की को माउबूसन के मठ (एब्बे) मे जहां नव शिक्षार्थी के रूप में उसे प्रवेश पाना था, ले जाने मे पूर्व यह नहीं सोचा कि उनकी इस भूल का परिणाम भयंकर होगा। पोर्ट रायल के द्वार सदा के लिए बन्द हो जायेंगे तथा सन्त बर्नार्ड की आज्ञा एन्जलीक के अपने परिवार और निकट सम्बन्धियों पर लागू हो जायेगी।

कपोचिन नामक लम्पट साधु का एक बार उन्होंने प्रवचन सुना। इस समय, यानी १६०८ में वे पोर्ट रायल की महन्तिन क रूप में नियुक्त हो गई थी। प्रवचन सुन कर उन्होंने निर्णय किया कि वे अपने मठ का सुधार करेंगी। उन्होंने यह सुधार अपने सम्बन्धियों के बड़बड़ाने और स्पष्ट विरोध करने तथा उनके पूर्ववर्ती निदेशकों के लुके-छिपे विरोध करने पर भी लागू किये। 'जर्नी ड्यू ग्विचेट' के नाम से जानी जाने वाली सुप्रसिद्ध यात्रा के उपरान्त, जो एन्जलीक के महत्त्व-पूर्ण जीवन की महत्त्व-पूर्ण घटना है, पोर्ट रायल शीघ्रता से सुप्रसिद्ध कारमिलिट्स[1] के रूप में ख्याति पाने लगा। इस मठ का निरीक्षण सन्त 'फ्रान्कोर लिडी सेल' जैसे व्यक्ति करते थे।

---

[1] श्वेताम्बर ईसाई संन्यासियों का मठ।

सितम्बर २५, सन् १६०६ को 'जर्नी ड्यू ग्विचेट' नामक यात्रा हुई थी। इस दिन ऑरनाल्ड परिवार पोर्ट रायल आया था। उन्होंने अनुभव किया कि वे इस स्थान के सर्वोच्च शासक हैं। एन्जलीक ने अपने क्रोधी पिता को आदेश दिया कि वे मठ के नियमों का पालन करें। इससे सिद्ध होता है कि धार्मिक जीवन का जहां तक प्रश्न है वे बिना लाग-लपेट के स्पष्ट व्यवहार रखती थीं और किसी से डरती न थीं। वे मठ-जीवन से सम्बन्धित शपथ को निष्ठापूर्वक पालती थीं।

अपनी दादी एम० मेरियन से जो बातचीत उन्होंने की थी उससे यह सिद्ध होता है कि वे अपनी इच्छा के विरुद्ध नन (साध्वी) बनी थीं। उन्होंने अपने दादा से कहा था कि वे दुर्भाग्य से अपने माता पिता की दूसरी सन्तान हैं। यदि पहली सन्तान होतीं तो उनका विवाह भी हो जाता। परन्तु जब वे नन बना ही दी गई तो फिर नन के जीवन के लिए आवश्यक सभी नियमों का पालन उन्होंने आवश्यक माना। उनके संयम सम्बन्धी निश्चय का माता-पिता द्वारा ही विरोध हो गया। वे बड़ी निष्ठा से मठ में जीवन बिताना चाहती थीं। वे चाहती थीं कि उनकी बहिनें भी उनका अनुकरण करें। सभी नियम-संयम का पालन हो तथा बिना किसी शर्त के आत्म-समर्पण की भावना हो। उनके अनुसार धार्मिक जीवन की आवश्यक शपथ के अनुरूप जीवन-यापन आवश्यक था। बिना संन्यास लिए केवल ढकोसला और धोखा ही था। यह एक जघन्य अपराध था जिसे कभी भी क्षमा नहीं किया जाना चाहिए। धार्मिक प्रवृत्ति का कोई भी व्यक्ति ऐसा अपराध न करे।

इस अल्प आयु की महन्तिन द्वारा पोर्ट रायल में धार्मिक निष्ठा को मूल रूप में स्थापित करने के प्रयास आसान नही थे। एक तो उन्हें अभी जीवन का अनुभव भी कम था और दूसरी ओर उनके चारों ओर निराशा और अनियमितता का साम्राज्य था। फिर भी सभी कठिन कार्यों का कुशलता-पूर्वक और सहज रूप में सम्पादन करने वाली इस महिला को निःसन्देह ईश्वरीय कृपा प्राप्त थी। इन सुधारों को अमली जामा पहनाने में, अल्प आयु वाली एन्जलीक को बहुत धीरज से काम लेना पड़ा था। वे समझौते के पक्ष में न थीं। धार्मिक मान्यताओं और नियम निष्ठाओं को वे पूर्ण रूपेण बन्धन मानती थीं। वे इसके लिए अन्त तक तैयार थीं। यह अजीब बात है कि उनके द्वारा अतिरंजित धार्मिक निष्ठा के फलस्वरूप कई लोगों ने आत्म-त्याग और आत्म-संयम को पूरी तरह समझा और अपनाया।

एन्जलीक की मृत्यु के काफी समय बाद कटु आलोचक बोल्टर को भी धर्म-सुधार को अपनाने वाले पोर्ट रायल समाज में कट्टर धार्मिक विश्वास और आस्था दिखाई दी। एकान्तवासी नन्स् के उस छोटे से दल की अपने सिद्धान्तों में जिन्हें वे दैनिक आदेश-सत्य समझती थी, इतनी अधिक श्रद्धा थी कि कोड़ों से पीटे जाने पर भी वे उन्हें छोड़ने को तैयार न थीं।

एन्जलीक का पहला प्रयत्न था मठो में सच्चरित्रता के नियमो का कठोरता से पालन करवाना। निर्धनता, मानवता, आज्ञा-पालन और एकान्तवास को महत्त्व देना। इन सभी बातों की सिस्टरशियन आर्डर के अधीन आवश्यकता समझी गई है। उनकी दृष्टि में वे जो सही रूप मे धार्मिक जीवन बिताना चाहती थीं उनके लिए केवल व्याख्यान देना, प्रवचन करना ही आवश्यक कर्त्तव्य न था, उन्हे स्वयं भी उस क्षेत्र मे आगे बढना चाहिए। अपने आप से (शारीरिक रूप से) सम्बन्धियों से और अपनी इच्छाओं से चाहे वे किसी प्रकार की भी हों छुटकारा पाना चाहिए। सभी कुछ त्याग कर परम पिता की शरण मे जाना ही ध्येय होना चाहिए। उनको शात और प्रार्थना में लीन होना चाहिए। आखिरकार परम प्रभु के जंगम मंदिर ही तो है ये साधु और साध्वी महिलाएँ।

धार्मिक जीवन में प्रदत्त भावनात्मक संतोष, उसका माधुर्य, और आत्म-विस्मृति जो स्त्रियों को इतनी सरलता से मोह लेता है और जो ऐन्द्रिक आनन्द का रूप धारण कर लेता है, उसके कार्यक्रम में सर्वथा महत्त्वहीन है। वे धर्म के बाह्य आवरण में कोई विश्वास नही रखती थी। क्योंकि दम्भी व्यक्ति अपनी सांसारिकता को तिरोहित करने के लिए प्रायः इसका आश्रय लेते हैं। बाह्य रूप और धार्मिक जीवन के खोखले आवरण में उसे कभी रुचि नही रही। जब तक मुख्य सिद्धान्तों और नियमों का लग्नपूर्वक पालन नहीं किया जाये शेष सब वृथा है।

एन्जलीक के जीवन की एक और महत्त्वपूर्ण घटना उनकी 'सेण्ट फ्रांसिस डि सेल्स' से मुबिसोन में भेंट थी। वहां एब्बेस एंजलीकडी एस्ट्रीज़ को स्थानापन्न कर सुधार करने का उत्तरदायित्व उस पर सौंपा गया। एस्ट्रीज़ के गोलमाल असह्य हो गये थे। हेनरी चतुर्थ ने सदैव उसको संरक्षण प्रदान किया था। एन्जलिक चार वर्ष तक एब्बे में ठहरी। यद्यपि वह स्थान उनके लिए नया था किन्तु कठिनाइयों और खतरों को पार कर उन्होंने अदम्य उत्साह का परिचय दिया।

मुबिसोन में एन्जलीक का कार्य उनके आदर्श आचरण की अपूर्व झलक थी। भय और निराशा को उपेक्षित कर लग्नपूर्वक कार्य करना, आराम पसन्द

जीवन का परित्याग कर कर्त्तव्य-परायणता की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने जो कार्य किया वह प्रशंसनीय था। कभी-कभी अमानवीय और बहुधा कठिन कार्य करते हुए भी वह सर्वथा संतुलित और शान्त मन रही ।

'सेंट फ्रांसिस डी सेल्स' मुबिसोन में ५ अप्रैल, १६१६ को, एन्जलीक की एक नवागता को अपना समर्थन देने के लिए आये। यह एन्जलीक के लिए एक सुखद घटना थी। क्योंकि उसके जीन चैण्टल के अधीन आर्डर आफ विसिटेशन से सम्बद्ध होकर कार्य करने का यह अलभ्य अवसर था। उन्होंने परस्पर एक-दूसरे को कई बार देखा और वह उसकी बहन एग्नस से मिलने पोर्ट रायल भी गये। किन्तु उन्होंने एन्जलिक को विसिटेशन में सम्मिलित होने की अनुमति नहीं दी। वह पोर्ट रायल में अपने संघर्षमय और असुखद जीवन को छोड़ कर जीन डी चैण्टल के अधीन साधारण शिष्या के रूप में ही कार्य करती रही।

सितम्बर, १६१६ में उनकी अन्तिम व्यक्तिगत भेंट के पश्चात् एन्जलीक ने उन्हें कभी नहीं देखा। किन्तु उसे प्रशंसा भरे पत्र, जिन में वात्सल्य और गहन उपदेश भी रहते थे, मिलते रहे। इस पत्र-व्यवहार का सम्पादन करने वाले विद्वान अभी भी उसकी गहराइयों तक नहीं पहुंच सके हैं। यह पत्र और सेंट फ्रांसिस डि सेल्स का मेरी एन्जलीक के प्रति सम्पूर्ण दृष्टिकोण एक ऐसे पुरुष और नारी के परस्पर स्थायी सम्बन्ध की अभिव्यक्ति है जो सांसारिक भावना से लिप्त व्यक्ति कभी नहीं समझ सकते है । जिन व्यक्तियों ने इस पत्र-व्यवहार को पढ़ा है, वह सदैव उनके आत्मिक विकास में सहायक सिद्ध हुआ है । यह प्रायः असम्भव है कि सेंट फ्रांसिस आफ असीसी की अनुपस्थिति में सेट क्लैअर की कल्पना की जाये, सेंट जान आफ क्रास के अभाव में सेट टेरेसा आफ एंजिला की कल्पना असम्भव होगी । सेंट फ्रांसिस डि सेल्स के बिना जीन डि चैण्टल की स्मृति कठिन है । इसी प्रकार मेरी एंन्जलीक के मामले में भी सेंट फ्रांसिस डि सैल्स का प्रभाव अमिट था । उसके प्रभाव से एन्जलिक की कट्टरता और एकपक्षीयता विलीन हो गई। उसकी कठोरता, अधैर्य, किसी भी कार्य को उचित समझने की उसकी उपहासास्पद धारणा तथा यथार्थ धार्मिक जीवन के प्रारूप में उसके दृष्टिकोण में विशद परिवर्तन था । स्वयं उसकी त्रुटियों के बारे में, उसके विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन आ गया था ।

तीन वर्ष पश्चात् सेंट फ्रांसिस डि सेल्स की मृत्यु हो गई । अनेक सुन्दर पत्रों में सेंट फ्रांसिस ने उसे उसके स्वभाव तथा स्वयं अपने एवं समुदाय के प्रति व्यवहार में परिवर्तन करने के लिए सचेष्ट किया है । सेंट फ्रांसिस के सम्पूर्ण दृष्टिकोण और धार्मिक जीवन के प्रति उसकी भावना में एन्जलीक से गहरी

विचित्रता थी, बिल्कुल उसके स्वभाव की भांति ही । उसक अनुसार ईश्वर का रूप कभी निर्भयता पूर्ण नही था और न वह ऐसा ही था जिसे कि कांपते हुए हृदय से भयपूर्वक सम्मान अर्पित किया जाय ।

सेंट फासिस डि सेल्स की सदा यह इच्छा थी कि जीन डि चैण्टल और आर्डर आफ दी विमिटेशन पोर्ट रायल और मेरी एन्जलीक से परस्पर निकटता-पूर्वक सम्बद्ध हो जाये। १६२२ मे उसकी मृत्यु के पश्चात् जीन डि चैण्टल आगामी बीस वर्ष तक एन्जलीक का घनिष्ठ मित्र रहा । अपने अन्तिम पत्र मे भी उसने यही अनुरोध किया था कि पोर्ट रायल और विसिटेशन मे परस्पर गहन सम्बन्ध रहे । वस्तुतः यह भाग्य की विडम्बना थी कि सेट फासिस डि सेल्स और जीन डि चैण्टल की यह आध्यात्मिक दुनिया जैसूइट्स मे प्रभावित होकर पोर्ट रायल की ननो के लिए हृदयहीन और निर्मम कारा प्रहरी सिद्ध हुई।

१६२५ ई० में एन्जलीक पोर्ट रायल डैस चैम्प्स छोड़ कर फोबर्ग सेट जैक्वीस, पेरिस चली गई । पोर्ट रायल के अस्वस्थ वातावरण के कारण ही उसने ऐसा किया था । इसका एक और कारण यह भी था कि वह स्वयं तथा अपने दल को सांसारिक भावनाओं से परिपूर्ण और अज्ञानी साधुओं से मुक्त कर पेरिस के आर्क बिशप के अधीन रहना चाहती थी ।

पेरिस में वह लैंगरीज के बिशप सेबस्टीन ज़ेमेट के सम्पर्क मे आई। बिशप पहले ही एन्जलीक के सुधार-कार्यों का प्रशंसक था और उसकी इच्छा थी कि 'ब्लेमड सेक्रामेंट' की चिर आराधना के लिए एक आर्डर (मत) स्थापित किया जाये। एन्जलिक ने यह व्यवस्था पोर्ट रायल मे पहले ही प्रारम्भ की थी इसलिए दोनों में पर्याप्त सहानुभूति थी। सेबस्टीन ज़ेमेट अत्यन्त उत्साही व्यक्ति था और आध्यात्मिक भावना उसमें इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि एन्जलीक बिशप की भावुकता पर मुग्ध हो गई । उसने यह देखने का भी प्रयत्न नहीं किया कि उसका स्वभाव वस्तुतः ओछा है और वह एक संकीर्ण वृत्ति वाला स्थायित्व हीन व्यक्ति है।

१६३० में अपने पद से त्यागपत्र देने की उनकी पुरानी इच्छा पूरी हुई और सम्राट् ने पोर्ट रायल को एबिस का त्रैवार्षिक निर्वाचन करने का विशेष अधिकार प्रदान किया । एन्जलीक की एक नव शिष्या जेनेवी ले टार्डिफ पूर्णतः ज़ेमेट के प्रभाव में थी। एन्जलीक ठहरी एक सीधी सादी नन। उसने अश्रुपात करते हुए अपनी सम्पूर्ण मेहनत को नष्ट होते हुए देखा । जेनेवी का मत था कि निर्धनता एवं नैराश्य जीवन के कारण ही नन अपनी वर्तमान अवस्था में है, अतः उसने उन्हें लिखना-पढ़ना सिखाया एवं संयम और उपवास आदि के महत्व से अवगत कराया।

एन्जलीक को यह पसन्द नहीं था । उसकी राय में इस प्रकार के अभ्यास से अस्थायी भावुकता उत्पन्न होती है तथा जो इन्हें यह सिखाते हैं उन्हें एक प्रकार की आत्म-गरिमा की अनुभूति के अतिरिक्त कोई और लाभ नहीं होता।

१६३३ में 'आर्डर आफ दी एडोरेशन आफ दी ब्लेसड सेक्रामेंट' की स्थापना की गई । सेबस्टीन ज़ेमेट की अब यह इच्छा नहीं थी कि एन्जलीक मदर सुपीरियर के पद पर रहे । किन्तु पेरिस के आर्क बिशप ने इसका अनुरोध किया किन्तु शीघ्र ही 'एडोरेशन कान्वेण्ट' समाप्त हो गया और एन्जलीक एक नन को साथ लेकर १६३६ में पोर्ट रायल वापस आ गई।

किन्तु ज़ेमेट ने ही जीन डू वर्जियर डि हौरेन एवं एब्बे डि सेंट सीरन को पोर्ट रायल प्रदान किये थे । वह एक ऐसी घटना थी जिसका शीघ्र ही सम्पूर्ण सम्प्रदाय पर तीव्र प्रभाव पड़ा । सेंट सीरान के साथ सम्बद्ध होने के कारण ही पोर्ट रायल इतना विख्यात हो गया और यही उसके विनाश का आधार भी सिद्ध हुआ । सेंट सीरान जानसेन का परम मित्र था। कार्डिनल डि बीरुल और सेंट विसेंट डि पाल भी उसके गहन मित्र थे। रिशिल्यू उसका बड़ा सम्मान करता था और उसने उसे अपनी ओर मिलाने का काफी प्रयत्न किया किन्तु उसकी स्वतन्त्र वृत्ति से वह खीज उठा और इसे अपने लिए एक प्रकार की चुनौती मान बैठा। सेंट सीरान शिक्षा-सिद्धान्त में निर्भयता का उपासक था । वह एन्जलीक की भावना के निकट था । आकर्षण और गरिमा वैयक्तिक गुणावगुण नहीं है यह ईश्वर की ओर से प्रदत्त भेंट है । कोई उनके लिए अपने अधिकार होने का दावा नहीं कर सकता। उसके परम भक्त भी इसके लिए ईश्वर के समक्ष अपने अधिकारों का दावा नहीं कर सकते । एन्जलीक का विश्वास था कि उसने एक नये सेंट फ्रांसिस डि सेल्स को प्राप्त कर लिया है और सम्पूर्ण पोर्ट रायल से सारे सम्बन्ध विच्छेद कर लिये और उनके शत्रुओं का समर्थन करने लगीं । सेंट रिशिल्यू की भर्त्सना की गई और उसे विन्सेज में बन्दी बना लिया गया । इसका कारण यह था कि उसने जैस्टन डि आर्लीयन्स के विवाह को अवैध घोषित करने से स्पष्ट मना कर दिया था तथा उसके विचार कार्डिनल के विचारों से भिन्न थे।

कारागृह से भी सेंट सीरान पोर्ट रायल के नन समुदाय को निर्देशित करता रहा और रिशिल्यू की मृत्यु के पश्चात् जब उसने विंकेनीज छोड़ा तो सबसे पहले ननों से भेंट की । कुछ समय पश्चात् उसकी मृत्यु हो गई। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह सत्रहवीं शताब्दी का सबस महान् परिशोधक था । पोर्ट रायल के लिए तो उसकी अवस्था एक पितृ-तुल्य थी । सेंट सीरान और एन्जलीक में विचारों तथा स्वभाव

की जितनी समानता थी उतनी अन्यत्र दुर्लभ है। दोनों ही स्थिर स्वभाव के और दृढ़चित्त व्यक्ति थे। दोनों का व्यक्तित्व इतना ओजस्वी था कि अन्य व्यक्ति उनके सामने धुंधले नजर आते थे। दोनों भलीभांति यह जानते थे कि सहयोगियों को किस प्रकार अपने विचारों से अभिभूत कर उनको अनुकरण करने के लिए प्रेरित किया जाये। और जिस कार्य को वे ठीक समझते थे उन्हें उससे कोई नहीं डिगा सकता था।

१६४२ और १६४६ के बीच एन्जलीक निरन्तर चार बार पोर्ट रायल की एब्बे निर्वाचित की गई। वह अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण अवधि थी। १६४८ में २२ वर्ष की अनुपस्थिति के पश्चात् कुछ नन को साथ लेकर वह पोर्ट रायल के उस चैम्पस में लौटी जहां एकत्रित जन-समूह ने उनका स्वागत किया।

फ्रोंड के युद्ध में एन्जलीक ने कावेंट के द्वार खोल दिये और सम्पूर्ण शरणार्थियों को आश्रय दिया। उनके हृदय में दुखी जनों के प्रति अगाध ममता थी। बेघर-बार और भय-ग्रस्त व्यक्तियों के लिए उन्होंने सर्वस्व अर्पित कर दिया। उनकी साधारण समझ और मानसिक सन्तुलन और संगठन-शक्ति अद्भुत थी।

युद्ध की इन्हीं प्रताडनाओं की भांति एन्जलीक ने अन्य कठिनाइयों का सामना किया। १६५३ में उन्हें अन्य ननों के साथ उस प्रपत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश किया गया जिसमें कथित रूप से 'आगस्टिनस' में प्राप्त पांच प्रस्तावों की निन्दा की गई थी। किन्तु उससे भी उन्हें शांति नहीं मिली।

कुछ समय के लिए यह सब प्रताड़नाएं और अपमान समाप्त हो गए, एक चमत्कृत घटना के कारण। इस घटना का परिलक्षण सम्पूर्ण पोर्ट रायल वर्ग और बाह्य जगत् ने किया। मेरी एन्जलीक के एक सम्बन्धी को, जो पादरी थे, कहीं से एक कांटा प्राप्त हो गया। इसके बारे में यह प्रसिद्ध था कि वह 'क्राउन आफ थार्न' से सम्बन्धित है। इसे पोर्ट रायल भेजा गया। उस समय कावेण्ट में एक दस वर्षीय बालिका किसी असाध्य रोग से पीड़ित थी। उसकी परिचर्या में नियुक्त सिस्टर ने उपर्युक्त कांटे से युक्त एक पेटी का बालिका से स्पर्श किया और उसका रोग सदा के लिए दूर हो गया। उसका अवशिष्ट चिह्न भी नहीं था। डाक्टरों ने बताया कि इस प्रकार की शक्ति किसी भी साधारण औषधि की शक्ति से परे है। पेरिस के आर्क बिशप ने इसे एक चमत्कार घोषित किया। ब्लैस पास्कल ने इसका अपने प्रसिद्ध पत्र में उत्साह-पूर्वक वर्णन किया है। यहां तक कि कोर्ट के कई व्यक्तियों की राय में यह एक असम्भव बात थी कि खतरनाक सिद्धान्तों का प्रचार करने वाले अन्ध परम्परावादियों को इस प्रकार दैवी शक्ति कैसे मिल गई। किन्तु

अभी अधिक समय नहीं बीतने पाया था कि तुरन्त ही एक नवीन प्रपत्र तैयार किया गया जिस पर बिना अपवाद प्रत्येक व्यक्ति द्वारा हस्ताक्षर किए गए। पोप ने यह निश्चित घोषणा की कि यह पांच प्रस्ताव जानसन की पुस्तक में उपलब्ध हैं।

पोर्ट रायल के नन-समुदाय ने सावधानी बर्तने के लिए कुछ पंक्तियां लिखे बग़ैर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया क्योंकि उस पर हस्ताक्षर करने का अर्थ था सेंट सागान और जानसेन की निन्दा करना। कई ने तो हस्ताक्षर करने से सर्वथा इन्कार कर दिया। ब्लैस पास्कल की बहन जैक्वलीन जो कई वर्ष पहले पोर्ट रायल सम्प्रदाय में सम्मिलित हुई थी, को इससे बड़ा आघात पहुंचा और उसकी मृत्यु हो गई।

सब कार्यकर्ताओं की सेवाएं भंग कर दी गई और स्कूल बन्द कर दिया गया २३ अप्रैल, १६६० को पेरिस स्थित नन-समुदाय को आदेश दिया गया कि निवृत्ति पारिश्रमिक पाने वाले सब कार्यकर्ता पृथक् कर दिये जायें। लॉ मेरी एन्जलीक तत्काल पेरिस के लिए सहायता प्रदान करने के हेतु रवाना हुई। उस समय उनकी आयु सत्तर वर्ष की थी। विदाई क समय अपने भाई डि एंडिली से उन्होंने जो कहा था वह इस प्रकार है :—

कान्वेंट द्वार पर गाड़ी मे बैठने के पूर्व उनम परस्पर कुछ वार्तालाप हुआ था।

"बिदा, मेरे भाई, भविष्य का साहस-पूर्वक मुकाबला करना" एन्जलीक ने कहा।

"मेरे लिए कोई भय न करो, बहन, मेरे पास पर्याप्त साहस है।" उसने कहा।

एन्जलीक न कहा—"प्रिय भाई, हमें यह याद रखना चाहिए कि दृढ़ता क अभाव में विनम्रता एक प्रकार की कायरता है किन्तु विनम्रता के अभाव में साहस निरर्थक है।"

४ मई को नन-समुदाय को यह आदेश दिया गया कि वह नव शिष्याओं को पृथक् कर दे और नए व्यक्तियों को दीक्षित न करे। वह एन्जलीक के संयम से परिपूर्ण और उच्च आकांक्षा एवं उनके सुधार कार्यों का अन्तिम उपक्रम था। उनके जीवन का स्वप्न भस्मीभूत हो रहा था। और वह उस चर्च द्वारा किया जा रहा था जिसके लिए उसके हृदय में इतना आदर एवं सम्मान था। एन्जलीक क जीवन में यह दुःखपूर्ण स्थिति किसी प्रकार के अनाचार अथवा दुर्भावना का परिणाम नहीं था, प्रत्यत्त ईश्वर-इच्छा थी।

उनका सदैव यही उपदेश था—"बहनो, हमें हतप्रभ और दुखी नहीं होना चाहिए किन्तु सदैव विनम्र रहना चाहिए।" वह कहती थीं—"ईश्वर का प्रत्येक कार्य

बुद्धिमत्ता और उदारता-पूर्ण होता है । जो कुछ घट रहा है उससे हमें विनम्र बनने में सहायता मिलेगी । अधिक समय तक समृद्धि में बने रहना हमारे लिए अवांछनीय था । फ्रांस में अन्य किसी भी वर्ग को आध्यात्मिक आशीर्वाद की इतनी बहुलता प्राप्त नहीं थी । सर्वत्र हमारी चर्चा हो रही है । विश्वास कीजिये मुझ पर, ईश्वर हमे विनम्रता का सबक सिखा रहा है ? यदि हम वर्तमान विनम्र स्थिति में ही होते तो हम लड़खड़ा कर गिर जाते । मनुष्य अपने कार्यों की पृष्ठभूमि में निहित कारण नहीं देखते हैं किन्तु ईश्वर, जो इन सबका प्रयोक्ता है, प्रत्येक वस्तु भलीभांति देखता है ।''

अगस्त १६६१ में जब उनकी मृत्यु हुई तब भी एन्जलीक की आस्था में तनिक भी शिथिलता नहीं रही थी । वह मृत्यु से सदैव डरती थी किन्तु मृत्यु के समय वह अपने मित्र जीन डि चैण्टल की अपेक्षा कहीं अधिक शांत थी । उनके लिए यह "पौरुष की घड़ी थी" किन्तु उन्हें यह विश्वास हो गया था कि "ईश्वरीय घड़ी" अवश्य आयेगी ।

उनकी मृत्यु के साथ ही यथार्थ पोर्ट रायल का अन्त हो गया । हम कभी यह विस्मृत नहीं कर सकते कि यथार्थ में पोर्ट रायल की आत्मा और भावना, मेरी एन्जलीक ही थी । उनके आदर्श, साहस विश्वास और ईमानदारी से फ्रांस के तत्कालीन श्रेष्ठ स्त्री और पुरुष आकर्षित हुए तथा सर्वत्र व्याप्त विलासमय जीवन को त्याग कर उच्चतर यथार्थता की ओर प्रवृत्त हुए । एन्जलीक के व्यक्तित्व और अकथनीय साहस से नन-समुदाय तथा अन्य वर्ग अनुप्राणित हुए । एन्जलीक की गणना पश्चिम के ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के सुधारकों में की जाती है । यद्यपि उनकी गिनती चर्च की वास्तविक पुत्रियों में भी नहीं है जिसके लिए उन्होंने देश के सम्पूर्ण धार्मिक जीवन को विशुद्ध करने का प्रयास किया था ।

आज हमारे युग में भी उनका जीवन एक उज्ज्वल आदर्श है जो स्थिरता और अशिथिलता का अनुपमेय आदर्श है, भले ही ईश्वर के बारे में उनका अभिमत सबको स्वीकार्य न हो ।

बाह्य रूप में पोर्ट रायल का एन्जलीक की मृत्यु के साथ अन्त हो गया किन्तु उनका आत्मिक स्वरूप आज भी विद्यमान है और जहां भी ईमानदारी, साहस एवं सत्यता का सम्मान है उनका नाम स्मरण होता रहेगा । उनके जैसे पावन जीवन का सर्वत्र सम्मान होता है और अपने सत्संग से वह सबको पावन बनाते हैं ।

परिच्छेद २६

मदर कैब्रिनी

२१ जून, १९५३ को 'परिव्राजकों की जननी' सेण्ट फ्रांसिस ज़ेवियर कैब्रिनी के सम्मान में रोम में एक चैपल अर्पित किया गया। यह चैपल होली रिडीमर के चर्च में था। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में मदर कैब्रिनी ने उसका निर्माण किया था। उनके प्रत्येक कार्य की भांति, यह चर्च भी होली फादर के प्रस्ताव के अनुपालन स्वरूप ही स्थापित किया गया था। मदर कैब्रिनी के जीवन की मुख्य विशेषता थी—आज्ञापालन, प्रार्थना और श्रम। यद्यपि प्रारम्भ से ही उनकी इच्छा चीनवासियों में मिश्नरी कार्य करने की थी किन्तु सर्वोच्च पोण्टिफ की आज्ञा-पालन करने के लिए उन्होंने अमेरिका के लिए प्रस्थान किया, जहां उन्हें बहुत कुछ करना था।

मेरिया फ्रांसिस्का कैब्रिनो का जन्म सेंट एंजलो डि लोडी (लोम्बार्डी) इटली में १५ जुलाई, १८५० ई० को हुआ था। तेरह भाई-बहनों में कैब्रिनी सबसे छोटी थी। उसके माता-पिता धार्मिक विचारों के लिए सर्व-विदित थे। माता की आयु अधिक होने के कारण कैब्रिनी का लालन-पालन उसकी बहन रोज़ न किया। रोज़ तीव्र स्वभाव वाली एक साहसी महिला थी। वह प्राइवेट शिक्षक के रूप में एक छोटा-सा प्राइवेट स्कूल चलाती थी। लालन-पालन की यह कठोर और स्पष्ट परिस्थितियां फ्रांसिस्का के भावी नन जीवन के लिए पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हुईं। यद्यपि कैब्रिनी का जीवन ढालने में वह लाभदायक सिद्ध हुईं, किन्तु कैब्रिनी को यह लगा कि उनके जीवनोद्देश्य के लिए इस प्रकार का कठोर जीवन उपयुक्त नहीं है। वह अपने दयालु स्वभाव के लिए सदा प्रसिद्ध थी।

फ्रांसिस्का बचपन में अत्यन्त क्षीणकाय और रोगिणी थी। जीवन भर उसका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा। प्रारम्भ में उसको धार्मिक जीवन में गहन रुचि थी। वह गुड़ियों को 'नन' के रूप में वस्त्र पहनाती थीं और स्वयं लेडी ऐब्बस की स्थिति में उनकी अध्यक्षता करती। अल्पायु में ही उन्होंने अपनी बहन के समक्ष यह विचार प्रकट किया कि वह मिश्नरी बनना चाहती है। उसके चाचा पड़ोसी नगर में पादरी थे और उनसे भेंट करने के पश्चात् ही मिश्नरी बनने की योजना

को अन्तिम रूप देने का निर्णय किया गया । यहां पर बालिका कैब्रिनी कागज की नौकाएं बना कर उन्हें नहर की तेज धारा में छोड़ कर खेला करती थी । नहर नगर को विभक्त कर रही थी । वायलेट फूल नौकाओं में रख दिये जाते और फ्रांसिस्का कल्पना करती थी कि वह उन्हें विश्व के सुदूर भागों में मिशनरी के रूप में भेज रही है । सात वर्ष की आयु की बालिका के लिए इस प्रकार का खेल सर्वथा असाधारण था किन्तु उसके भावी जीवन की दिशा सचमुच ही अद्वितीय थी । १ जुलाई, १८५७ को स्थायित्व के समय, उन्होंने परमात्मा से रागात्मक एकत्व स्थापित किया । इस प्रकार के अनुभव की, जो सन्त अवस्था का प्रारम्भिक लक्षण था, मदर कैब्रिनी ने कई वर्ष पश्चात् इस प्रकार व्याख्या की थी—"उस पवित्र भावना से एकत्व होने समय मैंने जो अनुभव किया उसे व्यक्त करना असम्भव है ऐसा लगता था जैसे मैं इस धरा पर नहीं हूं। मेरा हृदय विशुद्ध आनन्द से परिपूरित हो उठा । अनुभव की अभिव्यक्ति के लिए मेरे पास वाणी नहीं है किन्तु मैं जानती हूं कि वह पवित्र आत्मा ही थी ।"

प्रारम्भ में ही कैब्रिनी में आत्म-संयम और ईश्वर-भक्ति इतनी थी कि एक बार भूचाल आने पर जब माता-पिता बालिका कैब्रिनी को ढूंढ रहे थे, वह शांत-चित्त ध्यानावस्थित थी । इसका कारण यह था कि वह प्रतिदिन नियमित रूप से स्वाध्याय करती थी । आत्मिक अनुशासन के साथ ही उसमें एक बात और थी । ग्यारह वर्ष की आयु में ही क्यूरेट द्वारा, जो उसके प्रथम धर्म गुरु थे, उसे ब्रह्मचर्य व्रत लेने की अनुमति दी गयी । किन्तु इस व्रत को स्थायी रूप देने की धार्मिक अनुमति उन्नीस वर्ष की उम्र में ही प्रदान की गई । कई वर्ष पश्चात् क्यूरेट ने लिखा कि उसने कैब्रिनी को सदा एक सन्त ही समझा है । फ्रांसिस्का के द्वितीय धर्म गुरु स्थानीय चर्च के एक पैस्टर थे । पन्द्रह वर्ष की आयु में वह उन्हीं की देखभाल में थी । यह सम्पर्क अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ क्योंकि इस समय कैब्रिनी को जो भी शिक्षाएं मिली वह उसके भावी जीवन का आधार थीं । जब भी बालिका कैब्रिनी, पैस्टर के समक्ष कोई भी समस्या प्रस्तुत करती तो उसका उत्तर था—'यह ईशु से कहो' इस प्रकार कैब्रिनी ने ईश्वर से निकट और घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर लिया—जिस व्यक्ति को नियमित धार्मिक शिक्षा न मिली हो, उसके लिए यह विकास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था ।

तेरह वर्ष की आयु में फ्रांसिस्का को एक प्राइवेट स्कूल में भेजा गया । इस स्कूल का संचालन पास ही में स्थित आरलुनों नगर में 'डाटर्स ऑफ दी सेक्रेड हार्ट' द्वारा किया जाता था । वह पांच वर्ष तक वहां रही और अठारह वर्ष की आयु

में उन्हें अध्यापिका का प्रमाण पत्र मिला । उन्होंने लोडी नार्मल स्कूल में अध्ययन पूरा किया । उसी समय कैब्रिनी ने धार्मिक सम्प्रदाय में प्रवेश करने के दो प्रयत्न किए किन्तु क्षीण स्वास्थ्य के कारण उन्हें स्वीकृति नहीं दी गई । घर लौट कर फ्रांसिस्का ने अनेक परोपकार-कार्य किये और पादरी के अनुदेश पर उपेक्षित बच्चों की देखभाल की । १७८२ में सेंट एंजलों में चेचक फैल गया । अपनी बहन रोज़ की सहायता से फ्रांसिस्का ने रोगियों की देखभाल की किन्तु स्वयं भी इसका शिकार हो गई । पुनः स्वस्थ होने पर उसने एक समीपवर्ती नगर विडार्डो में एक पब्लिक स्कूल में अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया । इस अवधि में कैब्रिनी ने अनेक रात जाग कर प्रार्थना की । इसके अतिरिक्त उसने कतिपय बाह्य साधना भी की जिसके फलस्वरूप उसका स्वास्थ्य जर्जर हो गया । कैब्रिनी ने बाद में यह भूल स्वीकार की । वह इस निष्कर्ष पर पहुंची कि ऐसे सिद्धान्त पर जोर दिया जाये जो भावी जीवन में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो, धार्मिक-सिद्धान्त के प्रतिष्ठाना के रूप में उसने यह मत प्रस्तुत किया कि नियम का पूर्ण पालन आत्म-शुद्धि है । एक बार उसने नन को लिखा था—'आज्ञा-पालन करने पर ही साधु बनोगे । स्व-प्रेरणा से पूरे वर्ष उपवास करने का भी उतना फल नहीं है, जितना आज्ञा पालन का एक कार्य ।'

१८७४ में कैब्रिनी ने कोडोग्नो के छोटे से नगर में एक अनाथ पाठशाला की संचालिका का पद स्वीकार किया । इस पाठशाला की स्थापना १८५७ में ईश्वरीय निवास 'हाउस आफ प्रोविडेन्स' के रूप में की गई थी । पाठशाला को विचित्र स्वभाव वाली एक धनी महिला का संरक्षण प्राप्त हो गया था । उस महिला ने संस्था को आर्थिक सहायता दी और प्रधान अध्यापिका के पद पर कार्य किया । यह महिला, एण्टोनिया टोंडिनी लोडी के बिशप द्वारा आग्रह किये जाने पर 'नन' के रूप में दीक्षित हो गई । बिशप को आशा थी कि इस प्रकार टोंडिनी के स्वभाव और स्कूल की संचालन-व्यवस्था में परिवर्तन उत्पन्न होगा, किन्तु कोई सुधार दृष्टि-गोचर नहीं हुआ । असन्तुलित मस्तिष्क वाली संचालिका की कुव्यवस्था के वातावरण में फ्रांसिस्का के लिए यह परीक्षण काल सिद्ध हुआ । उसने छः वर्ष तक वहां कार्य किया और १५ अक्तूबर, १८७४ को वह नन के धर्म में दीक्षित हो गई । यद्यपि उक्त सनकी मुख्याध्यापिका ने स्कूल में किसी प्रकार का सुधार नहीं होने दिया, उसमें अनाथों की संख्या बढ़ती गई । अब कई युवा स्त्रियां भी उसमें रहने लगी थीं । यह स्त्रियां अधिकांश कैब्रिनी के आस-पास ही रहती थीं । कैब्रिनी ने इनमें आध्यात्मिक भावना और मिश्नरी कार्य करने की इच्छा

उत्पन्न की । यह फ्रांसिस्का के भावी जीवन का विकास युग था, उसने एक नवीन प्रेरणा अनुभव की । १८८० के अन्त में एंटोनिया टोडिनी के साथ मतभेद ने इतना व्यापक रूप धारण कर लिया कि लोडी के बिशप ने इस संस्था 'हाउस ग्राफ प्रोविडेंस' को विसर्जित करने का निर्णय कर लिया। ऐसा करने पर फ्रांसिस्का तथा उसके साथी बेघरबार हो जाते । बिशप यह बात भली-भांति जानता था कि संस्था वस्तुतः उन्ही लोगों के बल पर चल रही है । यह भी सर्वविदित तथ्य था कि फ्रांसिस्का का उद्देश्य मिश्नरी बनना है । अत फ्रांसिस्का से यह प्रार्थना करना युक्तिहीन नहीं था कि वह मिश्नरी नन का आदेश प्राप्त करे । इस प्रकार फ्रांसिस्का का वास्तविक कार्य आरम्भ हुआ । १४ नवम्बर, १८८० को फ्रांसिस्का कैब्रिनी और उसके साथियों ने कोडोग्नो के फ्रांसिसन मठ में शरण ली। इसी दिन उनकी संस्था का जन्म हुआ जो बाद में 'मिशनरी सिस्टर्स ग्राफ दी सेक्रेड हार्ट' के नाम से विख्यात हुई। भवन के ऊपर 'सेक्रेड हार्ट' की मूर्ति स्थापित की गई, 'मास' का पाठ किया गया और मदर कैब्रिनी ने अपने उस कार्यक्रम का सूत्रपात किया जो बाद में चल कर दुनिया के कई भागों में प्रचलित हुआ।

मिशनरी आर्डर की प्रतिष्ठापिका के रूप में मदर कैब्रिनी ने सवेरियो की उपाधि अंगीकार की । यह इटालियन शब्द 'जेवियर' का ही रूपान्तर है, जो उसके धार्मिक जीवन का नाम था । वह इस बात को पसन्द नहीं करती थी कि उसे 'मदर प्रतिष्ठापिका' पुकारा जाय, किन्तु वह केवल मदर कैब्रिनी का सम्बोधन ही पसन्द करती थीं । उसकी व्याख्या इस प्रकार थी—"हमारी संस्थापिका तो मदर ग्राफ ग्रेस हैं, हमारे स्वामी हार्ट ग्राफ जीसस हैं, सेंट फ्रांसिस डि सेल्स हमारे मैनेजर हैं और हमारे उपबन्धक हैं सेंट फ्रांसिस जेवियर । "

इस अवधि में मदर कैब्रिनी उपासना और चिन्तन द्वारा आत्मिक परिवर्तन करती रहीं । किन्तु उसने कभी संस्था के कार्यकर्ता सदस्यों की उपेक्षा नहीं की । उन्हें भावी कार्य के लिए प्रशिक्षित किया जा रहा था । मदर स्वयं जन्मजात प्रशिक्षिका थीं । वह दृढ़चित किन्तु दयावान् थी । मदर कैब्रिनी प्राइवेट मेंट एवं आध्यात्मिक सम्मेलन में युवा नन समुदाय को सदैव यह उपदेश देती रहती थीं कि वह अपने आप को एक अधिक शक्तिशाली नियन्ता पर आश्रित कर दें । उनकी मार्ग-प्रदर्शिका पुस्तक सेंट इग्नेशियस की पुस्तक 'आध्यात्मिक अभ्यास' थी । यही आत्मिक अनुदेश उसने स्वयं अनुपालन किए और नन समुदाय से पालन करने के लिए कहा।

इस संस्था की स्थापना के दो वर्ष पश्चात मदर कैब्रिनी, चार सिस्टर और पच्चीस-

वर्षी वरिष्ठ के साथ क्रीयोना नगर के निकट ग्रूमेलो नामक स्थान पर गई। वहां उन्होंने एक छोटा-सा स्कूल खोला, जहां अन्य विषयों के साथ पाक, कला, सिलाई और धर्म की शिक्षा दी जाती थी। मिशनरी कार्य-कलाप का यह प्रथम चरण था जिसने तीनों महाद्वीपों में अनेक संस्थाएं स्थापित कीं। १८८८ ई० में मिलान, बेरोनेटो लिवागरा, रोम और अन्य स्थानों पर स्कूल स्थापित कर दिये गए।

उन्नीसवीं शताब्दी की उत्तरवर्ती अवधि मे अमेरिका मे इटली के परिव्राजक पर्याप्त संख्या में आ रहे थे। न्यूयार्क, शिकागो तथा अन्य नगरों मे निर्धन इटली-वासियों की शोचनीय अवस्था की खबर रोम पहुंची। इसी समय न्यूयार्क के आर्क बिशप कोरिजन ने इस कार्य के लिए न्यूयार्क में एक प्रतिष्ठान स्थापित करने की प्रार्थना की। होली फादर के साथ एक भेंट मे मदर कैब्रिनी ने उनसे पूछा कि क्या उसे उपरोक्त आमन्त्रण स्वीकार कर लेना चाहिए। फादर का उत्तर स्वीकारात्मक था और इस कार्य को करने के लिए उसे स्वीकारोक्ति मिल गई।

३१ मार्च, १८८९ को मदर कैब्रिनी कुछ नन के साथ न्यूयार्क पहुंच गई। यहां पर प्रतिष्ठान की स्थापना के लिए उन्हें एक अनाथालय तथा कुछ अन्य सुविधाओं की आवश्यकता थी। किन्तु कुछ भूलों के परिणामस्वरूप आर्च बिशप कोरिजन को यह अपेक्षित नही था। इससे भी बुरी बात कोरिजन की यह अनुभूति थी कि उन्हें यह कार्य नहीं करना चाहिए था। आर्च बिशप ने मदर कैब्रिनी के समक्ष यह सुझाव रखा कि उसे इटली लौट जाना चाहिए तो मदर ने उत्तर दिया कि होली फादर ने मुझे यहां भेजा है और मैं यहां ही ठहरूंगी।

तो इस एक आध्यात्मिक भावना से प्रेरित मदर कैब्रिनी ने आर्च बिशप के साथ सम्पूर्ण कठिनाइयों का सामना किया और अनाथाश्रम की स्थापना की। कोष का अभाव था अतः चन्दे द्वारा और इटालियन क्षेत्र में सीधे भिक्षादान की सहायता से रकम प्राप्त की गई। आवश्यकता अत्यन्त तीव्र थी इसलिए नन बड़ी-बड़ी टोकरियां लेकर निकलती थीं। वह लोगों से खाद्यान्न भी स्वीकार कर लती थीं। बेघर बच्चों की देखभाल, उनके रहने और भोजन की व्यवस्था का प्रश्न था। इसके साथ ही इटालियन क्षेत्र में रहने वाले अन्य बच्चों की धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था भी उपेक्षित नहीं की जा सकती थी। इन सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए न्यूयार्क के 'लिटिल इटली' में सेंट जोकीम चर्च में सिस्टर को काम दिया गया। यहां पर सिस्टर 'मास' के समय बच्चों की देखभाल

करती थी और मध्याह्न पश्चात् उनको प्रशिक्षण देती थी । कुछ समय पश्चात् ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के प्रसारार्थ युवा स्त्रियों और वयस्क लड़कियों के अध्यापन के लिए कक्षाएं चालू की गईं । इस प्रकार सेंट जोकीम इटालियन केन्द्र के रूप मे विकसित होने लगा ।

यद्यपि मदर कैब्रिनी का स्वास्थ्य निरन्तर क्षीण हो रहा था, फिर भी वह एक अद्भुत स्फूर्ति-सम्पन्न महिला थीं । उन्हे विश्रान्ति का अवसर केवल उस समय ही मिला जब वह अमेरिका और दूसरे देशो के बीच अटलाटिक की यात्रा पर थी । किन्तु उस समय भी वह भावी कार्यक्रम के हेतु स्वयं को तैयार करने के लिए ही विश्राम कर रही थीं । यह यात्राएं, जिनकी संख्या कुल सैंतीस थी, जन-समुदाय के विनिमय के लिए उपयोगी अवसर था । अमरीकी नन कोडोग्नो जाती थीं और इटालियन सिस्टर मदर जनरल के साथ अमेरिका जाती थी । वह प्राय: नन से कहती थी—'हम किसी भी कार्य के लिए समर्थ नही है, परन्तु ईश्वर की कृपा से हम सब कुछ कर सकती है । इस धरती पर विश्राम की खोज न करो, किन्तु ईसा मसीह के साथ कार्य रूपी युद्ध क्षेत्र मे जूझते हुए प्राण उत्सर्ग करो । जितना अधिक संघर्ष करोगे पुरस्कार भी उसी परिमाण मे होगा । पुरस्कार शाश्वत सत्य है, उसे कोई नही ले सकता ।' मदर कैब्रिनी जब एन्डीज़ पर्वत को पार कर रही थी, तब उनका जीवन अत्यन्त संकटमय था । राजनीतिक मतभेद के कारण उन्हें निकार्जुआ से निर्वासित कर दिया गया था । न्यू आर्लियन्स मे भ्रष्ट राजनीतिज्ञों और तस्कर व्यापारियों से घिरे रह कर उन्होंने काम जारी रखा । उस नगर में इटालियनों के लिए जीवन अत्यन्त दूभर हो गया था । एक काल्पनिक हत्या के फलस्वरूप ग्यारह इटालियन बर्बरतापूर्वक मार दिए गये थे । मदर कैब्रिनी ने इस परिस्थिति में भी ईश्वर मे अटूट श्रद्धा और अपने कार्य में स्थिर भक्ति जारी रखी । उसने सिस्टर समुदाय को उपदेश दिया—"किसी से भयभीत न हो । हम सब ईश्वर की इच्छानुसार ही कार्य कर रहे है । यह मेरा अनुभव है कि जब भी मुझे असफलता मिली तो इसका कारण अपनी शक्ति में आवश्यकता से अधिक विश्वास करने से ही है । यदि हम सर्वस्व ईश्वर को समर्पण कर दें तो हमे कभी असफल नही होना होगा । ईश्वर के अधीन सम्भव और असम्भव का प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता है । कैब्रिनी ने उन्हे फिर आश्वस्त किया—'पूर्णता प्राप्त करने के लिए ईश्वर का आदेश पूर्णतया पालन करो । जब आप वैयक्तिक इच्छाओं का परित्याग कर देंगे तो ईसा मसीह की कृपा से आत्म-शुद्धि स्वतः उत्पन्न हो जायेगी ।'

मदर जनरल क व्यक्तित्व और आध्यात्मिक भाव से अनुप्राणित होकर मिश्नरी सिस्टर समुदाय ने अत्यन्त भावना-पूर्वक अपना कार्य किया । कैब्रिनी का यह सत्परामर्श उन्होंने सदैव याद रखा—'कठिनाइयां बच्चों के खिलौने की भाति हैं, उनकी भयावहता का मूल कारण हमारी कल्पना है ।' इस प्रकार द्वार-द्वार भिक्षा मांग कर न्यू आर्लियन्स की यह संस्था दस बर्ष तक चलती रही । न्यूयार्क स्थित कोलम्बस अस्पताल, जिस ने सहस्रों बच्चों की देखभाल की, प्रारम्भ में केवल दो सौ पचास डालर की पूंजी से प्रारम्भ हुआ था । कोलारेडो, डेनवर में आने के पश्चात तीन सप्ताह भी नही बीते थे कि मिश्नरी सिस्टर ने एक नवीन संस्था की स्थापना की और प्रथम दिन दो सौ बच्चे वहां उपस्थित थे । किन्तु काम का अन्त यही नहीं था। इन बच्चों के पिता उपेक्षित नही थे। मदर कैब्रिनी तथा अन्य सिस्टर खानों में गई और दु:खद परिस्थितियों में काम करने वाले खनिज श्रमिकों को सहायता प्रदान की । शिकागो और फिलाडेल-फिया में अस्पतालों की स्थापना की गई। लॉस एंजल्स में क्षय-रोग का सैनेटोरियम खोला गया । निर्धन घरों और कारावास में इटालियनों की देखभाल की गई। कार्य क्रमशः चलता रहा । २२ दिसम्बर, १६१७ को अपनी मृत्यु पर्यन्त मदर कैब्रिनी ने सड़सठ संस्थाएं स्थापित कर दी थी। १६३१ तक इनकी संख्या अस्सी तक पहुंच चुकी थी। इनमें से दो संस्थाएं चीन में भी खोली गईं । मदर कैब्रिनी की सदा से ही उस देश में कार्य करने की इच्छा थी। १६५४ में इन संस्थाओं की संख्या बढ़कर एक सौ हो गई थी जो विश्व में सब ओर फैली हुई थी। मदर कैब्रिनी के जीवन की तीन प्रमुख विशेषताएं थीं—सादगी, विनम्रता और आज्ञा-पालन । अपने सम्पूर्ण व्यस्त जीवन में उनकी मुद्रा सदैव शान्त रही और उनकी वाणी सदा कोमल और स्थिर थी । जगत की समस्त चिन्ताओं से ग्रस्त रहने पर भी इस प्रकार की अद्भुत शक्ति इस बात की परिचायक थी कि 'परमात्मा से उनका तारतम्य' था । सब व्यक्ति इसे देख सकते थे और अनुभव कर सकते थे। इतना होने पर भी इस महान् नारी सन्त के बारे में लोगों को विशेष जानकारी नहीं है। उनकी कोई रचनाएं नहीं मिलती हैं । डायरी का कुछ भाग और थोड़े से पत्र अवश्य उपलब्ध हैं । उनके पुस्तकालय में 'इमिटेशन आफ क्राइस्ट', सेंट इगनेशियस की 'एक्सरसाइसेज' फादर पिनामोंटी, एक यहूदी लेखक, अल्फोन्सज रोड्रीगेज और सेंट अल्फोन्सज लिगूरी की रचनाएं थी । चूंकि मदर कैब्रिनी किसी आध्या-त्मिक मत-मतान्तर से सम्बन्धित नही थीं और न उनका यह विचार था कि सिस्टर समुदाय को इन सिद्धान्तों में अन्तर्मुख किया जाये, उनकी संस्था में कुछ

महत्त्व-पूर्ण पद्धतियां ही प्रचलित थी। एकान्त स्वाध्याय के अतिरिक्त अनेक सामूहिक प्रार्थनाएं थीं। यद्यपि मिशनरी सिस्टर अथक कार्य के लिए सुविख्यात थी, प्रतिदिन छः घण्टे प्रार्थना और चिन्तन में लगाये जाते थे। मदर कैब्रिनी का यह मत था कि आत्मा की इच्छाओं में कोई बाह्य कार्य बाधक नहीं हो सकता है।

निष्काम भावना से अनुप्रेरित होकर मदर कैब्रिनी सम्पूर्ण कार्यों मे व्यस्त रहते हुए भी ईश्वर-भक्ति में दत्तचित रहती थीं। थोडे-थोड़े अवकाश के पश्चात् वह बारम्बार कार्य में नवीन प्रेरणा से जूझती रहती थी, और समस्याओं के ब्यौरों पर विचार किया करती थी। इस प्रकार की भावना उनके मस्तिष्क में जड़ पकड़ रही थी कि स्थायी रूप से कार्य-निवृत्त होकर प्रार्थना और चिन्तन में पूर्णरूपेण समय दिया जाय। किन्तु इस अभिलाषा की पूर्त्ति नही हुई। एक नन से वार्त्ता के सिलसिले में उन्होंने कहा था—"यदि मै गुप्त भावना का पालने करूं तो मुझे 'वेस्ट पार्क' में समय व्यतीत करना होगा और वहां सब प्रकार के व्यवधान से दूर संस्था के लिए अनेक सुन्दर कार्य करने के लिए समय मिलेगा। किन्तु मुझे लगता है कि परम पिता की अभी ऐसी इच्छा नही है, मै एकान्त जीवन को विस्मृत कर संस्था के कार्यों में संलग्न रहती हूं। इस प्रकार ईश्वर-इच्छा का अनुसरण कर रही हूं और सर्वत्र सड़क पर, गाड़ी में, जहाज पर मैं यह अनुभव करती हूं कि मैं जैसे अपनी कोठरी में स्वाध्याय में लीन हूं। मदर कैब्रिनी ने सम्पूर्ण जीवन इसी कार्य में लगाया कि समस्त प्राणि-जन ईश्वर के ज्ञान प्रेम और भक्ति में संलग्न रहें। एक डायरी पत्र के उपसंहार में उन्होंने अपने चिरन्तन विचार की कितनी सुन्दर अभिव्यक्ति की है—"प्रार्थना, विश्वास और ईश्वर के समक्ष समर्पण ही हमारा लक्ष्य है। हम किसी भी कार्य के लिए असमर्थ हैं किन्तु उस शक्तिदाता से सम्बल प्राप्त कर प्रत्येक कार्य सम्पन्न किया जा सकता है।"

प्रारम्भ से ही मदर कैब्रिनी ने अपने आन्तरिक जीवन को अप्रकट भेद ही रखा, किन्तु अपनी रहस्यात्मक अनुभूतियों को वह कभी भी पूर्ण आवरण में नहीं रख सकीं। चैपल के एक अवसर पर एक सिस्टर उन्हें ऐसी स्थिति में पाती जो सर्वथा आत्म-चेतन की सामान्य अवस्था से निराली होती है। कैब्रिनी के सहयोगियों ने और भी अनेक अनुभूतियों और चमत्कृत कार्यों का वर्णन किया है। लन्दन पहुंचने पर कैब्रिनी ने एक बार 'वर्जिन' का साक्षात्कार किया। इस अनुभव का वर्णन करते हुए कैब्रिनी ने लिखा था—'तत्पश्चात मैंने महामाया वर्जिन से

साक्षात्कार किया । उन्होंने सुन्दर परिधान धारण कर रख थे, बालक ईशु उनके घुटनों पर सुशोभित थे और उनकी मुद्रा इस प्रकार थी मानो वह हम सबकी रक्षा कर रहे हों ।" अनवरत यात्रा के कारण कैब्रिनी का कोई नियमित धर्म-गुरु नहीं था । वह सृष्टा के बारे में निकट सामीप्य और निर्भरता की भावना से ओतप्रोत थीं । एक पत्र में उन्होंने लिखा है—'आत्मा की यह अनुभूति है कि प्रियतम स्वयं ही में निहित है, उससे पृथक् नहीं है। कैब्रिनी उन सन्तों में है जो भक्ति और कार्य में विश्वास रखत हैं। उनके लिए आध्यात्मिकता 'स्फूर्तियुक्त, सशक्त पौरुष सम्पन्न तत्व' है । ये शब्द उनके और संस्था के सब सदस्यों के जीवन का अंग बन गये थे । मिथ्या आचरण, शिकायत और निराशा का उनके जीवन में कोई स्थान नहीं था ।

मदर कैब्रिनी की अद्भुत कार्य-क्षमता का मूल कारण उनका आन्तरिक जीवन था । उन्होंने अपने इस संकल्प के बारे में एक संक्षिप्त नोट बुक में लिखा था—'बाह्य वस्तुएं कितनी भी अच्छी और पवित्र क्यों न हों किन्तु यदि मैं इन्हीं में अन्तर्ग्रस्त रही तो मैं क्षीण और निस्पन्द बन जाऊंगी । बिना प्रार्थना और निद्रा के भी मेरी यही अवस्था होगी । अतः मेरे प्यारे ईशु ! मुझे गहन तन्मयपूर्ण निद्रा प्रदान करो ।' यद्यपि उसे जीवन में अनेक सफलताएं मिलीं, पर उनमें वीतराग और निष्काम तत्व था, उनका हृदय अन्यत्र था । उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—'ईशु की पवित्र भावना से मैं इतनी अभिभूत हूं कि मैं उसका संवरण नहीं कर सकती । चाहे कुछ भी क्यों न हो, मैं अपनी आंखें बन्द कर लूंगी और अपने सिर को ईशु के हृदय से कभी अलग नहीं होने दूंगी ।' साध्वी स्त्रियों को पत्र में सम्बोधित करते हुए उन्होंने एक बार लिखा था—"मेरी पुस्तक मेरे लिए सर्वस्व है और प्रेम तथा सहनशीलता का पाठ पढ़ाने के लिए मैं इसे सदैव अपनी आंखों के सामने रखूंगी । जो सहनशीलता के लिए उद्यत नहीं है उन्हें मिश्नरी कार्य का परित्यग कर देना चाहिए ।" 'सेक्रेड हार्ट' की उपाधि धारण करने वाले व्यक्ति को कंटीला मार्ग देखकर ईशु के हृदय के आस-पास स्थित रहना चाहिए । ईशु के लिए, ईशु के साथ और इस कार्य के लिए स्वयं को पूर्णतः आत्मसात् कर कठिनाइयों का सामना करने में कितना नैसर्गिक आनन्द है ।"

मदर कैब्रिनी ने सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, स्वास्थ्य और सांस्कृतिक विकास सम्बन्धी कार्य अनेक देशों में किये और पर्याप्त ख्याति अर्जित की । इतना होने पर भी वह भगवान् की एक साधारण सरल हृदय भक्त थीं । अपनी

नोट बुक में उन्होंने सीधे ईशु को लिखा है—"जिस क्षण में तुम से अवगत हुई मैं तुम्हारे सौन्दर्य पर रीझ गई और मैंने तुम्हारा अनुगमन किया। जितना अधिक मैं तुम्हें प्यार करती हूं लगता है यह प्रेम उतना ही कम है। मैं तुमसे अधिकतम प्यार करने की आकांक्षा रखती हूं, प्रियतम! वर्तमान स्थिति मेरे लिए असह्य हो गई है। हे प्रभु! मेरे हृदय को विस्तृत करो, और विस्तृत करो! ईशु, प्यार करो, प्यार करो, अपने दुखी भक्त की सहायता करो। अपनी इस दुखी दुल्हन को बाहु-पाश में जकड़ लो····मै तुम्हें प्यार करती हूं, मेरा तुमसे इतना अधिक प्यार है।"

२२ दिसम्बर, १६१७ को कैब्रिनी की शिकागो के कोलम्बस् अस्पताल में मृत्यु हो गई। इस अस्पताल की स्थापना भी कैब्रिनी ने ही की थी। उनकी मृत्यु के तुरन्त उपरान्त बेटिफिकेशन के विसर्जन के कारण का अध्ययन किया गया। ईश्वर-सेवक की वैधिक जांच अथवा प्रक्रिया रोम के चर्च द्वारा दो वर्ष पश्चात् प्रारम्भ की गई। प्रक्रिया प्रारम्भ करने के पूर्व पचास वर्ष की सीमा पार करने के नियम का निरसन करने के सम्बन्ध में पोप के आदेश के परिणाम-स्वरूप ही यह किया गया। आधुनिक इतिहास में इस प्रकार का कोई उदाहरण नहीं है। स्वभावतः यह एक अनहोनी घटना थी। पूरी जांच के पश्चात् जिसमें दो अधिकारियों की उपस्थिति और प्रमाण सहित चमत्कार परिलक्षित किए गए। मदर कैब्रिनी १३ नवम्बर, १६३८ को 'ब्लेसड्' घोषित कर दी गई। वह अमेरिका की प्रथम नागरिक थीं, जिन्हें सरकारी रूप से स्वर्ग में अवस्थित घोषित किया गया। आठ वर्ष पश्चात् इसी आदेश की पुष्टि पर हस्ताक्षर किए गये।

बेटिफिकेशन समारोह में वेटिकन बेसिलिका में कार्डिनिल मुंडीलीन द्वारा 'हाई मास गाया' गया, इन्हीं कार्डिनिल महोदय ने इक्कीस वर्ष पहले मदर कैब्रिनी के समाधि उत्सव को मनाया था। चर्च के इतिहास में यह पहला अवसर था कि एक ही कार्डिनिल ने एक व्यक्ति की समाधि एवं बेटिफिकेशन समारोह को संपन्न कराया हो। बेटिफिकेशन के समय अपने रेडियो भाषण में कार्डिनिल ने कहा था—'जब हम इस क्षीणकाय महिला का स्मरण करते हैं, जिस ने चालीस वर्ष की संक्षिप्त अवधि में चार हजार स्त्रियों को ईशु के सेक्रेड हार्ट के ध्वज के अन्तर्गत समवेत किया, और निर्धनता एवं आत्म-त्याग का जीवन अंगीकार किया, जो मानव-जाति के प्रति स्नेह से ओतप्रोत थी। सुदूर क्षेत्रों में जाकर जिस ने अज्ञात देशों में धर्मोपदेश किया और उन्हें सम्यक् ईसाई एवं कानून सम्बद्ध

नागरिक बनने के लिए प्रेरित किया, अज्ञानी व्यक्तियों को ज्ञान का भान कराया, बीमारों की सुश्रूषा की और इन सब कार्यों के पीछे पुरस्कार अथवा बदले की कोई भावना नहीं थी, तो क्या इसमें कैथॉलिक सम्प्रदाय की वह पुनीत भावना समाविष्ट नहीं है जो एक आधुनिक सन्त द्वारा अपनायी जा सकती है।'

सेंट फ्रांसिस ज़ेवियर कैब्रिनी ने अपने जीवन में एक ऐसी शक्ति उत्पन्न की जिस ने प्रत्येक कार्य में उसका प्रदर्शन किया, अपने सहयोगियों की आत्मा परिवर्तित कर दी, अपने जीवन-काल में सहस्रों व्यक्तियों को आशीर्भाव से सिंचित किया और प्रत्येक वर्ष इस कार्य को जारी रखा। प्रतिदिन के जीवन में ईश्वर केन्द्रित कार्य में अभिव्यक्त प्रार्थना ही उन्होंने मानव जाति को विरासत में दी है।

भाग ४

यहूदी तथा सूफ़ी धर्म की सन्त महिलाएँ

परिच्छेद २७

हेनरीटा शोल्ड

हैनरीटा शोल्ड फिलस्तीन में अस्पतालों और कल्याण-सेवाओं के प्रतिष्ठापक के रूप मे सर्व-विदित हैं। वह 'यूथ अलियाह' संस्था, जो नाजी बर्बरता के शिकार हजारों अनाथ बच्चों की रक्षा के लिए बनाई गई थी, की व्यवस्थापिका एवं प्रशासक थी। यहूदी विचारधारा में उनका सम्पूर्ण कार्य इस रूप में था जिसे एक सन्त ही कर सकता है। उसने ईश्वर और मनुष्यों को स्वयं से भी अधिक प्यार किया और उनके सुधार में ही अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य का उपयोग किया।

उनका जन्म बाल्टीमोर, मैरीलैण्ड अमेरिका में १८६० मे हुआ था। वह नगर के रबी बेंजामिन शोल्ड की सब से बड़ी लड़की थी। उनकी माता का नाम सोफिया था। ईश्वर और मानव जाति के प्रति प्रेम की भावना की विरासत उन्हें अपने माता-पिता से प्राप्त हुई थी, जो आजीवन उनकी भावनाओं और कार्यों का का मूल मंत्र बना रहा। बेंजामिन शोल्ड हंगरी निवासी थे और हैनरीटा के जन्म से एक वर्ष पूर्व वह अपनी युवा पत्नी के साथ अमेरिका आए थे। उनके कोई पुत्र नहीं था अतः रबी शोल्ड ने अपनी सबसे बड़ी लड़की को लड़कों के सदृश ही शिक्षा-दीक्षा प्रदान की। हाई स्कूल की परीक्षा में हैनरीटा शोल्ड ने काफी अंक प्राप्त किए थे। चूंकि पांच लड़कियों के लिए आर्थिक आय सन्तोषजनक नहीं थी अतः उसने अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। चौदह वर्ष तक उसने हाई स्कूल में अध्यापन किया और अनेक अन्य कार्यों में भी भाग लेती रही।

बाल्यावस्था में वह अपने पिता के साथ यूरोप की यात्रा पर गई थी। उसके जीवन पर इस यात्रा का गहरा प्रभाव पड़ा। यहूदी सभ्यता की पुरातन स्मृतियों से परिपूर्ण भाग, उसकी महिमा और संकट में त्रस्त जर्मनी की उसके मस्तिष्क पर अमिट छाप पड़ी और उन्होंने अपने व्यक्तियों के सान्निध्य का अनुभव किया। बाल्टीमोर में अपनी जाति के सदस्यों की त्रुटियों ने उनके हृदय में बेचैनी पैदा कर दी। उन्होंने उनके अधार्मिक जीवन और पड़ोसियों के रीति-रिवाजों की नकल करने की प्रवृत्ति की भर्त्सना की।

हैनरीटा के अमेरिका लौटने के तुरन्त पश्चात् ही उत्प्रवास की समस्या उत्पन्न हो गई। १८८२ में आन्तिनियमित "मई लॉ" ने हजारों यहूदियों को रूस से भागने के लिए विवश कर दिया। इनमें से कई पड़ोस के मैत्रीपूर्ण देशों को चले गए। कुछ अमेरिका की ओर बढ़ गए। थोड़े से व्यक्ति बाल्टीमोर आ बसे, जहां उनको विचित्र रीति-रिवाजों का सामना करना पड़ा। रबी और उनकी पुत्री ने प्रत्येक व्यक्ति के संकट को सहानुभूतिपूर्वक सुना और उन्हें नवीन समाज और वातावरण में स्वीकृत हो जाने में सहायता प्रदान की। हैनरीटा ने उन्हें अमरीकी जीवन के अनुरूप ढालने में पूर्ण सहायता की। उसने एक दूकान का ऊपरी कमरा लिया और रात्रि पाठशाला प्रारम्भ की। चार वर्ष पश्चात् जब उस रूसी पाठशाला को बाल्टीमोर शिक्षा अधिकारियों ने संभाला तो उसमें पांच हजार बच्चे पढ़ते थे।

उन परित्यक्त रूसी निवासियों के साथ उन्हें जो अनुभव हुए उन्होंने हैनरीटा को यहूदी इतिहास का पुनर्मूल्यांकन करने के लिए विवश कर दिया। ज़ार की सरकार ने यहूदियों को अवनत करने का प्रयत्न नहीं किया किन्तु छोटे अथवा बड़े परिमाण में सर्वत्र प्रताड़ना और कष्टमय जीवन की झांकी देखी जा सकती थी। यदि आज उनकी मातृभूमि होती तो उन्हें पुनः पुरातन गौरव मिल सकता था। हैनरीटा इस बात के लिए प्रयत्न कर रही थी कि इजराइल पुनः उसकी धरती को सौंप दिया जाए, वह ज्योनिज़्म धर्म में परिवर्तित हो गई, क्योंकि "मुझे यह अनुभव हुआ कि केवल ऐसा करने पर ही मेरे आहत, त्रस्त और रक्तमय राष्ट्र को शान्ति मिल सकती है इस एक आदर्श से—जो दूसरों द्वारा आरोपित किया गया है, पर जिसे सभी अपना सकते हैं, भले ही यहूदी-सम्बन्धी अन्य प्रश्नों के प्रति उनके विचार कुछ भी हों।

३३ वर्ष की आयु में उन्होंने अध्यापन-कार्य छोड़ दिया और अमेरिका में फिलडेल-फिया की यहूदी प्रकाशन संस्था के साहित्यक सचिव का कार्य भार संभाला। इस पद पर उन्होंने २३ वर्ष तक कार्य किया। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का भली प्रकार निष्पादन करने की दृष्टि से उन्होंने अमेरिका की थियोलोजिकल सेमिनरी में अध्ययन किया। यह स्मरणीय है कि इस सेमिनरी में आज तक कभी किसी महिला को प्रवेश नहीं मिला था। एक नारी तालमद का अध्ययन कर रही थी—यह वस्तुतः विचित्र घटना थी। हैनरीटा एक सहानुभूति-पूर्ण श्रोता और परामर्श-दाता थी। उन्होंने 'ज्यूइश इन्साइक्लोपीडिया' और अन्य गम्भीर पत्रों में लेख लिखे। १८९३ में शिकागो में धर्म की विश्व पार्लियामेण्ट में दो भाषण देने के लिए आमंत्रित कर उनका सम्मान किया गया।

प्रतिदिन वह चौदह से सोलह घंटे काम करती थी। हर वर्ष यही क्रम चलता रहा। आखिर वह बीमार हो गई और डाक्टरों ने उन्हें विश्राम करने की सलाह दी। स्वास्थ्य शनैः शनैः लौटा और प्रकाशन संस्था ने हैनरीटा की सेवाओं के सम्मान स्वरूप उनके लिए समुद्रीय यात्रा का पूरा खर्च उठाया। यह यात्रा यूरोप और फिलस्तीन की थी। अपने पूर्वजों की भूमि के दर्शनों की उनकी चिर उत्कण्ठा थी। इस उद्देश्य की पूर्ति से उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्हें उस समय इसका तनिक भी आभास नहीं था कि वह इज़राइल के पुनर्जीवन और विकास का नया इतिहास निर्माण करेंगी।

१६०६ में जब हैनरीटा फिलस्तीन गई तो वह सभ्यता का अवशेष मात्र था। वह ओटोमन साम्राज्य का अंग था और एक निरंकुश सुल्तान वहां शासन कर रहा था। उसके अधिकारी भ्रष्ट और कर्तव्य-च्युत थे। वह ऊंचे-ऊंचे कर और घूस लेकर अपनी आय बढ़ा रहे थे। भूमि ऊसर और बंजर थी। वहां के निवासी निर्धन तथा निराश थे। वहां बसने वालों को अनुर्वर भूमि के अतिरिक्त प्लेग और रोगों का भी सामना करना पड़ रहा था। वहां के बच्चों की संकटापन्न स्थिति देख कर हैनरीटा के हृदय पर गहरी चोट लगी। तिबेरिया के रेतीले क्षेत्र में जाते हुए उसने और उसकी माता ने वहां बच्चों की अस्त स्थिति देखी, जिनकी गहरी भूरी आंखें बीमारियों का घर हो रही थीं। सिफलिस से वह बच्चे अन्धावस्था को प्राप्त हो रहे थे। सफाई की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। बाल-मृत्यु की संख्या पराकाष्ठा पर थी।

उस समय हैनरीटा की आयु उनचास वर्ष की थी। उसने सम्पूर्ण फिलस्तीन के लिए—जिसमें यहूदी और अरब बिना किसी भेदभाव के शामिल थे, स्वास्थ्य और सामाजिक कल्याण-सेवाओं के लिए एक आन्दोलन का सूत्रपात किया। यदि वह एक स्कूल में सफल हो सकता था तो कोई सन्देह नहीं कि यह योजना हर स्थान पर सफल हो सकती है। यह कार्य इतना सरल नहीं था। अमेरिका लौटने पर उनके स्वास्थ्य में सुधार हुआ और उन्होंने पूरी तन्मयता के साथ स्वयं को इस कार्य में लगा दिया।

उन दिनों 'न्यूयार्क' में कुछ ज्योनिस्ट स्त्रियों ने महारानी ईस्थर के नाम से एक संस्था स्थापित कर रखी थी। इसका उद्देश्य ज्योनिस्ट प्रयत्नों को सहायता प्रदान करना था। यद्यपि संस्था का मूल उद्देश्य साहित्यिक कार्य-कलाप था। हैनरीटा ने इस संस्था को अपने कार्य से परिचित कराया। उसने इतने प्रभाव-शाली ढंग से अपने कार्य का वर्णन किया कि उसे तुरन्त ही संस्था का समर्थन

प्राप्त हो गया। अब "हडमाह" के नाम से यह संस्था कार्य करने लगी है। पचास वर्ष की आयु में संस्था के कार्य के लिए धन-संचय करना हैनरीटा के लिए कोई आसान बात नहीं थी। वह अमेरिका के सब भागों में घूमी। अनेक सभाओं में भाषण दिए। उसकी शैली एक कॉलिज के प्रोफेसर की भांति थी। वह माधुर्य से युक्त वक्ता तो नहीं थी किन्तु उसके बोलने का ढंग प्रभावशाली था। कभी-कभी वह अपने भाषण के दौरान में रंगीन स्लाइडों का रोशनी की सहायता से प्रदर्शन करती थी।

फिलस्तीन के अनेक भागों से भावपरिपूर्ण अपीलें हैनरीटा को मिली और १९१३ में उसने वहां कुछ प्रशिक्षित नर्सें भेजीं। वह स्वयं अमेरिका में ही रही ताकि धन-संचय होता रहे और इस कार्य को बढ़ाया जा सके।

१९१६ में हैनरीटा की माता मर गई। मृत्यु के अन्तिम महीनों में हैनरीटा न अपनी माता की पर्याप्त सुश्रुषा की और अन्त तक उसके साथ प्रार्थना करती रही। हैनरीटा की आयु इस समय लगभग साठ वर्ष की थी। उसके चिकित्सकों ने परामर्श दिया कि वह इतना कठिन कार्य न करे क्योंकि उसका हृदय थकावट अनुभव कर रहा था और स्वास्थ्य गिर रहा था किन्तु हैनरीटा अपने कार्य मे लगी रही। यद्यपि अब उसके कार्य की गति कुछ धीमी हो गई थी। उसी वर्ष वह फिल-स्तीन के लिए रवाना हो गई। उस समय उसमें युवा व्यक्ति के समान साहस था। वह प्रारम्भ में दो वर्ष के लिए गई थी किन्तु मृत्यु-पर्यन्त सत्ताईस वर्ष तक वहां रही। इस अवधि में उसने फिलस्तीन मे सामाजिक स्वास्थ्य सेवाओं के विकास एवं पर्यवेक्षण का काम किया। हजारों बच्चो को यातना के स्थानों से लाकर उनके पुनर्वास एवं शिक्षा की व्यवस्था की।

प्रथम महायुद्ध से फिलस्तीन-वासियों को अकथनीय कठिनाईयो का सामना करना पड़ा। इसी संकटमय स्थिति में हैनरीटा शोल्ड फिलिस्तीन आ पहुंची। उसने तुरन्त ही दरिद्रता और बीमारी से त्रस्त लोगों के लिए चिकित्सा-सहायता और पोषण का प्रबन्ध किया। उसी क प्रयत्न स्वरूप फिलस्तीन युद्ध के दौरान में महामारी से बच गया। किन्तु यह कार्य इतना व्यापक और विशाल बन गया था कि अब इस सब की पूर्ति करना दुष्कर था।

अमेरिका म जो धन प्राप्त हो रहा था, वह अपर्याप्त था। १९२० में वहां लगभग चार सौ डाक्टर और नर्सें काम कर रही थीं। धन का घोर अभाव था। फिलस्तीन की लड़कियां अमेरिकी नर्सों की भांति अपने काम के प्रति इतनी दक्ष और अनुशासन-बद्ध नहीं थीं। प्राय: वह मरीजों को बगैर ध्यान दिए छोड़

कर चली जाती थीं। हैनरीटा ने धैर्य से काम लेकर उनमें अनुशासन की भावना उत्पन्न की। एक कठिनाई यह भी थी कि इस समय हिब्रू भाषा में नर्सिंग-सम्बन्धी कोई पाठ्य-पुस्तक नहीं थी।

जाफ्फा से प्रति सप्ताह तीन सौ व्यक्ति आ रहे थे और उनमें से कई मलेरिया से पीड़ित हो गए। हैनरीटा ने पूर्ण नियोजन द्वारा रोग की भीषणता का सामना किया और कभी एक क्षण के लिए भी निराश नहीं हुई। वहां सड़कें नहीं थीं अतः हैनरीटा एक गाड़ी में अथवा गधे की पीठ पर बैठ कर देश के अनेक भागों में घूमी। एक पत्र में उन्होंने लिखा था—"यह लोग आदिम स्थिति में जीवन व्यतीत कर रहे हैं। वह जीवन के प्राथमिक सिद्धान्तों से जूझ रहे हैं। मैं उनके जीवन की दशाएं सुधारने के लिए पूर्णतः प्रयत्नशील हूं।" संगठन और सुधार कार्य में उसकी स्वभाविक प्रवृति थी। इस पुरातन भूमि का पुनर्निर्माण करने में लगे हुए व्यक्तियों के प्रति उसकी अटूट श्रद्धा थी।

हैनरीटा ने एकता उत्पन्न की, बजट को संतुलित रूप प्रदान किया और स्कूलों में आधुनिक पद्धति का विकास किया। प्रत्येक व्यक्ति ने उसके अथक परिश्रम और निष्ठाजनक कार्य के लिए उसका सम्मान किया। उसने स्कूलों में भोजन की व्यवस्था प्रारम्भ की और इस बात का प्रयत्न किया कि बच्चों को दिन में कम से कम एक बार अच्छा भोजन मिल सके। १९२९ में उसने जेरुसलम में एक स्वास्थ्य केन्द्र की स्थापना की और तेलअवीव में एक आधुनिक अस्पताल बनाया। इस प्रकार हैनरीटा ने स्वास्थ्य और शिक्षा के दोनों कार्य एक साथ सफलता-पूर्वक सम्पन्न किए।

भूमि को कृषि योग्य बनाने के लिए हैनरीटा उद्यत थी। वह उस बात से पूर्ण अवगत थी कि फिलस्तीन की प्रमुख समस्या दान की व्यवस्था नहीं प्रत्युत उस देश का निर्माण करना है, उसमें एक आत्मा का प्रतिष्ठापन करना है। वह नेशनल एसेम्बली की सदस्या हो गई और उसने इस नए कार्य का प्रारम्भ किया।

पचहत्तर वर्ष की अवस्था में जब अधिकांश व्यक्ति अर्ध-सक्रिय जीवन व्यतीत करने लगते हैं। हैनरीटा ने एक नवीन कार्य का आरम्भ किया। यह नाजी अत्याचार का युग था। हिटलर के अत्याचारों से साठ लाख स्त्री-पुरुष और बच्चे मर गये थे। बच्चों को फिलस्तीन भेजने के लिए १९३४ में संगठन की स्थापना की गई और लगभग पाँच हजार बच्चे वहां भेजे गये। हैनरीटा इन सब बच्चों की माता बनने को सहमत थी। उसने यह गुरुतर उत्तरदायित्व संभाला। 'यह सब मेरे बच्चे हैं' वह विभोर होकर कह उठीं।

फरवरी, १९३४ में बच्चों का पहला दल आया। उसकी उपस्थिति से बच्चों में विश्वास और आशा की नयी किरण उत्पन्न हुई और किसी प्रकार माता-पिता की जुदाई से आकर नए वातावरण में बच्चों ने स्वयं को परिचित किया। इस कार्य की गति तेज़ होती गई और अधिक संख्या में बच्चे आने लगे।

अब सम्पूर्ण विश्व में नाज़ी अत्याचारों को लोग जान गए थे। हैनरीटा को इस दयापूर्ण कार्य को जारी रखने के लिए सब ओर से सहायता प्राप्त होने लगी। यहूदी जाति की उत्कट निराशा देख कर उसने निश्चय कर लिया कि वह ईश्वर द्वारा प्रदत्त सम्पूर्ण शक्ति के साथ आजीवन उनके सुधार कार्य में संलग्न रहेगी। निर्दोष बच्चों की देखभाल के लिए वह पूर्ण रूप से उत्तरदायी थी।

बाद के वर्षों में वहाँ दुनिया के सब भागों से ६० हज़ार से भी अधिक बच्चे आए। इन सबकी शिक्षा और पुनर्वास की व्यवस्था की गई। उन्हें उपयोगी व्यावसायिक प्रशिक्षण प्रदान किया गया और अन्ततः वे उपयोगी नागरिक बन सके। यह सब कार्य अकेले व्यक्ति का नहीं था। हैनरीटा ने अनेक स्त्री और पुरुषों का एक दल तैयार किया, उसे नवीन श्रद्धा और आस्था से पूरित किया और तब ईश्वर और मानव जाति के प्रति नवीन भावना से अनुप्राणित होकर उन सब ने यह कार्य प्रारम्भ किया।

जीवन की अन्तिम अवस्था तक वह बच्चों के लिए नवीन गृह का संचालन करती रहीं। माता की भांति रात्रि को खाट पर बैठ कर वह बच्चों की बाते सुनती थीं। उन्होंने बाल ग्राम की स्थापना की और बच्चों को बुनना, कातना तथा रंगना सिखाया। वह इस कहावत का एक रूप बन गई थी—'वह साठ हज़ार बच्चों की माता थीं।'

अपने जीवनकाल में हडसाह यूनीवर्सिटी मेडिकल सेंटर की १९३९ में स्थापना का श्रेय हैनरीटा को प्राप्त हुआ। यह विश्व में निदान एवं गवेषणा का सब से बड़ा केन्द्र था। उसी समय ३५० नर्सों के लिए पहला 'नर्सिंग स्कूल' खोला गया। स्कूल के साथ हैनरीटा का नाम जुड़ा हुआ था। लगभग पचास शिशु रक्षा और पूर्व गर्भावस्था केन्द्र भी स्थापित किए जा चुके थे। मानव की मानव के प्रति निर्ममता से त्रस्त व्यक्तियों को शांति एवं राहत प्रदान करने में प्रशिक्षित नर्सों को कार्य में संलग्न देखने का सौभाग्य भी हैनरीटा को अपने जीवन काल में प्राप्त हुआ। भगवान् ने अत्यन्त कृपा-पूर्वक उसे बच्चों की सेवा करने का अलभ्य अवसर प्रदान किया। "मैं प्रसन्न हूं" यह हैनरीटा के अन्तिम शब्द थे।

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है—"जो भला करने की कामना करता है वह दरवाजा खटखटाता रहता है, जो प्रेम करता है उसके लिए द्वार खुले हैं।"

हैनरीटा शोल्ड को सेवा और भलाई से अनुराग था। उसने स्त्री, पुरुष और बच्चों की सेवा में अपने जीवन के साठ वर्ष लगा दिए। हैनरीटा ने संकीर्ण वृत्ति, अज्ञान, अमानवीयता, रोग और प्रताड़ना तथा नारी जाति के प्रति संकुचित प्रवृत्ति स संघर्ष किया और उन पर विजय प्राप्त की।

"वह सदैव कष्ट, भय, रक्तपात
और दुःखों से जूझने के लिए तत्पर
रहती थीं। उन्हें सदैव कीर्ति मिली
क्योंकि मानव जीवन की सर्वोच्च शक्ति
का उन्होंने सदैव सेवा कार्य में उपयोग किया।"

चौरासी वर्ष की आयु में हैनरीटा अपने स्रष्टा में आत्मसात् हो गई। उनके श्रममय जीवन का यह उपयुक्त परिणाम था कि वह सदैव प्रेम और सम्मान प्राप्त करती रहीं।

यहूदी धर्म अपने अनुयायियों को सन्त का विशेषण प्रदान नहीं करता है अन्यथा हैनरीटा भी आज एक यहूदी नारी सन्त के रूप में प्रसिद्ध होतीं। वह मर चुकी हैं किन्तु फिर भी अवशिष्ट हैं। अदृश्य जगत से वह आज भी बोल रही हैं। हैनरीटा के स्मरण से आशीर्वाद और प्रेरणा की अनुभूति होती है। उनका कार्य चिरन्तन हैं।

परिच्छेद २८

रबिया

(रबिया के जीवन की एक संक्षिप्त झांकी)

रबिया अदी जाति से सम्बद्ध होने के कारण रबिया अल-अदाविया के नाम से सुप्रसिद्ध है। उन्हें रबिया अल-बसरिया के नाम से भी पुकारा जाता है। इसका कारण यह है कि उनका जन्म बसरा (इराक) में ईसा की मृत्यु के ७१७ वर्ष पश्चात् हुआ था। उनके माता-पिता अत्यन्त निर्धन थे किन्तु थे धार्मिक भावना से परिपूर्ण। उनके तीन पुत्रियां पहले ही थीं अतः इसका नाम रबिया अर्थात् 'चतुर्थ' रखा गया। छोटी आयु में ही रबिया के माता-पिता की मृत्यु हो गई। कुछ समय पश्चात् बसरा में अकाल पड़ा और रबिया अपनी बहनों से जुदा हो गई। निर्धन एवं असहाय अवस्था में वह जब एक दिन सड़कों पर अकेली घूम रही थी, एक दुष्ट लड़के ने उसे पकड़ लिया और थोड़ी-सी रकम में उसे गुलाम के रूप में बेच दिया। उसका स्वामी एक क्रूर व्यक्ति था। रबिया को अत्यन्त कठोर काम करना पड़ता था। किन्तु इन दुर्घटनाओं और कठिनाइयों की अनवरत शृंखला से रबिया के साहस, गहन निष्ठा, उसकी तेजस्वी आत्मा, विशुद्ध हृदय, अथक स्फूर्ति, स्थिर और दृढ़ संकल्प पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा। गुलामी की भयावह और निर्मम यातना में भी उसने कभी एक क्षण के लिए भी धैर्य नहीं खोया। भविष्य आशावादिता में कभी उसकी आस्था कम नहीं हुई। परमात्मा से शाश्वत सम्मिलन और दैवी एवं पूर्ण जीवन के प्रति उसके विश्वास में कभी क्षीणता नहीं आने पाई। प्रतिदिन कठिन कार्य में संलग्न रहने पर भी वह दिन भर उपवास रखती थी। सारी रात निर्बाध रूप से भगवद् भक्ति में लीन रहती थी। एक रात जब वह भगवान् की भक्ति में आत्म-विस्मृत थी और दिन और रात्रि में निर्बन्ध होकर भगवान् की भक्ति न कर पा सकने के लिए सन्ताप कर रही थी कि उसके स्वामी की नींद खुल गई। उसे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि रबिया के सिर पर एक दीपक लटक रहा है। दीपक पर किसी प्रकार की जंजीर आदि का सहारा नहीं था। सारा घर उससे प्रकाशित होकर जगमगा रहा था। इस बिलक्षण दृश्य से प्रभावित होकर उसने दूसरे दिन प्रातःकाल ही रबिया को दासता के जीवन से मुक्त कर दिया। तत्पश्चात् वह रेगिस्तानी क्षेत्र में साधु का जीवन व्यतीत करने चली गई। कुछ समय बाद वह

बसरा लौट आई, वहां एक आश्रम स्थापित किया और एक भक्त की भांति धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगी।

तुरन्त ही रबिया की ख्याति सन्त के रूप में सुदूर क्षेत्रों में फैलने लगी। तत्कालीन अनेक धनी एवं सुप्रसिद्ध व्यक्तियों ने रबिया के समक्ष विवाह के प्रस्ताव रखे किन्तु उसने सब प्रस्ताव अस्वीकार कर दिए और ब्रह्मचर्यपूर्वक पवित्र जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। उसने यह निश्चय कर लिया कि वह केवल ईश्वर-भक्ति और पूजा-अराधना में ही जीवन व्यतीत करेगी। जब एक अत्यन्त धनी व्यक्ति -बसरा के गवर्नर मुहम्मद सुलेमान ने शाही दहेज का प्रस्ताव रखा। तो रबिया ने घृणापूर्वक अस्वीकृत कर दिया। उसने कहा—"ईश्वर-भक्ति से मुझे एक क्षण के लिए भी विरत न करो, ईश्वर मुझे वह सब दे सकता है जो तुम दे रहे हो, वह इससे दुगनी सम्पदा दे सकता है।" इसी प्रकार एक अन्य सुविख्यात धर्मोपदेशक अब्द गईद, जो बसरा के निकट प्रथम मठ का अधिष्ठाता था, के प्रस्ताव को भी रबिया ने उसी घृणा के साथ अस्वीकृत कर दिया।

इस प्रकार सम्पूर्ण भौतिक लोभ-लालच से मुक्त होकर रबिया ने अनवरत भक्ति और धर्म-शिक्षा का जीवन व्यतीत किया।

प्रारम्भिक काल के सूफी सन्तों में उनकी गणना प्रमुख रूप से की जाती है। उनके उपदेशों को सुनने के लिए दिन रात शिष्यों की भीड़ लगी रहती थी। उनकी प्रार्थना-सभाओं में सम्मिलित होने एवं आध्यात्मिक मामलों में पथ-प्रदर्शन के लिए रबिया के पास सदैव लोगों का तांता लगा रहता था। किवदन्तियों के अनुसार अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों से उसका सम्बन्ध था। इन सबका पुष्टिकरण तो कठिन है किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि रबिया की शिक्षाओं से उस समय के अनेक साधुओं और विद्वानों ने लाभ उठाया और नारी होते हुए भी उन लोगों ने उसे उपदेशक और धार्मिक पथ-प्रदर्शक के रूप में मान्यता प्रदान की। रबिया ने सदैव स्वयं को ईश्वर का एक विनम्र सेवक माना तथा कभी भी उपदेशक या नेता के रूप में माने जाने का दम्भ नहीं किया। अकिंचन सेवक के रूप में उसने दूसरों की सहायता करने के व्रत का पालन किया और अपनी सामर्थ्य के अनुसार दूसरों की सहायता करने का भरसक प्रयत्न भी किया। ईश्वर की ओर से अथवा ईश्वर और प्राणी के माध्यम के रूप में मध्यस्थ बनने का कभी प्रयत्न नहीं किया। एक बार जब एक व्यक्ति ने उसकी ओर से रबिया से प्रार्थना करने के लिए कहा तो उसने तुरन्त उत्तर दिया—"मैं कौन हूं ईश्वर से प्रार्थना करो और उसकी आज्ञा का पालन करो। प्रार्थना करने पर ईश्वर अवश्य ही फल प्रदान करेगा।"

एक कट्टर सूफी के रूप में रबिया ने न केवल धर्ममय जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी किन्तु स्वयं अपना जीवन भी उसी प्रकार कट्टर धार्मिकता के अनुसार बिताया। यही कारण है कि उनका जीवन विशुद्धता, निस्वार्थता और आत्म-बलिदान के रूप में आज भी हमारे सामने प्रेरणा के रूप मे प्रस्तुत है। जिस प्रकार उन्होंने ब्रह्मचर्य-पूर्वक जीवन व्यतीत किया उसी प्रकार जान-बूझ कर घोर निर्धनता एवं पूर्ण सादगी एवं मितव्ययता के सिद्धान्तों का भी पालन किया। अपने प्रारम्भिक जीवन में उन्होंने असह्य दासता का जीवन व्यतीत किया था, बाद में महान् संत के रूप में ख्याति अर्जित की और अनेक धनी एव समृद्ध और प्रभावशाली व्यक्ति आर्थिक सहायता देने के लिए तैयार थे। किन्तु रबिया न कभी किसी परिस्थिति में कोई सहायता की भीख नही मागी। कई मित्रों ने इस पर रोष प्रकट किया तब रबिया ने यह प्रभावशाली उत्तर दिया—"सम्पूर्ण चराचर का जो स्वामी है, उससे भौतिक वस्तुएं मांगने मे मुझे लज्जा अनुभव होती है, इसलिए जिन व्यक्तियों का इन वस्तुओं से कोई सम्बन्ध ही नही है, उनसे मैं क्या मांगू।"

रबिया ने अनुशासन-बद्ध सादगी और धर्मपरायणता का जीवन श्रम द्वारा ही सीखा था। उनकी जीवनी के लब्ध प्रतिष्ठ लेखक अत्तार ने एक अत्यन्त रोचक घटना का वर्णन इस प्रकार किया है—"एक बार रबिया ने पूरा सप्ताह बिना भोजन खाये, पानी पिए और बिना सोये प्रार्थना में व्यतीत किया। तब उन्हें तेज भूख लगी। किसी ने एक प्याले में उन्हें भोजन परोसा। उसी समय कही से बिल्ली ने आकर प्याला उलट दिया। रबिया ने जल पीने का प्रयत्न किया किन्तु सुराही उनके हाथ से गिर गई और चूर-चूर हो गई। भूख असह्य हो उठी। वह ईश्वर को निर्ममता के लिए कोसने लगी और विलाप कर रही थी कि दैवी स्वर ने रबिया को स्मरण कराया कि ईश्वर को प्राप्त करने की अभिलाषा और भौतिक वस्तुओं की कामना कभी एक साथ नहीं रह सकती है। रबिया का मन आत्म-ग्लानि से भर गया और उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि वह सांसारिक इच्छाओं पर संयम रख कर प्रत्येक परिस्थिति में स्वयं पर नियंत्रण रखेगी। इस दृढ़ संकल्प का उन्होंने इतनी सरलतापूर्वक पालन किया कि बाद में शारीरिक चोट और कष्ट का उन पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। एक बार उनके सिर में चोट लगी और जोर से रक्त प्रवाह होने लगा किन्तु फिर भी उन्हें दर्द की अनुभूति नहीं हुई। उनके मित्रों ने आश्चर्य प्रगट किया। रबिया ने सरलता-पूर्वक उत्तर दिया—"ईश्वर ने मेरा भौतिक वस्तुओं के अतिरिक्त किन्हीं अन्य वस्तुओं से नेह लगा दिया है।"

ईसा की मृत्यु के ८०१ वर्ष पश्चात् रबिया ने इहलीला समाप्त की। उन्हें बसरा में दफनाया गया। उनका अन्तिम काल प्रार्थना और ईश्वर-भक्ति में बीता, जो उनके भक्तिमय जीवन के अनुरूप ही था। शान्त और निर्भीक रबिया ने स्वयं को प्रियतम के समक्ष समर्पण कर दिया। उनकी आत्मा परमात्मा में विलीन हो गई। उनकी जीवनी लेखकों के अनुसार अन्तिम समय में उनके ये शब्द गूंज रहे थे—"परम आत्मा में लीन हो जाओ, उसी से सन्तोष प्राप्त करो, उसे ही सन्तोष प्रदान करो।" रबिया के कथानुसार—"मृत्यु एक पुल की भांति है, जहां प्रिय और प्रियतमा का संगम होना है।"

यह संक्षिप्त वृत्तान्त किंवदन्तियों पर आधारित है। किन्तु महान् सन्त की इस संक्षिप्त जीवन-गाथा से हमें उनके महान् व्यक्तित्व, सम्मोहक, उनकी माधुर्य, पवित्र दिव्यात्मा, माधुर्य तथा साधुता और अकृत्रिमता से ओतप्रोत आत्मा की झलक मिलती है। प्रारम्भिक जीवन में उन्हें सामान्य शिक्षा का अध्ययन करने का भी अवसर नहीं मिला और बाद में भी किसी शेख अथवा धार्मिक उपदेशक से विधिपूर्वक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। किन्तु भगवान् जब किसी व्यक्ति पर कृपालु हो तो भला उसे उनके समागम से कौन रोक सकता है? रबिया के साथ भी यही बात थी। उनकी गणना संसार की महान् संत नारियों में की जाती है। किसी पाठशाला में शिक्षण न प्राप्त करके भी उन्होंने स्वयं ही सीधे ईश्वर से सान्निध्य स्थापित किया था। गुलामी और रेतीले क्षेत्र में भी, व्यस्त नगर में निर्धनता से ग्रस्त जीवन में भी, वह उन्नत आध्यात्मिक जीवन के लिए आबद्ध थी। रबिया का जीवन समस्त नारी समुदाय के लिए इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि निष्ठा और लगन होने पर आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त की जा सकती है।

रबिया के उपदेश

जैसा पहले बताया गया है रबिया प्रारम्भिक सूफी सन्तों में अग्रणी है। ईसा की मृत्यु के पश्चात् (७६७–८१५ के बीच) इब्राहीम इब्न आधम, तभी के अबू अली शकीक दाऊद और फदाय-अयद इत्यादि सन्तों में वह प्रमुख थी।

प्रारम्भिक सूफी सम्प्रदाय दार्शनिक पद्धति का नहीं था, अपितु वह एक प्रकार की नैतिक व्यवस्था थी। अर्थात् उसमें ईश्वर, आत्मा, मुक्ति, ईश्वर में विलय इत्यादि विषयों के बारे में चर्चा नहीं है किन्तु ईश्वर-प्राप्ति के लिए कुछ व्यावहारिक अनुदेश दिए गए हैं। इस प्रकार प्रारम्भिक सूफी सम्प्रदाय एक व्यावहारिक धर्म और जीवन की एक विधि के रूप में है। जूनियद ने उसे अपनी प्रसिद्ध उक्ति में

इस प्रकार बताया है—"जीवन से अवकाश प्राप्त करने और जिस उपवास करने को, जन-साधारण अच्छा कहते हैं उसका परित्याग कर परिचित सम्बन्धों का परित्याग करने में ही सूफ़ी सम्प्रदाय की उत्पत्ति है।"

अत: प्रारम्भिक सूफ़ी विचारधारा के दो प्रमुख लक्षण आस्तिकता और शान्ति हैं। पहले का अभिप्राय आत्म-शुद्धि और प्रायश्चित्त-पूर्ण जीवन है। प्रारम्भिक अनुयायी, पाप, निर्णय-दिवस, नरक और ईश्वर को एक कठोर निर्णायक रूप में तथा न्याय प्रदाता की भांति मान कर कुरान में वर्णित शिक्षाओं पर ही अधिक जोर देकर, मानते थे। अत: दण्ड और प्रज्वलित नरक के भय से उन्होंने सांसारिक जीवन का सम्पूर्ण रूप से परित्याग कर दिया तथा कठोर सादगी और शारीरिक विशुद्धता का जीवन अपनाया। सूफी अनुयायियों का यह जीवन स्वार्थमय नहीं था। वह स्वर्ग प्राप्ति अथवा मुक्ति की भावना से आबद्ध नहीं था किन्तु उसका लक्ष्य ईश्वर के साथ पूर्ण साक्षात्कार करना था। सूफी अनुयायियों का केन्द्र बिन्दु बाह्य आचरण की ओर न होकर आन्तरिक भावना थी। मितव्ययता और संयम का अभिप्राय मात्र भौतिक वस्तुओं से मनाही नहीं थी अपितु सांसारिक इच्छाओं से दूर रहना था—'हाथ ही रिक्त न हो किन्तु हृदय भी रिक्त हो।' सूफी कट्टरपन्थी साधु ही नहीं थे किन्तु वे निष्ठाजनक भक्त थे। वे सर्वथा शान्तिचित्त निर्विघ्न शान्ति के साथ ईश्वर की आराधना में विश्वास रखते थे। आध्यात्मिक पूर्णता का मार्ग ईश्वर की इच्छानुसार उत्सर्ग करने में ही है। ईश्वर की भक्ति द्वारा ही सीधे साक्षात्कार किया जा सकता है। सूफी केवल जहीद और फकीर ही नहीं थे परन्तु रहस्यवादी सन्त थे। सुहरावर्दी ने कहा है—"सूफी मत न फकीरी है और न जहीदी, परन्तु इन दोनों के सम्मिश्रण के साथ उसमें कुछ और भी है। इन गुणों के अभाव में एक व्यक्ति जहीद अथवा फ़कीर हो सकता है, सूफी कदापि नहीं।"

रबिया ने भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए एक व्यावहारिक मार्ग प्रशस्त किया है। ईश्वर आत्मा के स्वरूप और दोनों के संगम के बारे में चिन्तन की अपेक्षा क्रियान्वित मार्ग में ही उनका विश्वास था। उनके लिए वही एक परम सत्य था। यह एक ऐसा सत्य है जिसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। आत्मा की परमात्मा से विलय की परम अभिलाषा भी एक महान् सत्य है। अत: असन्दिग्ध सत्य के बारे में चिन्तन में समय न गंवा कर रबिया ने क्रमिक अवस्थाओं में एक नैतिक मार्ग प्रशस्त किया। केवल इस मार्ग को अपनाने से ही ईश्वर का साक्षात्कार कर उसे प्राप्त किया जा सकता है।

इस पद्धति में तीन मुख्य अवस्थाएं हैं—प्रायश्चित्त, धैर्य कृतज्ञता, आशा और भय,

स्वैच्छिक निर्धनता, निष्ठा, ईश्वर पर पूर्ण निर्भरता और अन्त में प्रेम—ऐसा प्रेम जिसमें प्रियतम के मिलने की तीव्र उत्कण्ठा, घनिष्ठता और सन्तोष निहित है। अन्य सूफीवादियों ने भी इसी प्रकार के सिद्धान्त बताए हैं।

(१) **प्रायश्चित्त**—यह नैतिकता की ओर की प्रथम सीढ़ी है। सांसारिक बन्धनों से मुक्ति कराने में यह सहायक है। नैतिकतापूर्ण जीवन और आत्मिक विकास के लिए पाप और त्रुटियों का बोध एवं प्रायश्चित्त आवश्यक है। ऐसा करने पर ही जीवन में नया मोड़ उत्पन्न हो सकता है। इसलिए सूफी धर्म के अनुयायी प्रायश्चित्त को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। सुप्रसिद्ध सूफी धुल नन अल-मिस्री ने प्रायश्चित्त का विशद वर्गीकरण किया है। जन साधारण, सूफी और सन्त के प्रायश्चित्त में भेद है। सामान्य जन अपने ही कृत्यों के लिए प्रायश्चित्त करता है, सूफी इस बात के लिए प्रायश्चित्त करता है कि उसने धार्मिक कार्यों को पूरा नहीं किया और सन्त अपनी अपूर्णता के लिए प्रायश्चित्त करता है। कुछ व्यक्ति इसलिए प्रायश्चित्त करते हैं कि वह ईश्वर को भय के रूप में, एक सर्वोच्च शक्ति-सम्पन्न महिमामय रूप में मानते हैं और ईश्वर की अनन्त कमनीयता एवं सौन्दर्य का ज्ञान होने पर तथा लज्जा अनुभव होने पर उनके प्रायश्चित्त की सृष्टि होती है। प्रथम अवस्था व्यक्ति को केवल गम्भीर बनाती है, दूसरी में वह आत्मविस्मृत हो जाता है। सूफी मत के अनुसार दूसरी अवस्था समुन्नत प्रकार का प्रायश्चित्त है।

रबिया के उपदेशों में प्रायश्चित्त का यही पवित्र रूप परिलक्षित होता है। अपने दोषों के लिए सदा दुःखी रहने पर भी रबिया के हृदय में स्वार्थ की भावना नहीं थी। उचित दंड से पलायन करने की भावना से रबिया ने कभी ईश्वर से क्षमा-याचना नहीं की। रबिया न केवल उपदेशक ही थी परन्तु अपने सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत करना भी वह खूब जानती थी।

रबिया के मतानुसार प्रायश्चित्त भगवान् की ओर से प्राप्त भेंट है। उन्होंने इसे कितने सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया है—"यदि मैं स्वयं ही प्रायश्चित्त की खोज करूं तो मुझे फिर प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। ईश्वर से क्षमा मांगना भी क्षमा मांगने का कार्य है।" अल-कुशायरी ने एक बार जब यह पूछा कि "यदि मैं प्रायश्चित्त करूं तो क्या ईश्वर इसे स्वीकार करेगा ?" रबिया ने तुरन्त उत्तर दिया—"नहीं, किन्तु यदि ईश्वर तुम्हारी ओर झुकेगा तो तुम उसकी ओर अवश्य झुकोगे।"

अतः रबिया ईश्वर की सच्ची सन्तान है, जो सदा उन्हीं की कृपा पर हर विषय में निर्भर है।

(२) **धैर्य**—ईश्वर ने जो कुछ दिया है उसी पर सन्तोष और धैर्य रखना—दूसरे

महत्त्वपूर्ण अवस्था है। विख्यात सूफी बयाजिद-अल-बिस्तामी ने सन्त की परिभाषा करते हुए कहा है—"कि वह सदैव ईश्वर की इच्छा और आदेश में धैर्य रखता है। कलाबधि के अनुसार धैर्य का अर्थ कठिनाइयों का सामना कर ईश्वर से आश्वासन प्राप्त करना है। समुन्नत अवस्था में तो ईश्वरीय आश्वासन की स्वार्थजनक आशा भी अन्तर्धान हो जाती है। रबिया का जीवन धैर्य का उज्ज्वल उदाहरण है। बाल्यावस्था में उसे माता-पिता का विछोह, रोग, दासता और निर्धनता का सामना करना पड़ा। ईश्वर की बुद्धिमत्ता और दया में सन्देह करना मूर्खता और अविश्वास की चरम सीमा है। यदि मुझे किसी वस्तु की कामना है किन्तु ईश्वर को यह स्वीकार नहीं है तो निस्सन्देह ही मैं अनास्था की दोषिणी हूं।"

(३) **कृतज्ञता**—ईश्वर ने जो कुछ हमें दिया है उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना धैर्य रखने से भी बढ़ कर है। समृद्धि के लिए ही नहीं परन्तु दुःख के लिए भी परम पिता का कृतज्ञ होना चाहिए। रबिया ने अपने जीवन में सदैव इसका ध्यान रखा। वह प्रसन्नता और समृद्धि के साथ-साथ दुःखों और यातनाओं के लिए भी कृतज्ञ थी। यह भी एक ईश्वरीय भेंट है। मानव के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना निरा व्यर्थ है। हलाज ने कहा है—"हे ईश्वर! तुम्हारी समस्त कृपा के लिए मैं तुम्हारे प्रति पूर्ण रूप से कृतज्ञता प्रकट करने में असमर्थ हूं।"

रबिया के जीवन में चिरन्तन यही भावना मिलती है।

(४) **आशा और भय**—आशा और भय का सूफी धर्मानुयायियों के अनुसार जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'आशा' का अर्थ है ईश्वर के साथ संगम की आशा और 'भय' का अर्थ है भक्त का भगवान् से जुदा होने का भय। यह दोनों भावनाएं भक्ति का चिरन्तन स्रोत है जो व्यक्ति को लक्ष्य की ओर प्रवृत्त होने में निरन्तर प्रेरणा देते रहते हैं। ये पक्षी के दो पंखों की भांति है जो सदैव उसे ऊपर की ओर ले जाते हैं।

रबिया ने इन दोनों भावनाओं को नवीन रूप में मुखरित किया और निष्काम प्रेम की भावना का सूत्रपात किया। सच्चे सूफी के लिए स्वर्ग आनन्द का स्थान नहीं है और न वह आध्यात्मिक प्रसन्नता का स्थान है किन्तु वह एक ऐसा स्थान है जहां ईश्वर से मिलन होता है। इसी प्रकार नरक कोई भावना एवं दंड-क्षेत्र नहीं है किन्तु ईश्वर से विरह की अवस्था है। बयाजिद-अल-बिस्तामी ने ठीक ही कहा है—"प्रेमियों के लिए स्वर्ग का कोई मूल्य नहीं है।" रबिया की उक्ति भी प्रसिद्ध है—"पहले पड़ोसी, फिर घर।" अर्थात् पड़ोसी या ईश्वर, घर अथवा स्वर्ग से भी बढ़ कर है।

(५) सर्वोच्चिक निर्धनता सूफी मत का प्रमुख सिद्धान्त है इसका अर्थ है स्वार्थी भावनाओं से हृदय का परिष्कार कर उसे ईश्वर की ओर प्रवृत्त करना। रबिया उपदेशक ही नहीं थी परन्तु सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने में भी अग्रणी थी।

(६) साधुता—यह सूफी सम्प्रदाय का मुख्य तत्व है। इसका अर्थ है—भौतिक और निम्न जीव पर उच्चतर और आध्यात्मिक आत्मा का नियंत्रण। रबिया के मतानुसार आत्म-नियंत्रण का अर्थ है मस्तिष्क को केवल ईश्वर पर केन्द्रित करना। रबिया सन्त कहलाने से भी डरती थी क्योंकि इस तरह सम्भवतः उसे ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य विषय में सन्तोष होने लगता। वह सदैव अपने ज्ञान एवं शक्ति के प्रदर्शन से दूर रहती थी।

(७) ईश्वर पर पूर्ण निर्भरता उपरोक्त अवस्थाओं का परिणाम है। यह उत्सर्ग की पूर्ण अवस्था है। स्वयं का सम्पूर्ण परित्याग। प्रसिद्ध सूफी सन्त हलाज ने कितना सुन्दर कहा है—"हे भगवान्! हे मेरे स्वामी! तेरी इच्छा पूर्ण होगी। तू ही मेरा अभिप्राय है, तू ही निर्वचन है, तू ही मेरे जीवन एवं अस्तित्व का सार है, मेरी इच्छाओं, संभाषण, संकेत और भावनाओं का तू ही रूप है। तू मेरा सर्वस्व है, मेरी श्रवण शक्ति और मेरी दृष्टि भी तू ही है। तू ही मेरा समग्र और अर्थ है।" रबिया के सिद्धान्त भी वस्तुतः यही हैं।

(८) प्रेम अन्तिम अवस्था है। रबिया के अनुसार प्रेम समावेशपूर्ण और निष्काम होना चाहिए। साधु को केवल ईश्वर की आराधना और भक्ति करनी चाहिए। ईश्वर ही एकमात्र प्रेमी हो वहां किसी प्रतिद्वन्द्वी की गुंजायश नहीं है। प्रेम की इस महती भावना का स्वरूप रबिया से सम्बद्ध एक घटना में व्यक्त किया गया है—किसी ने उससे पूछा—"तुम्हें ईश्वर से प्रेम है?" रबिया ने बेधड़क उत्तर दिया—'हां।' दूसरा प्रश्न था—'क्या तुम्हें शैतान से घृणा है?' रबिया ने उसी निधड़कता से उत्तर दिया—'ईश्वर के प्रति मेरा प्रेम इतना व्यापक है कि उसमें शैतान से घृणा करने की कोई गुंजाइश ही नहीं बची है।"

रबिया की रचनाएं

मुसलमान सन्त और विद्वान् रबिया का बहुत अधिक सम्मान करते थे। उत्तरवर्ती विभिन्न पुस्तकों और जीवनियों तथा अन्य धार्मिक रचनाओं में रबिया की अनेक कहावतों के उद्धरण मिलते हैं। लगभग सभी प्रसिद्ध सूफी लेखकों ने उसकी शिक्षाओं और कहावतों का उल्लेख किया है। सराज के अबूनसर-अल, अबू तालिब, कलाबधी, अबू अल-कुशायरी, अल गज़ली, अल-सुहरावर्दी और हजरी ने रबिया के

उपदेशो की चर्चा की है। यद्यपि रबिया के किसी पृथक् ग्रन्थ के बारे में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है किन्तु उसके जो वाक्य एवं कहावतें प्रचलित हैं, उनसे उसकी सरल और यथार्थ शैली की पर्याप्त जानकारी मिल जाती है।

अबू तालिब ने रबिया के मत में प्रेम के दो विभिन्न प्रकारों का वर्णन उसकी निम्न प्रसिद्ध पंक्तियां में किया है:—

मैंने तुझे दो ढंग से प्यार किया,
स्वार्थमय प्रेम और वह प्रेम जो उपयुक्त है
स्वार्थमय प्रेम के प्रांगण मे, मै तुझमें
समाविष्ट हूं और अन्य कोई न रहे वहा
उपयुक्त प्रेम के क्षेत्र में—अन्तर में
एक घूघट है कि मैं तुझे देख पाऊं
फिर भी मेरी इसमें प्रशंसा नही है
प्रशंसा तेरी है, हर रूप में।

गद्य की दृष्टि से उनकी निम्न प्रार्थना कितनी लालित्य-पूर्ण है। उनके प्रसिद्ध जीवनी-लेखक अत्तार ने इसका वर्णन किया है—"हे प्रभु, यदि मैं नरक के भय से तेरी आराधना करूं तो मुझे वहां से बाहर कर दे, किन्तु यदि मै तेरी निष्काम आराधक हूं तो अपनी शाश्वत सुन्दरता से मुझे दूर न रख।"

रबिया के सम्पूर्ण गद्य और पद्य में वही पुनीत कीर्ति प्रस्फुटित है, भावनाओं की गहराई और स्फूर्ति उसमें सर्वत्र व्याप्त है। उनकी वाणी में प्रियतम का स्वर सुनाई देता है। यही कारण है कि उसकी कहावतें सीधे हृदय को छूकर उसे झंकृत कर देती हैं।

रबिया का महत्त्व और उनकी प्रशंसा

तत्कालीन और उत्तरवर्ती विचारधारा पर रबिया का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। विकास-युग की प्रमुख प्रवृत्तियों से प्रभावित रबिया का सिद्धान्त मुख्यतः व्यावहारिक था। निष्ठा-पूर्ण भावना और शान्ति प्रियता के साथ ही उसमें भाव-तन्मयता और निष्ठा का अद्भुत सामंजस्य था। उनके विचारों ने सूफीमत को एक नए विकास की ओर मोड़ दिया। उनकी कहावतों में, भक्ति में लीन मस्तिष्क और हृदय के दर्शन होते हैं। सत्य में निष्ठा रहते हुए भी उन्होंने आन्तरिक विश्वास को बाह्य प्रमाण में यदा-कदा व्यक्त किया है। विचार और भावना, सिद्धान्त और यथार्थ का यह सम्मिश्रण सूफी विचारधारा की एक विशेषता हो गई है।

तत्कालीन पीढ़ी और भावी विचारकों को रबिया की जो मूल्यवान देन है वह है इस सन्त नारी का व्यक्तित्व—उसका निष्कलंक जीवन, माधुर्य से पूर्ण उसकी सरलता, पुनीत भावना, निःस्वार्थता और गहरी भक्ति। अपने उपदेशों की वह स्वयं उज्ज्वल उदाहरण थीं।

मूर्धन्य विद्वान् फरीदुद्दीन अत्तार ने इस परम सन्त और विचारक के लिए सर्वथा उपयुक्त कहा है—"पवित्रता में अनुपमेय, इस नारी सन्त का जीवन धार्मिक निष्ठा से ओत-प्रोत है। वह प्रेम और आकांक्षा की अग्नि से प्रज्वलित है, प्रभु से समन्वय और उसकी महिमा में आत्मसात् होने के लिए अधीर है। वह एक ऐसी सन्त नारी है जो दैवी आत्मा में विलीन हो गई, लोग उसे द्वितीय पवित्र मेरी मानते हैं, रबिया-अल-अदाविया, ईश्वर उसे अपनी अनन्त कृपा से आबद्ध करे।"